# ऋग्वेदीय सुबन्तपदों का
# व्युत्पत्ति-चिन्तन

प्रणेता एवं सम्पादक
डॉ० बनारसी त्रिपाठी

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

विश्वविद्यालय-स्वर्णजयन्ती-ग्रन्थमाला

[ पञ्चदश पुष्प ]

# ऋग्वेदीय सुबन्तपदों का व्युत्पत्ति-चिन्तन

लेखक एवं प्रकाशक
डॉ० भगवती त्रिपाठी
अध्यक्ष, भाषाविज्ञानविभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

[illegible]

UNIVERSITY-SILVERJUBILEE-GRANTHAMĀLĀ

[ Vol. 11 ]

# ṚGVEDĪYA SUBANTA PADOṀ KĀ VYUTPATTI-CINTANA

BY

DR. BANĀRASĪ TRIPĀṬHĪ

Reader in Sanskrit Department

University of Gorakhapur

Gorakhapur

उपहार स्वरुप निःशुल्क

VARANASI

1990

**Research Publication Supervisor—**
**Director, Research Institute,**
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

□

**Published by—**
**Dr. Harish Chandra Mani Tripathi**
Publication Officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi–221 002.

□

Available at—
**Sales Department,**
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi–221 002.

□

First Edition, 1000 Copies
Price Rs. 130·00

□

**Printed by—**
**MADHO PRINTERS**
K. 18/46, Narayan Dixit Lane,
Varanasi.

विश्वविद्यालय-रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला
[ एकादश पुष्प ]

# ऋग्वेदीय सुबन्तपदों का व्युत्पत्ति-चिन्तन

प्रणेता एवं सम्पादक
**डॉ० बनारसी त्रिपाठी**
उपाचार्य, संस्कृत-विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

वाराणसी

२०४७ वैक्रमाब्द　　१९१२ शकाब्द　　१९९० ख्रीस्ताब्द

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक —
**निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान**
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी ।

□

प्रकाशक —
**डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी**
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१ ००२.

□

प्राप्ति-स्थान—
**विक्रय-विभाग,**
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१ ००२.

□

प्रथम संस्करण, १००० प्रतियाँ
मूल्य — १३०=०० रूपये

□

मुद्रक—
**माधो प्रिन्टर्स**
के० १८/४६, नारायणदीक्षित-लेन,
वाराणसी ।

# प्ररोचना

आयुष्यमान् डॉ० बनारसी त्रिपाठी की पुस्तक **"ऋग्वेदीय सुबन्तपदों का व्युत्पत्ति-चिन्तन"** आधुनिक और प्राचीन व्युत्पत्ति-शास्त्र की दृष्टि से वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण अवदान है। ऋग्वेद में स्वयं स्थल-स्थल पर व्युत्पत्ति के सङ्केत हैं, ब्राह्मणों में और भी सङ्केत हैं। इनमें से कुछ व्युत्पत्तियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने वालों की दृष्टि में कुछ अटपटी और कल्पनामूलक लगती हैं; पर इन व्युत्पत्तियों की गहराई में जाँय, तो पता चलता है कि प्राचीन ऋषि एक-एक शब्द की तरह-तरह की गूँजों पर मनन करते थे और शब्द को इसीलिए कामधेनु के रूप में देखते थे। शब्द की अब्याहत शक्ति का अनुसन्धान इसी दृष्टि से उन्होंने किया और एक सुश्लिष्ट, सुतष्ट वाक्परम्परा का प्रवर्तन किया।

मुझे प्रसन्नता है कि आयुष्यमान् **डॉ० बनारसी त्रिपाठी** ने इसे ध्यान में रखते हुए सुबन्तपदों की व्युत्पत्तियों पर प्रकाश डाला है। यास्क की यह धारणा कि सब रूप धातुमूलक हैं, इस माने में सही है कि भारतीय शास्त्रवेत्ता क्रियास्पन्द की विमर्श में ही सृष्टि का उद्भव देखता है। धातु सृष्टि के प्रथम चरण का प्रतीक है।

मुझे विश्वास है कि यह व्युत्पत्तिपरक अध्ययन अनुसन्धित्सुवों के लिए बड़ा उपयोगी और विद्वानों के लिए प्रीतिवर्द्धक होगा।

**वाराणसी,**
वसन्त-पञ्चमी,
वि० सं० २०४७
( २१-१-१९९१ )

**विद्यानिवास मिश्र**
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

# प्राक्कथन

भारतीय परम्परा में वाक् की प्रधानता रही है और उसकी विभुता प्रारम्भ से ही मानी जाती रही है। वह एक ओर जहाँ संवाद की जननी है, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति को तराशने और सुघड़ बनाने का काम भी करती है। मनीषी ब्राह्मणों के लिये वह मात्र साधन ही नहीं, साध्य भी रही है। उन्होंने न केवल वाक् के रहस्य को उन्मीलित किया, वरन् उसे परिष्कृत और परिशुद्ध भी किया। वाक् अथवा भाषा के चिन्तन और विश्लेषण की परम्परा ऋग्वेद के सूक्तों से प्रत्यक्षतः प्रारम्भ हो जाती है तथा ब्राह्मणग्रन्थों और यास्क के 'निरुक्त' में यह एक जागरूक चिन्तन-विधा के रूप में परिलक्षित होती है। आगे चलकर वैयाकरणों, विशेषतः पाणिनि और उनकी परम्परा ने, इसे प्रतिष्ठा के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया, जिससे भारतीय चिन्तन के अन्य क्षेत्रों में भी इसकी ग्राह्यता बढ़ गयी और जिससे चिन्तन को एक नया सन्दर्भ और नया आयाम मिला। इसीलिये भाषा-चिन्तन को मुख, एतावता मुख्य कहा जाने लगा।

भाषा-चिन्तन और विश्लेषण का एक अन्यतम अङ्ग है—व्युत्पत्ति-चिन्तन। वेदभाष्यकारों में सायण ने व्युत्पत्ति-चिन्तन पर विशेष बल दिया है तथा व्याकरण के सूक्ष्म विभेदों के प्रति सतर्कता बरती है; परन्तु कहीं-कहीं इनमें विचलन है, जिससे कुछ व्युत्पत्तियाँ काल्पनिक भी हो गयी हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में व्युत्पत्ति-चिन्तन के लिये ऋग्वेद के उन सुबन्त पदों का सङ्कलन किया गया है, जिनकी व्युत्पत्ति सायण ने दी है। कुछ अतिप्रत्यक्षवृत्ति शब्दों को सङ्ग्रह में स्थान नहीं दिया गया है। विवेचना में पाठक को कहीं व्याकरण-सम्बन्धी अनावश्यक स्फीति दिखायी पड़ती हो, तो वह शोध की बाध्यता समझी जाय।

इस ग्रन्थ का प्रथम अध्याय भारतीय व्युत्पत्ति-चिन्तन की परम्परा में सायण के अवदान को रेखांकित करता है। द्वितीय अध्याय से सप्तम अध्याय तक वर्णानुक्रम से ऋग्वेदीय सुबन्त पदों/शब्दों का उपस्थापन कर सायण द्वारा दी गयी व्युत्पत्तियों, अन्य वेदभाष्यकारों—स्कन्द, उद्गीथ, वेङ्कटमाधव आदि के मतों, ऋग्वेद के सूक्तों

में सङ्केतित व्युत्पत्तियों, ब्राह्मणों में उपलब्ध निर्वचनों, निघण्टुभाष्य में देवराज यज्वा द्वारा दी गयी व्युत्पत्तियों, यत्र-तत्र वैदिक-ग्रन्थों के व्याख्यान में उपलब्ध व्युत्पत्तियों तथा वैयाकरणों की अभीष्ट व्युत्पत्तियों का संयोजन एवं आकलन किया गया है। इस क्रम में गेल्डनर, ग्रासमान आदि पाश्चात्त्य मनीषियों के अभिमत का भी उल्लेख किया गया है। व्युत्पत्ति-विवेचना के अन्त में यथास्थान दूसरी भाषाओं में उपलब्ध सजातीय शब्दों को प्रस्तुत किया गया है। इनके सङ्कलन में मुख्यतः डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा की पुस्तक **"एटिमालाजीज़ ऑफ़ यास्क"** तथा बुख़ के प्रसिद्ध कोष **"ए डिक्शनरी ऑफ़ सलेक्टेड सिनानिमस् इन दि प्रिन्सिपल इण्डो-यूरोपियन लैंग्वेजेज़"** से सहायता मिली है।

ग्रन्थ को उपयोगी बनाने के लिये पाँच परिशिष्ट दिये गये हैं। प्रथम परिशिष्ट में विशिष्ट शब्दों की अनुक्रमणिका, द्वितीय परिशिष्ट में जिनके सजातीय शब्द दिये गये हैं, उन शब्दों की सूची, तृतीय परिशिष्ट में ग्रन्थ में उद्धृत आचार्यों की सूची, चतुर्थ परिशिष्ट में सन्दर्भ-ग्रन्थसूची तथा अन्त में शुद्धिपत्र दिया गया है। कुछ और उपयोगी परिशिष्ट परिस्थितिवश नहीं दिये जा सके, जिनमें एक पारिभाषिक शब्दों पर टिप्पणियाँ प्रस्तुत करना तथा दूसरा विदेशीभाषा के सजातीय शब्दों की भाषानुसार सूची देना भी था। इन्हें आगामी संस्करण में ही जोड़ना सम्भव हो पाएगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर की पी-एच्० डी० उपाधि के लिये प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध "ऋग्वेदीय सायणभाष्य के सन्दर्भ में वैदिक सुबन्त-व्युत्पत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन" का अत्यल्प परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप है। १९७५ में एम० ए० करने के उपरान्त स्वनामधन्य **पं० विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी** ने इस विषय पर शोध करने का आदेश दिया, जिसे विना किसी ननु, न च के मैंने स्वीकार कर लिया। श्रद्धेय गुरुवर **डॉ० अतुलचन्द्र वन्द्योपाध्याय**, भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, गोरखपुर-विश्वविद्यालय, गोरखपुर ने श्रद्धेय त्रिपाठी जी के निर्देशन में काम करने का आदेश दिया। एतदर्थ मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। शोधकार्य चल ही रहा था कि मैं उसी बीच जुलाई १९७७ में धर्मसमाज कॉलेज, अलीगढ़ में सेवारत हो गया। अध्यापन के गुरुतर कार्य को देखते हुए इसकी सम्पन्नता दूर लगने लगी; पर जैसे-तैसे १९७९ में अलीगढ़ की विषम परिस्थिति--कर्फ्यू के भीतर—

इसे अन्तिम रूप दे दिया गया। यह कार्य जिन सहज स्नेही गुरुजनों की कृपा एवं प्रेरणा से पूरा हुआ, उनमें उल्लेखनीय हैं—**पं० कालिका प्रसाद शुक्ल**, भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, व्याकरण विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, **डॉ० विद्यानिवास मिश्र**, भूतपूर्व निदेशक, क० मुं० हिन्दी-विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा, स्व० **डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी**, भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में **प्रो० वि० वेङ्कटाचलम्**, भूतपूर्व कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, ने विशेष रुचि ली, जिसके लिए मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ। आचार्य **श्रीविद्यानिवास मिश्र**, कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के आशीर्वचन से इस अध्ययन की गरिमा बढ़ी है, एतदर्थ मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सुयोग्य एवं कर्मठ प्रकाशनाधिकारी **डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** के सौहार्द एवं कार्यकुशलता की जितनी भी चर्चा की जाय, कम है। इन्होंने बड़ी तत्परता से इसके प्रकाशन की व्यवस्था की, एतदर्थ मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

पुण्यश्लोक गुरुदेव **डॉ० विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी**, भू० पू० आचार्य, संस्कृत विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर का सहज स्नेह मेरे ऊपर विद्यार्थी जीवन से ही था। दैवदुर्विपाक से आज वे नहीं रहे; परन्तु उनके प्रेरक वाक्य और आशीर्वचन भविष्य में सदा सम्बल रहेंगे। दिसम्बर १९८९ में प्रयाग जाने के पूर्व उन्होंने कहा था—"लौटकर इसकी भूमिका मैं लिखूँगा"। ईश्वर को यह स्वीकार्य नहीं था और सदा-सदा के लिये उनका आश्रय समाप्त हो गया। इस ग्रन्थ को छपा हुआ देखकर वे बड़े प्रसन्न होते। मैं उनके प्रति विनयावनत हूँ।

भाई **डॉ० गिरिजेश कुमार दीक्षित**, प्राध्यापक, व्याकरण विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, के सहयोग के विना इस कार्य का पूरा होना कठिन था। इन्होंने न केवल सारा प्रूफ देखा, बल्कि मुद्रण-सम्बन्धी अपेक्षित सुझाव देकर इसे उपयोगी बनाने का कार्य भी किया। मैं मात्र कृतज्ञता ज्ञापित कर इनसे उऋण होना नहीं चाहता।

सरस्वतीभवन ग्रन्थालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सुयोग्य कर्मचारियों का हृदय से आभार मानता हूँ, जिन्होंने समय-समय पर दुर्लभ एवं महत्त्वपूर्ण पुस्तकें उपलब्ध कराकर मेरी सहायता की।

प्रेस के व्यवस्थापक **श्रीराहुल विसारिया** का भी आभारी हूँ, जिन्होंने तकनीकी दृष्टि से दुरूह एवं जटिल कार्य को उत्साह से सम्पन्न किया। कहीं कुछ अक्षरों और चिह्नों में त्रुटि रह गयी है, जिसे सुविज्ञ पाठक सुधार लेंगे और कृपापूर्वक मुझे सूचित करेंगे, जिससे अगले संस्करण में उसका परिमार्जन कर सकूँ।

आशा है, वेदविद्या के अध्येताओं को इससे किञ्चित् सहायता मिलेगी।

**गोरखपुर,**
कार्तिक पूर्णिमा
वि० सं० २०४७

विद्वज्जन विधेय
**बनारसी त्रिपाठी**

## सङ्केत-विवरण—१

### ( ग्रन्थ, टीका इत्यादि )

| | | |
|---|---|---|
| अ० सं० | = | अथर्ववेदसंहिता |
| अम० को० | = | अमरकोष |
| अहि० | = | अहिर्बुध्न्यसंहिता |
| आदि० | = | आदिपर्व |
| आप० श्रौ० सू० | = | आपस्तम्बश्रौतसूत्र |
| इ० ई० ज० | = | इण्डो ईरानियन जर्नल |
| ईशा० उप० मं० | = | ईशावास्योपनिषद्, मन्त्र |
| उ० को० | = | उणादिकोष |
| उ० म० दी० | = | उणादिमणिदीपिका |
| उ० वृ० | = | उणादिवृत्ति |
| उ० वृ० ना० | = | उणादिवृत्ति नारायण |
| उ० वृ० श्वे० | = | उणादिवृत्ति श्वेतवनवासी |
| उ० सू० | = | उणादिसूत्र |
| उज्ज्व० | = | उज्ज्वलदत्त |
| उज्ज्व० उ० सू० | = | उज्ज्वलदत्त उणादिसूत्रवृत्ति |
| उद्० ऋ० | = | उद्गीथभाष्य ऋग्वेदसंहिता |
| ऋ० | = | ऋग्वेद |
| ऋ० ग्ला० | = | ऋग्वेदग्लासर |
| ऋ० प्रा० | = | ऋग्वेदप्रातिशाख्य |
| ऋ० मं० | = | ऋग्वेदमण्डल |
| ऋ० सं० | = | ऋग्वेदसंहिता |
| ऋ० सा० | = | ऋगर्थसार |
| ऋ० सू० वै० | = | ऋग्वेदसूक्तवैजयन्ती |
| ए० आई० ओ० सी० | = | आल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फ्रेंस |
| ए सी० एस० आर० | = | ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ़ ऋग्वेद |
| एटि० यास्क | = | एटिमालजीज़् ऑफ़ यास्क |
| एस० पी० | = | समरी ऑफ़ पेपर |

| | | |
|---|---|---|
| ऐ॰ आ॰ | = | ऐतरेय-आरण्यक |
| ऐ॰ ब्रा॰ | = | ऐतरेय-ब्राह्मण |
| औ॰ | = | औणादिक |
| औ॰ प॰ ( पदा॰ ) | = | औणादिकपदार्णव |
| का॰ | = | काशिकावृत्ति |
| का॰ उप॰ शां॰ भा॰ | = | काठकोपनिषत्, शाङ्करभाष्य |
| का॰ सं॰ | = | काठकसंहिता |
| को॰ | = | कोष |
| कौ॰ ब्रा॰ | = | कौषीतकिब्राह्मण |
| क्षीर॰ | = | क्षीरतरङ्गिणी |
| क्षीर॰ अदा॰ | = | क्षीरतरङ्गिणी अदादि |
| क्षीर॰ तु॰ | = | क्षीरतरङ्गिणी तुदादि |
| क्षीर॰ दिवा॰ | = | क्षीरतरङ्गिणी दिवादि |
| क्षीर॰ भ्वा॰ | = | क्षीरतरङ्गिणी भ्वादि |
| क्षीर॰ स्वा॰ | = | क्षीरतरङ्गिणी स्वादि |
| ग॰ | = | गणपाठ |
| ग॰ सू॰ पा॰ | = | गणसूत्र-पाणिनि |
| गु॰ प॰ | = | गुरुकुलपत्रिका |
| गो॰ ब्रा॰ | = | गोपथब्राह्मण |
| गो॰ ब्रा॰ पू॰ | = | गोपथब्राह्मण पूर्वभाग |
| छा॰ उप॰ | = | छान्दोग्योपनिषत् |
| छा॰ उप॰ शा॰ भा॰ | = | छान्दोग्योपनिषत्, शाङ्करभाष्य |
| जे॰ ओ॰ आई॰ बो॰ | = | जर्नल ऑफ़ दि ओरिएण्टल इंस्टीटयूट, बड़ौदा |
| जे॰ आर॰ ए॰ एस॰ | = | जर्नल ऑफ़ रायल एशियाटिक सोसाइटी |
| जै॰ उप॰ ब्रा॰ | = | जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मण |
| जै॰ ब्रा॰ | = | जैमिनीयब्राह्मण |
| डी॰ एस्॰ एस्॰ | = | ए डिक्शनरी ऑफ़ सलेक्टेड सिनानिम्स इन दि प्रिंसिपल इण्डो-यूरोपियन् लैंग्वेजेज् |
| त॰ बो॰ | = | तत्त्वबोधिनी |

| | | |
|---|---|---|
| त० बो० पा० | = | तत्त्वबोधिनी, पाणिनिसूत्र |
| ता० ब्रा० | = | ताण्ड्यब्राह्मण |
| ता० म० ब्रा० | = | ताण्ड्यमहाब्राह्मण |
| तु० | = | तुलनीय |
| तु० को० | = | तुलनात्मककोश ( ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑफ दि इण्डो आर्यन् ) |
| तै० आ० | = | तैत्तिरीय-आरण्यक |
| तै० उप० | = | तैत्तिरीयोपनिषत् |
| तै० ब्रा० | = | तैत्तिरीयब्राह्मण |
| तै० सं० | = | तैत्तिरीयसंहिता |
| द० ना० वृ० | = | दण्डनाथनारायणवृत्ति |
| दश० | = | दशपादी |
| दश० उ० | = | दशपादी उणादि |
| दश० उ० वृ | = | दशपादी उणादिवृत्ति |
| दुर्ग० निरु० | = | दुर्गवृत्ति, निरुक्त |
| देव० नि० | = | देवराजयज्वा, निरुक्त |
| देव० ब्रा० | = | देवताध्यायब्राह्मण |
| देवराज० | = | देवराजयज्वा |
| द्र० | = | द्रष्टव्य |
| धा० | = | (काशकृत्स्न-) धातुव्याख्यानम् |
| धा० प्र० | = | धातुप्रदीप |
| धा० प्र० भ्वा० | = | धातुप्रदीप भ्वादि |
| नारा० | = | नारायण |
| नि० | = | निघण्टु |
| निरु० | = | निरुक्त |
| निरु० समु० | = | निरुक्तसमुच्चय |
| निरु० समु० म० | = | निरुक्तसमुच्चयमन्त्र |
| नी० म० | = | नीतिमञ्जरी |
| प० पा० | = | पञ्चपादी |
| परि० | = | परिभाषा |
| पा० | = | पाणिनि ( सूत्र ) |

| | | |
|---|---|---|
| पा० टि० | = | पादटिप्पणी |
| पा० धा० स० | = | पाणिनोयधातुपाठसमीक्षा |
| पा० म० | = | पातञ्जलमहाभाष्य |
| पा० म० सू० | = | पातञ्जलमहाभाष्य, (पाणिनि) सूत्र |
| पृ० | = | पृष्ठ |
| प्रौ० म० | = | प्रौढमनोरमा |
| प्रौ० म० उ० सू० | = | प्रौढमनोरमा, उणादिसूत्र |
| फि० सू० | = | फिट्सूत्र |
| बा० म० | = | बालमनोरमा |
| बा० म० सि० कौ० | = | बालमनोरमा, सिद्धान्तकौमुदी |
| बी० पी० एस्० सी० | = | बुलेटिन ऑफ दि फिलालॉजिकल सोसाइटी, कलकत्ता |
| बृ० दे० | = | बृहद्देवता |
| बृ० श० शे० | = | बृहच्छब्देन्दुशेखर |
| बृहदा० उप० | = | बृहदारण्यकोपनिषत् |
| ब्र० सू० भा० | = | ब्रह्मसूत्रभाष्य |
| भा० १ | = | भाग १ |
| भा० वा० पा० | = | भाष्यवार्तिक, पाणिनिसूत्र |
| मही० शु० य० सं० | = | महीधरभाष्य, शुक्लयजुर्वेदसंहिता |
| म० भा० अश्व० प० | = | महाभारत, अश्वमेधपर्व |
| मा० उप० | = | माण्डूक्योपनिषत् |
| मा० धा० | = | माधवीया धातुवृत्ति |
| मा० धा० अदा० | = | माधवीया धातुवृत्ति, अदादि |
| मा० धा० जु० | = | माधर्व या धातुवृत्ति, जुहोत्यादि |
| मा० धा० तु० | = | माधवीया धातुवृत्ति, तुदादि |
| मा० धा० दिवा० | = | माधवीया धातुवृत्ति, दिवादि |
| मा० धा० भ्वा० | = | माधवीया धातुवृत्ति, भ्वादि |
| मा० धा० स्वा० | = | माधवीया धातुवृत्ति, स्वादि |
| मै० सं० | = | मैत्रायणी-संहिता |
| वा० | = | वार्तिक |
| वा० पा० | = | वार्तिक, पाणिनि ( सूत्र ) |

| | | |
|---|---|---|
| वा० पु० | = | वायुपुराण |
| वा० सं० | = | वाजसनेयिसंहिता |
| वि० इ० ज० | = | विश्वेश्वरानन्द इण्डोलॉजिकल जर्नल |
| वें० ऋ० | = | वेङ्कटमाधवभाष्य, ऋग्वेद |
| वे० ऋ० म० | = | वेलणकर ऋग्वेदमण्डल ( ७ ) |
| वे० भा० ऋ० | = | वेङ्कटमाधवभाष्य, ऋग्वेद |
| वे० भा० सा० | = | वेदभाष्यसार |
| वो० बू० | = | वोर्टरबूख़ |
| वै० वा० भा० चि० | = | वैदिक वाङ्मय में भाषाचिन्तन |
| श० ब्रा० | = | शतपथब्राह्मण |
| शां० भा० | = | शाङ्करभाष्य |
| शां० भा० काठ० उप० | = | शाङ्करभाष्य, काठकोपनिषद् |
| शां० भा० मा० उप० | = | शाङ्करभाष्य, माण्डूक्योपनिषद् |
| शा० ब्रा० | = | शाङ्खायनब्राह्मण |
| शु० य० सं० | = | शुक्लयजुर्वेदसंहिता |
| श्वे० | = | श्वेतवनवासी |
| श्वे० उ० वृ० | = | श्वेतवनवासी, उणादिवृत्ति |
| श्वे० उ० सू० | = | श्वेतवनवासी, उणादिसूत्र |
| श्वे० उप० | = | श्वेताश्वतरोपनिषद् |
| श्वे० उप० मं० | = | श्वेताश्वतरोपनिषद्, मन्त्र |
| श्वे० उप० शां० भा० | = | श्वेताश्वतरोपनिषद्, शाङ्करभास्य |
| ष० ब्रा० | = | षड्विंशब्राह्मण |
| सरस्व० | = | सरस्वतीकण्ठाभरण |
| सा० अ० | = | सायणभाष्य, अथर्ववेदसंहिता |
| सा० ऋ० | = | सायणभाष्य, ऋग्वेद |
| सा० ऋ० सं० | = | सायणभाष्य, ऋग्वेदसंहिता |
| सा० वे० | = | सामवेद |
| सा० सं० | = | सामवेदसंहिता |
| सा० सा० | = | सायणभाष्य, सामवेद |
| सा० सा० पू० | = | सायणभाष्य, सामवेद-पूर्वार्चिक |
| सा० सा० उत्त० | = | सायणभाष्य, सामवेद-उत्तरार्चिक |
| सि० कौ० | = | सिद्धान्तकौमुदी |

| | | |
|---|---|---|
| सि० कौ० पा० | = | सिद्धान्तकौमुदी, पाणिनिसूत्र |
| सी० एस्० आर० | = | ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ़ ऋग्वेद |
| सु० कु० च० | = | सुनीतिकुमारचटर्जी |
| स्क० ऋ० | = | स्कन्दभाष्य, ऋग्वेद |
| स्क० निरु० | = | स्कन्द-महेश्वरभाष्य, निरुक्त |
| स्क० भा० | = | स्कन्दभाष्य |

## सङ्केत-विवरण—२

| | | |
|---|---|---|
| क्रि० वि० | = | क्रियाविशेषण |
| क्रै० | = | क्रैयादिक |
| च० ए० | = | चतुर्थी एकवचन |
| तृ० ए० | = | तृतीया एकवचन |
| तृ० ब० | = | तृतीया बहुवचन |
| द्वि० ए० | = | द्वितीया एकवचन |
| द्वि० ब० | = | द्वितीया बहुवचन |
| पं० ए० | = | पञ्चमी एकवचन |
| प्र० ए० | = | प्रथमा एकवचन |
| प्र० द्वि० | = | प्रथमा द्विवचन |
| प्र० ब० | = | प्रथमा बहुवचन |
| ब० व्री० | = | बहुव्रीहि ( समास ) |
| बहु० | = | बहुवचन |
| म० पु० ए० व० | = | मध्यमपुरुष एकवचन |
| ष० ए० | = | षष्ठी एकवचन |
| ष० ब० | = | षष्ठी बहुवचन |
| स० ए० | = | सप्तमी एकवचन |
| स० द्वि० | = | सप्तमी द्विवचन |
| स० ब० | = | सप्तमी बहुवचन |
| सं० ए० | = | सम्बोधन एकवचन |
| सम्बो० | = | सम्बोधन |
| सी० एस० आर० | = | ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ़ ऋग्वेद |

| | | |
|---|---|---|
| स्त्री० | = | स्त्रीलिङ्ग |
| स्त्री प्र० | = | स्त्रीप्रत्यय |

## सङ्केत-विवरण—३

| | | |
|---|---|---|
| अं० | = | अंग्रेजी |
| अवे० | = | अवेस्ता |
| प्रा० फा० | = | प्राचीन फारसी |
| प्रा० पा० | = | प्राचीन पारसी |
| Ang. Sax | = | Anglo Saxon |
| Arm | = | Armenian |
| Av. | = | Avestan |
| Ch sl | = | Church slavic |
| Dial | = | Dialect |
| Eng. | = | English |
| Fr. | = | French |
| G | = | German |
| Goth | = | Gothic |
| GR | = | Greek |
| IE | = | Indo European |
| It | = | Italian |
| Lat | = | Latin |
| Lett | = | Lettic |
| Lith | = | Lithunian |
| MGH | = | Middle High German |
| MPers | = | Middle Persian |
| N Irish | = | New Irish |
| N Gr | = | New Greek |
| N Pers | = | New Persian |

| | | |
|---|---|---|
| Nor | = | Norwegian |
| O Bulg | = | Old Bulgarian |
| O Eng | = | Old English |
| OHG | = | Old High German |
| OPers | = | Old Persian |
| Pers | = | Persian |
| Prov | = | Provencal |
| Sl | = | Slovenian |
| Sp | = | Spanish |
| Swed | = | Swedish |
| MG | = | Middle German |
| Russ | = | Russian |
| Hib | = | Hibru |

—:o:—

# विषयानुक्रमणी

| विषय | | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|---|
| प्राक्कथन | ... | १–४ |
| सङ्केत-सूची | ... | ५–१२ |
| **प्रथम अध्याय—** | .... | १–६ |
| भारतीय व्युत्पत्तिचिन्तन और सायण | ... | १ |
| निर्वचन और व्युत्पत्ति | .... | २ |
| ऋग्वेदीय व्युत्पत्ति-चिन्तन | .... | २ |
| ब्राह्मणों में व्युत्पत्ति-चिन्तन | ..... | ३ |
| व्याख्या की तीन पद्धतियाँ | .... | ४ |
| शाकल्य की पदपाठ-पद्धति | .... | ४ |
| यास्क की निरुक्त-पद्धति | .... | ५ |
| पाणिनि की विश्लेषणात्मक-पद्धति | ..... | ६ |
| सायण का व्युत्पत्ति-चिन्तन | ... | ७–९ |
| **द्वितीय अध्याय—** | .... | ११–१२० |
| ऋग्वेदीय सुबन्त पदों का व्युत्पत्ति-चिन्तन | .... | ११ |
| अकारादि शब्द | ..... | १३–७३ |
| आकारादि शब्द | ..... | ७३–८८ |
| इकारादि शब्द | .... | ८८–९३ |
| ईकारादि शब्द | ..... | ९३–९५ |
| उकारादि शब्द | ... | ९५–१०५ |
| ऊकारादि शब्द | ..... | १०५–१०७ |
| ऋकारादि शब्द | .... | १०७–११६ |
| एकारादि शब्द | .... | ११६–११८ |
| ओकारादि शब्द | .... | ११८–१२० |
| औकारादि शब्द | ..... | १२० |

| | | |
|---|---|---|
| **तृतीय अध्याय—** | ... | १२१-१५४ |
| ककारादि शब्द | ... | १२३-१४० |
| खकारादि शब्द | .... | १४०-१४१ |
| गकारादि शब्द | ..... | १४१-१५१ |
| घकारादि शब्द | .... | १५१-१५४ |
| **चतुर्थ अध्याय—** | ..... | १५५-१७७ |
| चकारादि शब्द | .... | १५७-१६३ |
| छकारादि शब्द | .... | १६३-१६४ |
| जकारादि शब्द | ..... | १६४-१७७ |
| **पञ्चम अध्याय—** | ..... | १७९-२२३ |
| तकारादि शब्द | ..... | १८१-१९२ |
| दकारादि शब्द | ..... | १९२-२०९ |
| धकारादि शब्द | ..... | २०९-२१३ |
| नकारादि शब्द | ..... | २१४-२२३ |
| **षष्ठ अध्याय—** | ..... | २२५-२६० |
| पकारादि शब्द | ... | २२७-२४३ |
| फकारादि शब्द | ..... | २४३-२४४ |
| बकारादि शब्द | ..... | २४४-२४६ |
| भकारादि शब्द | ... | २४६-२५० |
| मकारादि शब्द | ..... | २५१-२६० |
| **सप्तम अध्याय—** | ..... | २६१-३२७ |
| यकारादि शब्द | .... | २६३-२६७ |
| रकारादि शब्द | .... | २६७-२७४ |
| लकारादि शब्द | .... | २७४ |
| वकारादि शब्द | ..... | २७४-२९४ |
| शकारादि शब्द | .... | २९४-३०२ |
| षकारादि शब्द | .... | ३०२-३०३ |

सकारादि शब्द ... ३०३–३२०
हकारादि शब्द .... ३२०–३२७
**परिशिष्ट—१**
विशिष्टशब्दानुक्रमणिका ..... ३२९–३७०
**परिशिष्ट—२**
सजातीय-शब्दानुक्रमणिका ..... ३७१–३७५
**परिशिष्ट—३**
उद्धृत आचार्यानुक्रमणी ... ३७६–३८१
**परिशिष्ट—४**
सन्दर्भ-ग्रन्थसूची ..... ३८२–३८८
**परिशिष्ट—५**
शुद्धिपत्र ..... ३८९–३९४

—: ❀ :—

प्रथम अध्याय

# भारतीय व्युत्पत्ति-चिन्तन और सायण

— ० —

# भारतीय व्युत्पत्ति-चिन्तन और सायण

## (अवतरणिका)

भाषा सम्प्रेषण का सबसे अधिक सुलभ और फलप्रद साधन है। यह न केवल हमारे सारे भौतिक कार्यों के मूल में अधिष्ठित है, वरन् सोच और चिन्तन से भी गहरी सम्पृक्त है[१]। एक तरह से भाषा समस्त चिन्तन के पूर्व है, समस्त भेद-व्यवस्था के पूर्व है और नामरूप के पूर्व है। भर्तृहरि के अनुसार कोई भी प्रत्यय (कान्सेप्ट) भाषा (शब्द) के बिना सम्भव नहीं है[२]। ऋग्वेद के अनुसार भाषा (वाक्) ही वसुओं की संगमनी तथा हमारे बोच संवाद की जननी है[३]। हमारी प्राचीन सूक्त-संहितियाँ ऋग्वेद के रूप में सुरक्षित हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि भाषिक इतिहास मूलतः ऋग्वेद से जुड़ा हुआ है। इसकी भाषा का एक नाम छन्दस् है, पर अधिक प्रचलित रूप में इसे वैदिक-भाषा कहा जाता है। यह भाषा न केवल परस्पर मनुष्य को जोड़ती है, अपितु परोक्ष शक्तियों के साथ संवाद भी स्थापित करती है। परोक्ष शक्तियाँ परोक्षप्रिय होती हैं[४]। इस परोक्षप्रिय भाषा का कालान्तर में हमारे लिए और दुरूह हो जाना स्वाभाविक ही है। इसीलिए साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने इनके अन्तस् को समझने और समझाने के लिए वेदांगों की रचना की[५]। इनमें निरुक्त और व्याकरण—दो ही अर्थोन्मीलन में सबसे अधिक सहायक रहे। इनके द्वारा जिस विद्वान् ने अपनी प्रज्ञा का परिष्कार कर लिया है, उसके लिए वाक् पर्त दर पर्त अपने रहस्य को खोलती जाती है और अविद्वान् के लिए देखी जाती हुई भी अनदेखी के समान,

---

१. वाक्यपदीय—१.१२१—"इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया। द्र० ब्लूमफील्ड, भाषा पृ० २५।

२. वाक्यपदीय—१.१२३ न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

३. ऋ० सं० १०.१२५.३ —अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्। तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।

४. ४.२.२ बृ० उप० परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।

५. निरु० १.२०—साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च, वेदाङ्गानि च तथा द्र० दुर्ग वही।

सुनी जाती हुई भी अनसुनी के समान बनी रहती है[१]। पतंजलि के अनुसार व्याकरण का मुख्य प्रयोजन ही वेद-रक्षा है[२]। निरुक्त और व्याकरण दोनों का प्रमुख क्षेत्र भाषा-चिन्तन के द्वारा शब्द को व्याकृत कर उसके रहस्य को उन्मीलित करना है, शल्यक्रिया के द्वारा उसके जोड़-जोड़ को पहचानना है। व्युत्पत्ति चिन्तन भाषा—चिन्तन की प्रमुख विधा है और किसी भी अन्य विधा की अपेक्षा शब्द की रचना से उसका निकट का सम्बन्ध है। व्युत्पत्ति का सम्बन्ध शब्द की प्रकृति और प्रत्यय से है। प्रकृति प्रत्यय के सम्मिलित अर्थों द्वारा किसी शब्द के मूल भाव तक पहुँचा जा सकता है और उसके साथ अर्थ—स्फीतियों की संगति भी बिठायी जा सकती है। इसीलिए वाक्-केन्द्रित भारतीय परम्परा में व्युत्पत्ति चिन्तन को महत्त्व दिया गया है।

## निर्वचन और व्युत्पत्ति

निर्वचन का सम्बन्ध निरुक्त से तथा व्युत्पत्ति का सम्बन्ध व्याकरण से जोड़ा जाता है। ये दोनों ही अर्थ ज्ञान में सहायक हैं। व्याकरण में शब्दों की बारीकी से परीक्षा की जाती है और उसके लिए प्रकृति-प्रत्यय तथा उन दोनों में होने वाले ध्वानिक-परिवर्तनों आदि का सहारा लिया जाता है। एक तरह से व्युत्पत्ति में जहाँ शब्द की ऊपरी संघटना की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है, वहीं निर्वचन में अर्थ को ध्यान में रखकर उसके किसी मूल रूप की खोज करना लक्ष्य होता है। इसमें प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन नहीं मिलता, केवल प्रकृति का तथा नाम मात्र को कहीं प्रत्यय का उल्लेख किया गया है[३]। उपर्युक्त कथन का यह आशय नहीं कि व्याकरण का अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसकी पद-विधि की आवश्यक शर्त समर्थ होना है[४]। व्याकरण की योजना का प्रारम्भ आर्थी-धारणा से होता है और उसका पर्यवसान शाब्दी प्रतीति में। व्याकरण में भी कहीं-कहीं निरुक्त की शैली देखी जा सकती है, विशेषतः समास के विग्रह वाक्यों, सन्नन्त रूपों तथा तद्धित (श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते, पा० ५, २, ८४) आदि के प्रयोगों में। यास्क के अनुसार निरुक्त व्याकरण की पूर्णता है[५]।

## ऋग्वेदीय व्युत्पत्ति-चिन्तन

ऋग्वेद का भाषिक-विश्लेषण करने पर व्युत्पत्ति-चिन्तन के विकसित रूप का

---

१. ऋ० सं० १०.७१.४ 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

२. रक्षोहागमलध्वसंदेहाः प्रयोजनम्। पा० म० पस्पशाह्निक, पृ० १५।

३. द्र० निरु० १.८—अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्ति, अध्वरस्य नेता अध्वरं कामयत इति वा। अपि वा- अधीयाने युरुपबन्धः।

४. समर्थः पदविधिः पा० २.१.१।

५. निरु० १.१५—तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्, स्वार्थसाधकं च।

पता चलता है। बृहस्पति आंगिरस के अनुसार लोगों ने उन्हीं ऋषियों द्वारा दर्शित शब्द-कोटियों में वाक् के मार्ग को ढूँढ़ा[१]। पतंजलि के अनुसार यह वाक् नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात–चार रूपों में परिमित है और इसे मनीषी ब्राह्मण ही समझ सकते हैं[२]। ऐसा प्रतीत होता है, ऋषियों ने कहीं सम्बन्ध को लक्षित करने वाले शब्द-प्रयोग से व्युत्पत्ति की सम्भावना व्यक्त की, तो कहीं एक ही आख्यात से बने कृदन्त रूपों के साथ-साथ प्रयोग से। निष्कर्षतः ऋग्वेद में व्युत्पत्ति-चिन्तन के दो प्रकार के संकेत की कल्पना की जा सकती है—

(१) प्रथम प्रकार में पदों के ऐसे प्रयोग आते हैं, जिनसे व्युत्पत्ति का सहज अनुमान हो जाता है, जैसे—तन्तु (<√ तन्), शक्र (<√शक्), प्रवात (<√वा)[३]।

(२) दूसरे प्रकार में पदों के ऐसे प्रयोग आते हैं, जो ध्वनि आदि की दृष्टि से बहुत दूर निकल गए हैं। ये सहज अनुमानगम्य नहीं हैं, जैसे—यज्ञ (<√यज्), अर्क (<√अर्च्)[४]।

ऋग्वेद के अलावा अथर्ववेद, कृष्णयजुर्वेद आदि में भी व्युत्पत्तियाँ संकेतित हैं[५]।

## ब्राह्मणों में व्युत्पत्ति-चिन्तन

ब्राह्मण मन्त्रों के विनियोग और व्याख्या के साथ-साथ आवश्यकतानुसार विशिष्ट शब्दों के निर्वचन भी प्रस्तुत करते हैं। इनका उद्देश्य इन शब्दों की संकल्पना में निहित उद्देश्यों पर बल देना और उनकी साधार व्याख्या करना है। ये निर्वचन ही निरुक्त के आधार हैं। इनमें मुख्यतः दो प्रकार अपनाए गये प्रतीत होते हैं—

(१) प्रथम प्रकार में निर्वचनीय शब्द के विषय में प्रश्न किया जाता है, तदनन्तर उसका निर्वचन किया हुआ मिलता है[६]।

---

१. ऋ० सं० १०.७१.३—यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्, तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।

२. पा० म० पस्पशाह्निक—चत्वारि वाक्परिमिता पदानि की व्याख्या।

३. ऋ० सं० १.४२.१—तन्तुं तनुष्वपूर्व्यं सुतसोमायदाशुषे।
   ,, ८.३२.१२ नः शक्रश्चिदाशकद् दानवां अन्तरा भरः।
   ,, ५.८३.४—प्रवाता वान्ति पतयन्ति विद्युत्।।

४. ऋ० सं० १ १६४.५०, १०.९०६—यज्ञेन यज्ञमयजन्त।
   ,, १.१०.१—गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्चिणः।
   ,, १.१९.४—य उग्रा अर्कमानृचुः।

५. वै० वा० भा० चि० पृ० ११८-१४९।

६. ऐ० ब्रा० १।२ -कस्मात्तं होतेत्याचक्षत इति। यद्वाव स यत्र यथाभाजनं देवता। अमुमावहामुमावहेत्यावाहयति, तदेव होतुर्होतृत्वम्।

(२) दूसरे प्रकार में परोक्षवृत्ति और अति-परोक्षवृत्ति शब्दों का निर्वचन 'परोक्षकथन' (परोक्षेण) से किया गया है[१]।

ब्राह्मणों के अतिरिक्त आरण्यकों[२] तथा उपनिषदों[३] में भी यत्र-तत्र निर्वचन किए हुए मिलते हैं।

## व्याख्या की तीन पद्धतियाँ

संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों में ऋषियों द्वारा व्युत्पत्ति-चिन्तन के सूक्ष्म संकेतों के प्रदत्त होने पर भी हम पूरी तरह उनके रहस्य को नहीं जान पाते हैं। वेंकट-माधव के अनुसार जिन लोगों ने निरुक्त और व्याकरण में परिश्रम किया है, वे भी वेद के समस्त अर्थ को नहीं, अपितु तीसरे भाग को ही जानते हैं[४]। उनके अनुसार शाकल्य, यास्क तथा पाणिनि ही ऋगर्थों के प्रति श्रद्धालु हैं और अपनी शक्ति के अनुसार अनुधावन करते हैं[५]। वेंकट के कथन को इस रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि ऋगर्थ को समझने की तीन पद्धतियाँ प्रयोग में लायी जाती थीं—

१. शाकल्य की पदपाठ पद्धति;

२. यास्क की निरुक्त पद्धति;

३. पाणिनि की विश्लेषणात्मक पद्धति।

### १. शाकल्य की पदपाठ-पद्धति

शाकल्य ने वेदार्थ की स्पष्टता के लिए बहुत सूक्ष्म ढंग प्रयुक्त किया है। प्रत्येक पद के अवान्तरभूत पदों का अवग्रह के द्वारा पृथक्करण कर पदपाठ दिया है। इससे न केवल अर्थ का परिचय ही मिलता है, अपितु पदों के व्युत्पत्ति-निर्धारण में भी सुविधा होती है। प्रत्यक्ष-वृत्ति, परोक्ष-वृत्ति तथा अतिपरोक्षवृत्ति[६]-तीन प्रकार के शब्दों में प्रथम

---

१. श० ब्रा० १४. ६. ११.१—स होवाच—इन्धो वै नामैष, योऽयन् दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः। तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण।

२. ऐ० आ० २.४.३ स एतमेव पुरुषं ब्रह्म तमपश्यदिदमदर्शमितीं ३। तस्मादिन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण।

३. अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यते इति। तै० उप० २.२ एतेन हीदम् सर्वमाददाना यन्ति, ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति। बृ० उप० पृ० ६४४।

४. संहितायास्तृतीयांशं विजानन्त्यद्युनातनाः।
निरुक्तव्याकरणयोरासीद् येषां भूरि परिश्रमः॥ - वे० भा० ऋ० ८.१.४. १५३

५. शाकल्यः पाणिनिर्यास्क इत्युगर्थपरास्त्रयः।
यथाशक्त्यानुधावन्ति न सर्वे कथयन्त्यमी॥ वे० भा० ऋ० वही।

६. दुर्ग० निरु० २. १।

प्रकार के शब्दों की व्युत्पत्ति का संकेत अवग्रह के द्वारा किया गया है। दूसरे और तीसरे प्रकार के शब्दों में अवग्रह नहीं दिया गया और इस प्रकार उनकी व्युत्पत्ति में मतभेद (अनवगम) की ओर इंगित कर दिया गया है (जैसे-रिशादसः, ऋ० सं० १. १९. ५)। इस परम्परा के पोषक प्रमुख आचार्य आत्रेय (तैत्तिरीय-संहिता), गार्ग्य (सामवेद) तथा रावण हैं। मेहन शब्द की व्याख्या में दुर्ग का कथन है—ऋग्वेदियों के अनुसार यह एक ही पद है, पर छान्दोग्यों (सामवेदियों) के अनुसार तीन पद (म + इह + न) हैं। यास्क ने शाकल्य और गार्ग्य के मतों का समीकरण किया है[1]।

इन सभी पदकारों में परस्पर विषमता है। एक आचार्य जिसे एक पद मानता है, दूसरा उसे दो-दो, तीन-तीन मानता है। स्कन्द के अनुसार इन पदपाठकारों के अभिप्राय विचित्र हैं[2]। पर वेद के अनुशीलन के लिए ये ही प्रथम सोपान हैं[3]। विना पद जाने अर्थ का ज्ञान असंभव है।

## २. यास्क की निरुक्त-पद्धति

यास्क का उद्घोष है कि विना निरुक्त के न तो मन्त्रों के अर्थ का प्रत्यय हो सकता है और न ही पद-विभाग[4]। निरुक्त-शैली ब्राह्मणों का विकसित रूप है और यास्क इसके प्रतिनिधि हैं। इन्होंने निघण्टु में आए दुरूह पदों की व्याख्या प्रस्तुत की है, साथ ही आनुषंगिकरूप में आए मंत्रों की भी व्याख्या कर दी है। यास्क की दृष्टि में हर एक शब्द का निर्वचन करना चाहिए। इसके लिए उन्होंने कुछ सिद्धान्त स्थिर किये, जिनकी विस्तृत चर्चा निरुक्त के दूसरे अध्याय के प्रारम्भ में मिलती है। जयादित्य वामन ने इन सारे सिद्धान्तों का समाहार निम्न कारिका में कर दिया है—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्[5] ॥

१. वर्णागम – द्वार (<√वृ), आस्थत् (<√अस्) भरुजा (<√भ्रस्ज्)।

२. वर्णविपर्यय – सिकताः <√कस् + इ + ताः, रज्जू < सर्ज् <√सृज्।

---

१. निरु० ४. ३-४—यदिन्द्र (चित्रं) चायनीयं मंहनीयं धनमस्ति यन्म इह नास्तीति वा त्रीणि मध्यमानि पदानि। द्र० दुर्ग वही, 'बह्वृचानां' मेहना इत्येकं पदम्। छन्दोगानां त्रीण्येतानि पदानि।

'म, इह, न—इति। तदुभयं पश्यता भाष्यकारेणोभयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ।'

२. स्क० निरु० २. १३;

३. आचार्य सायण और माधव पृ० २००;

४. निरु० १. १५. १८;

५. काशिका, पा० ६. ३. १०९।

३. वर्णविकार < राजा < राजन्, दण्डी < दण्डिन्, मेघ < √ मिह्

४. वर्णनाश - गत्वा < √ गम् + त्वा, गतम् < √ गम् + त

५. शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर किसी अर्थान्तर के साथ धातु का योग - मयूर < √ रु (रमण)[1]।

यास्क प्रत्यक्ष-वृत्ति शब्दों (पाचक, कारक) के लिए व्याकरण का उपयोग करना स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में परोक्षवृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति शब्द व्याकरण से परे हैं। यदि मात्र व्याकरण पर ही भरोसा किया गया, तो इन्हें समझना कठिन हो जायगा, कारण कि व्याकरण की वृत्तियाँ विशयवती होती हैं। इसलिए जिस किसी रूप में, चाहे अक्षर या वर्ण मात्र की ही समानता क्यों न हो, निर्वचन करना चाहिए[2]। इस प्रसंग में शौनक के निर्वचन सिद्धान्त को भी ध्यान में रखना चाहिए। उनके अनुसार शब्दों के पाँच भेद हैं—धातुज, धातुज से उत्पन्न (तद्धित), समस्त, वाक्य से ही उत्पन्न (जैसे इति + ह + आस = इतिहास) तथा अनवगत[3]।

यास्क ने निरुक्त-परम्परा के पोषक-आग्रायण, औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्थक्य, कौत्स, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिराः, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शतवलाक्ष, शाकटायन और उनके पुत्र, शाकपूणि, शाकल्य और स्थौलाष्ठीवि का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है।

यास्क के अतिरिक्त देवराज यज्वा ने निघण्टु की टीका लिखी। उन्होंने नैघण्टुक काण्ड की व्याख्या सविस्तर की तथा शेष की संक्षेप में। पाणिनि, आचार्य क्षीरस्वामी, स्कन्द स्वामी तथा स्कन्द महेश्वर के उद्धरण इस टीका में पर्याप्त मिलते हैं।

### (३) पाणिनि की विश्लेषणात्मक-पद्धति

पाणिनि-व्याकरण में संस्कृत—भाषा के दोनों स्तर—वैदिक तथा लौकिक विश्लेषित मिलते हैं[4]। सामान्यतः पाणिनि पर यह आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने वैदिक-भाषा का विश्लेषण 'बहुलं छन्दसि' जैसे अव्यवस्थित नियमों से किया है और इस प्रकार का विश्लेषण अपर्याप्त है। ऐसा वे ही लोग कहते हैं, जिन्होंने पाणिनीय-व्याकरण की गहराई से परीक्षा नहीं की। ब्लूमफील्ड के अनुसार

---

१. पा० ६. ३ १०९ पर काशिका की टीका न्यास-"अर्थातिशयोऽर्थविशेषः प्रसिद्धादर्थादर्थान्तरम्. तेन धातोर्योगः सम्बन्धः, यथा मह्यां रौतीति मयूरः, अत्र रौतेः रमणेनार्थेनातिशयेन योगः।

२. निरु० २. १ "अविद्यमाने सामान्येऽपि अक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत, विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति।

३. बृ० दे० २, १०४ "धातुजं धातुजाज्जातं समस्तार्थजमेव वा।
वाक्यजं व्यतिकीर्णं च निर्वाच्यं पञ्चधा पदम्॥

४. केषां शब्दानाम्? वैदिकानां लौकिकानां च—पा० म० पस्पशाह्निक, पृ० ५-६

इसमें क्या रूप साधन, क्या समास रचना, क्या वाक्य रचनात्मक प्रयोग-सभी के सम्बन्ध में छोटी से छोटी बातों का वर्णन है[1]। पाणिनि की अष्टाध्यायी सूत्रबद्ध है और वह अधिकांश में अभिहित है। कुछ अंशों में गम्य है और कहीं अन्तर्विरोधों की संगति बिठाने में उसके टीकाकारों की सहायता अपेक्षित है। इस प्रकार उनका विश्लेषण वैदिक-भाषा के विषय में भी शिथिल नहीं है। अष्टाध्यायी में न केवल प्रत्यक्ष-वृत्ति शब्दों को ही ध्यान में रखा गया है; अपितु परोक्ष-वृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति शब्दों का भी विश्लेषण किया गया है—

१. परोक्षवृत्ति–उणादयो बहुलम्, पा० ३, ३, १।

२. अतिपरोक्षवृत्ति—पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्, पा० ६, ३, १०६।

३. प्रत्यक्षवृत्ति—शेष अष्टाध्यायी।

पाणिनि ने शब्दों की सिद्धि के लिए—निपातन, बहुल तथा उपसंख्यान आदि युक्तियों का सहारा लिया है। उन्होंने शब्दों के दो भेद—व्युत्पन्न तथा अव्युत्पन्न, स्वीकार किये हैं, और इसलिए वे अव्युत्पन्न शब्दों की व्युत्पत्ति देने के लिए बाध्य नहीं हैं, फिर भी उनकी व्याकरण-परम्परा के लिए वे शब्द अछूते नहीं रहे। इसलिए जहाँ कहीं पाणिनि में अन्तर्विरोध दीखता हो, उसकी संगति के लिए पूरी परम्परा का आकलन करना चाहिए और तब हम पाएँगे कि उनमें शैथिल्य और अन्तर्विरोध नहीं है, वरन् एक आन्तरिक अनवच्छिन्नता है, भाषा की गहराई से छान-बीन करने की अपूर्व सजगता है।

## सायण का व्युत्पत्ति-चिन्तन

सायण तक आते-आते भारतीय व्युत्पत्ति-चिन्तन न केवल ठोस आधार पा चुका था, अपितु विभिन्न रूपों में व्याख्यायित भी हो चुका था। उन्हें भाष्यकारों की एक लम्बी परम्परा मिली थी, जिसका निःसंकोच उपयोग किया। वेद को व्याख्या के लिए बहुज्ञता अपेक्षित है। सम्भवतया इसीलिए ऋग्वेद भाष्य-भूमिका में सायण को षडङ्गानुसारी व्याख्यान की प्रतिज्ञा करनी पड़ी[2]। प्रथमतः उन्होंने ब्राह्मणों तथा आरण्यकों का व्याख्यान किया, तदनन्तर मंत्रात्मक संहिता ग्रन्थ का, जिससे कई धरातल पर ऋग्वेद की व्याख्या की पुष्टि हो सके[3]।

मंत्र की जिज्ञासा करनेवाले के लिए आवश्यक है कि वह स्वर, वर्ण, अक्षर,

---

१. भाषा—पृ० १०।

२. तदर्थमृग्वेदोऽस्माभिः षडङ्गानुसारेण व्याख्यायते—ऋग्वेदभाष्य भूमिका, पृ० ३१।

३. मन्त्रब्राह्मणात्मके वेदे ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानोपयोगित्वादौ ब्राह्मणमारण्यकाण्डसहितं व्याख्यातम्। अथ च तत्र तत्र ब्राह्मणोदाहरणेन मन्त्रात्मको संहिताग्रन्थो व्याख्यातव्यः। ऋग्वेदभाष्य भूमिका, पृ० ३१।

मात्रा, विनियोग और अर्थ को समझे[1]। पतंजलि के अनुसार लोप, आगम, तथा वर्ण-विकार को जानने वाला व्यक्ति ही वेदों का सम्यक् परिपालन कर सकता है[2]। सायण के लिए यह आधारभूमि है, जिसका उपयोग उन्होंने प्रथम काण्ड में पूर्णता के साथ किया। शेष काण्डों में कहीं-कहीं मात्र स्मरण कर लिया गया है[3]। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र के व्याख्यान में उनकी व्याख्या और व्युत्पत्ति-चिन्तन का चरम रूप मिलता है, जिसका संक्षिप्त रूप ही आगे अपनाया गया है[4]।

सायण द्वारा ऋग्वेद में दी गई व्युत्पत्तियों की निम्न विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं—

(१) ऋग्वेद के प्रथमाष्टक में आए प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि-परम्परा से दी गई है और सूत्रों का उद्धरण भी दिया गया है। शेष अष्टकों में पुनरुक्ति के भय से पूरी प्रक्रिया न दिखलाकर आवश्यक सूत्रों का निर्देश मात्र कर दिया गया है[5]।

(२) स्थान-स्थान पर आरण्यकों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के कथन उद्धृत हैं, कुछ व्याख्या की पुष्टि के लिए तथा कुछ व्युत्पत्ति-निर्धारण के लिए[6]।

(३) यास्क के निरुक्त का भरपूर उपयोग किया गया है और उनके द्वारा किए गए मन्त्र व्याख्यान को अविकल रूप में उद्धृत कर दिया गया है।

(४) ध्वनि-परिवर्तन आदि में प्रातिशाख्यों का सहारा लिया गया है[7]।

(५) न केवल पाणिनीय-व्याकरण; अपितु कातन्त्र का भी उपयोग किया गया है[8]।

(६) स्वर-निर्माण मात्र पाणिनि के आधार पर ही नहीं, अपितु शान्तनवाचार्य के फिट् सूत्रों अन्य संहिताओं में उपलब्ध स्वरों तथा इतर आचार्यों के स्वर-विधानों से भी किया गया है[9]।

---

१. स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च। मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे। सा० ऋ० १.१.१ द्र० वर्गद्वयवृत्ति, ऋ० प्रा०, पृ० ९।

२. लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान्परिपालयिष्यतीति। पा० म० पस्पशाह्निक, पृ० १५।

३. ऋ० द्वितीयाष्टक का उपक्रम, पृ० ७६९—प्रक्रिया प्रथमे काण्डे साकल्येनोपवर्णिता। अत ऊर्ध्वंतनी ज्ञेया स्मर्यते च क्वचित् क्वचित्॥

४.. सा० ऋ० १.१.१—वेदावतार आद्याया ऋचोऽर्थश्च प्रपंचितः। विज्ञातं वेदगाम्भीर्यमथ संक्षिप्य वर्ण्यते॥

५. सा० ऋ० १.१.१।

६. सा० ऋ० वही तथा १.१.६, ३.२, ३, ५, ७.१, ४।

७. ,, १.१.१—अज्मध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः। अज्मध्यस्थढकाराय ळ्हकारं वै यथाक्रमम्॥ तु० ऋ० प्रा० १।५२।

८. सा० ऋ० १.२.५—सर्वधातुभ्योऽसुन् (दुर्ग उ० बृ० ४.५६), अनुळृत्सु ३.५३.१८—भिवबनसोऽश्च (तु० सरस्व० २.१.३४९)।

९—सा० ऋ० अग्नि, पुरोहित—१.१.१, सत्यः—१.१.५, अपसम्—१.२.९, सुष्टुतिम् १.७.७।

(७) अपनी व्याख्या की प्रामाणिकता के लिए, व्युत्पत्ति की सारवत्ता के लिए अथवा मतान्तर दिखाने के उद्देश्य से स्कन्दस्वामी,[१] उद्गीथ,[२] माधव,[३] भट्टभास्कर-मिश्र,[४] हरदत्त,[५] तथा आग्रायण[६] आदि का सहारा लिया गया है।

(८) स्वर-चिन्तन में कहीं कहीं प्रलम्ब शास्त्रार्थ की प्रक्रिया अपनाई गयी है[७]।

(९) शाकटायन के उणादि सूत्रों की प्रचलित प्रायः सभी वृत्तियों का उपयोग किया गया है[८]।

(१०) व्युत्पत्ति दिखाते समय कहीं केवल प्रकृति का उल्लेख कर दिया गया है, और कहीं प्रत्यय मात्र का[९]। पाणिनि-तंत्र में तर (तरप्) प्रत्यय है, पर कहीं-कहीं इसे भी व्युत्पन्न दिखाया गया है[१०]।

(११) व्युत्पत्ति—चिन्तन के समय शाकल्य के पदपाठ तथा उसकी संगति और विसंगति को भी ध्यान में रखा गया है[११]।

(१२) कहीं किसी शब्द की कोई व्युत्पत्ति न देकर उसे पृषोदरादि घोषित कर दिया गया है[१२]।

सायण ने प्रायः व्युत्पत्ति प्रदर्शन मंत्र-व्याख्यान के अन्त में किया है, पर कहीं-कहीं अर्थ देते समय बीच में भी। निस्सन्देह सायण न केवल वैदिक वाङ्मय के एक समर्थ भाष्यकार, अपितु व्याकरण के प्रबल पण्डित भी हैं। वे परोक्ष-प्रिय वैदिक भाषा के सावित्र रूप के अद्वितीय मर्मज्ञ हैं। फिर भी यदि कहीं शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया, प्रत्यय की संकल्पना तथा स्वर निर्णय की त्वरा में विचलन दृष्टिगत होता है, तो इससे सायण का महत्त्व कम नहीं होता, अपितु उसे उपलब्ध सामग्री का किसी न किसी रूप में उपयोग करने के लोभ की बाध्यता तथा अपने ढंग से व्याख्या करने की अद्वितीय क्षमता का ही परिचायक समझना चाहिए। सायण को अलग रखकर वेद के निगूढ अन्तस् को समझ पाना सरल नहीं होगा।

---

१. सा० ऋ० १. ८८. ५।
२. ,, १०.४६.५।
३. ,, १०.८६.१
४. ,, १.६३.४, ७१.४, ८४.१५, ६.१.१३, ७.१.७।
५. ,, १.१.५।
६. ,, १.३.४।
७. ,, मित्रावरुणौ—१.२.८।
८. ,, १.१.१—अंगेर्नलोपश्च, उ० सू० ४.५२, अनेहसम्—१.४०.४ नञि हन एह च, तु० उ० सू० ४.२२९, दश० ९-८३।
९. ,, तोशतमाः—१.१६९.५, कुह—१.११७.१२, अक्षि—१०.१२७.१, अभिव्लङ्गैः—१.१३३.४।
१०. ,, उत्तरे—१.७.७, वृत्रतरम्—१.३२.५, तु० ऋ० सं० प्रतर ४.१२.६, १०.५९.१, १२६.८।
११. ,, अनर्विशे—१.१२१.७, ऋभुक्षणम् १.११.४।
१२. ,, ऋबीसे १.११६.८।

द्वितीय अध्याय

# ऋग्वेदीय सुबन्त पदों का व्युत्पत्ति-चिन्तन

— ० —

# ऋग्वेदीय सुबन्त पदों का व्युत्पत्ति-चिन्तन

— ० —

अंहति < ✓हन् (हिंसागत्योः) + अति प्रत्यय, धातु को अंह आदेश तथा प्रत्ययचित्— (हन्तेरंह च, उ० सू० ४. ६४), अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[1] । यास्क ने ✓ हन् से 'अंह' की निरुक्ति वर्ण विपर्यय से की है— ✓ हन्—>अ + न् + ह = अंह[2] । ग्रासमान ने ✓ अंह से व्युत्पन्न माना है[3] ।

(तु० IE angh, anˇghu's, Lat. angustus Goth. aggwus[4])

अंहस् < ✓अम् (गत्यादिषु) + असुन् प्रत्यय तथा धातु को हुक् का आगम—(अमेर्हुक् च, उ० सु० ४. २१८) अमन्ति प्राप्नुवन्ति दुःखानि अनेन तत् अंहः पापम् आद्युदात्त – (नब्विषयस्यानिसन्तस्य, फि० सू० २७[5] ।

(तु० Av. a'nzah, Lat. angere, Gr. a'gkhein. Eng. anger, anguish)

अंहु < ✓ अहि (गतौ), धातु को नुम् का आगम – (इदितो नुम् धातोः, पा० ७. १. ५८) >✓अंह + उ प्रत्यय (औं[6] ) यास्क ने✓हन् से निर्वचन किया है[7] ।

अंहूरण < क – ✓ अंह (अहि गतौ) + ऊर प्रत्यय भाव में (खर्जिपिञ्जा०, उ० सू०। ४. ६६) न प्रत्यय मत्वर्थीय (पा० ५. २. १००) अंहूरन > अंहूरण । ख – आ + ✓हन् (हिंसागत्योः), वर्णविपर्यय से आ > अ + ✓ हन् > अंह + ऊर + न >अंहूरण[8] ।

सायण की दूसरी व्युत्पत्ति के आधार संभवतः यास्क हैं[9] । स्कन्द के अनुसार – अंहु + र(मत्वर्थीय) + न प्रत्यय (स्वार्थिक)>अंहुरन, छान्दस दीर्घ>अंहूरण[10] ।

---

१. सा० ऋ० १. ९४. २, ५. ५५. १०, ८. ६७. २१, ७५. ९ ।

२. निरु० ४. २५—हन्तेर्निरूढोपधात् विपरीतात् । द्र० क्षीर० अ० २, पृ० १६६ ।

३. वोबू० पृ० ३ ।

४. एटि० यास्क पृ० ७२ ।

५. सा० ऋ० १. १८. ५, ३. ३२. १४, द्र० सा० सा० १. ३. ४ ।

६. ,, अंहो : १. १०७, १ ।

७. निरु० ४. २५ ।

८. सा० ऋ० १. १०५. १७, ६. ४७. २० ।

९. निरु० ६. २७—अंहूरणम् इत्यप्यस्य भवति ।

१०. स्क० निरु० ६. २७ ।

**अकूपार** < अ + कु + पार>अकूपार, छान्दस दीर्घ[1]। यास्क ने इसका दान और कच्छप अर्थ किया है। प्रथम अर्थ में – अ + कु + परण = अकूपार, दूसरे अर्थ में – न + कूप + √ऋच्छ् ( = जो कूप तक न जा सके)[2]। देवराज० ने अ + कु + पार<पार√पृ (पालनपूरणयोः) + घञ्, तथा अ + कूप + √ऋ + अण्> अकूपार व्युत्पन्न किया है[3]। बरो के अनुसार अकूपार का कू√कव् से सम्बन्ध है[4]।

**अकृषीवलम्** <अ + कृषि + वलच् ( – रजःकृषि०, पा० ५. २. ११२), कृषि के इकार को दीर्घ ( – वलेः, पा० ६. ३. ११८)[5]।

**अक्तः** <√अञ्ज् (व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु) + क्त प्रत्यय कर्म में ( – अञ्जिवृसिभ्यः क्तः, उ० सू० ३. ८५)[6]।

**अक्ता** <नक्ता, यह रात्रि नाम है। छान्दस न् का लोप[7]।

**अक्तु** <√अञ्ज् (व्यक्ति०) + क्तु प्रत्यय करण में, कित् होने से उपधालोप, कुत्व, प्रत्ययस्वर[8]। अथवा

√अञ्ज् + तु प्रत्यय (उ० सू० १. ७१) तथा उसे किद्भाव, शेष पूर्ववत्[9]। अज्यते सिच्यते नीहारेण जगदस्यां गच्छन्तीति वा प्रतिदिनम् अक्तुः। ऋ० सं० में चार स्थानों पर अक्तु का प्रयोग √अञ्ज् के साथ हुआ है, जिससे √अञ्ज् से अक्तु की व्युत्पत्ति संकेतित प्रतीत होती है[10]।

गेल्डनर तथा ग्रासमान भी √अञ्ज् से व्युत्पन्न मानते हैं।[11]

**अक्र** <क – अ + √क्रम् + विट् ( – जनसनखनक्रमगमो विट्, पा० ३. २. ६७) अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[12]।

ख – आ + √क्रम् + ड प्रत्यय छान्दस (अन्येष्वपि दृश्यते, पा० ३. २. १०१), आकार को छान्दस ह्रस्व, आ समन्तात् क्रमतीति अक्रः, आद्युदात्त (आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३) तथा समास के बाद भी वही प्रत्ययस्वर शेष रहता है—(गति०,

---

१. सा० ऋ० ५. ३९. २, १०. १०९. १।
२. निरु० ४. १८।
३. देव० नि० ४. १. ३३।
४. सु० कु० च० १९५५ पृ० १८७-१९३।
५. सा० ऋ० १०. १४६. ६।
६. ,, ५. ३. १०।
७. ,, १. ६२. ८।
८. ,, १. १४३. ३, ३. ७. ६, १७. १. द्र० देव० नि० १. ७. ४।
९. ,, ४. १०. ५।
१०. ऋ० सं० ३. १७. १, ६. ६९. ३, ७. ७९. २, १०. १४. ९।
११. ऋ० ग्ला० पृ० १ तथा वोबू० पृ० ५।
१२. सा० ऋ० १. १२०. २।

पा० ६. २. १३६)[1]। राजवाडे ने√क्रम से – अ = अत्यन्तं क्रं धनं यस्य स अक्रः तथा √अञ्च् + र>अक्र, (जैसे शुक्र, चित्र, विप्र, शुभ्र इत्यादि) व्युत्पत्ति दी है[2]। ग्रासमान √क्र से व्युत्पन्न मानते हैं[3]।

**अक्षर** <√अश् (व्याप्ति-भोजन) + क्स प्रत्यय (औणादिक)[4]।

ऋग्वेद में क्षरति के साथ अक्षर का प्रयोग मिलता है[5]। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे√क्षर् तथा √क्षि से निष्पन्न बताया गया है[6]। यास्क ने एक निर्वचन अ + √क्षर् अथवा√क्षि से किया है, जो कि सम्भवतः ब्राह्मणों पर आधारित है, तथा एक दूसरा मौलिक निर्वचन अक्ष + र से किया है[7]। गीता में कूटस्थ को अक्षर (अ + क्षर) कहा गया है[8]। पतंजलि ने√क्षर् तथा√अश् दोनों से ही व्युत्पन्न माना है[9]। देवराज० ने कई व्युत्पत्तियाँ दी हैं[10]—

क—√अश् (व्याप्ति भोजन) + सरन् (उ० सू० ३. ६७)

ख—√अञ्ज् + सरन्

ग—न + √क्षर् + अच् (पा० ३. १. ११३)

उपर्युक्त सभी व्युत्पत्तियों को ध्यान में रखते हुए√क्षर् तथा√अश् से व्युत्पन्न करना संगत प्रतीत होता है, पर सायण ने जिस 'क्स' प्रत्यय की कल्पना की है, वह पाणिनीय व्याकरण सम्मत नहीं है। महाभाष्यकार ने सरन् का स्पष्ट उल्लेख किया है। उज्ज्वलदत्त इत्यादि वृत्तिकारों के अनुसार शाकटायन ने सरन् ही स्वीकार किया है[11]। भोज[12] ने सरन् माना है, जबकि पेरूसूरि[13] तथा दुर्गसिंह[14] ने 'सर'।

---

१. सा० ऋ० १. १४३. ७, द्र० स्क० ऋ० १. १२०. २, निरु० ६. १७।

२. वर्ड्स इन ऋग्वेद पृ० ३०६।

३. वोबू० पृ० ५।

४. सा० ऋ० १. ३४. ४, १६४. ३६।

५. ऋ० सं० १. १६४. ४२—ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति।

६. श० ब्रा० ६. १. ३. ६, जै० उ० ब्रा० १. २४. १-२, १.४३. ८, १. ७. १०, श्वे० उप० शां० भा० १. ७, ४. १८।

७. निरु० १३. १२।

८. गीता १५. १६—क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।

९. पा० म० सू० झभञ् पृ० १०१ पर—अक्षरं न क्षरं विद्यात्, न क्षीयते न क्षरति वा। अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्, अश्नोतेर्वा पुनरयमौणादिकः सरन् प्रत्ययः, अश्नुते इत्यक्षरम्।

१०. देव० नि० १. ११. ४६, १. १२. ३२।

११. उ० सू० ३. ६७—अशेः सरन्।

१२. सरस्व० क्याजिमामद्यशूभ्यः सरन् २. ३. ६८।

१३. औ० पदा ३. २०५।

१४. उ० वृ०, मद्यसिवसि (वासि) भ्यः सरः—४. ३१।

भट्टोजिदीक्षित के अनुसार वेद में अक्षर शब्द मध्योदात्त मिलता है। 'सरन्' स्वीकार करने पर नित्स्वर ( =आद्युदात्त) की आपत्ति होगी, जबकि प्रत्ययस्वर मानकर यह मध्योदात्त है। इसीलिए महाभाष्यकार ने 'अश्नोतेर्वा 'सरोऽक्षरम्' कहा। इस प्रकार 'अशेः सरः' यही पाठ उचित है[1]। पर महाभाष्यकार ने वार्तिक व्याख्यान के समय 'अश्नोतेर्वा' पुनरयमौणादिकः सरन् प्रत्ययः, तथा कैयट ने "सरन्प्रत्ययस्यानुबन्ध-लोपे कृतेऽनुकरणं सर इति" कह कर 'सरन्' ही स्वीकार किया है। अतः भट्टोजि-दीक्षित की बात स्वीकार्य नहीं हो सकती। स्वर का समाधान बाहुलक से सम्भव है।

**अक्षि** <√अञ्ज्[2]। यास्क ने[3] √चक्ष् से निर्वचन किया है। आग्रायण √अञ्ज् से व्युत्पन्न मानते हैं। पतंजलि √अश् + सि > अक्षि व्युत्पन्न करते हैं[4]। उणादि वृत्तिकारों ने 'क्सि' प्रत्यय माना है[5]। भोज और दुर्गसिंह ने सिक् प्रत्यय स्वीकार किया है[6]। वस्तुतः 'क्सि' या 'सिक्' प्रत्यय को नित् करना पड़ता है, जिससे आद्युदात्त संभव होता है।

( तु० Lith. akis, Lett. acs, Av. aši )

**अक्षितम्** <न + √क्षि ( क्षये, हिंसायाम् ) + क्त प्रत्यय, कर्म में। अव्ययपूर्वपद-प्रकृतिस्वर ( नञ्कुनिपातानाम्, वा० पा० ६. २. २ )[7]।

**अक्षिति** <न + क्षित (<√क्षि), क्षयो नास्त्यस्येति अक्षिति, बहुव्रीहिसमास। पूर्वपद-प्रकृतिस्वर ( बहुव्रीहौ०, पा० ६. २. १ )[8]।

**अक्षेत्रवित्** < √क्षि ( निवासगत्योः ) + त्र > क्षेत्र, क्षीयते गम्यते अनेनेति क्षेत्रं पन्थाः। क्षेत्रं वेत्तीति क्षेत्रवित्, न + क्षेत्र – वित् > अक्षेत्रवित् = मार्ग न जानने वाला पुरुष[9]।

**अखिद्रयामभिः** <अखिद्रयामन् + भिस् ( तृ० बहु० व० )

---

१. प्रौ० मनो० उ० सू० 'अशेःसरः', द्र० वही तत्त्वबोधिनी, तथा बृहच्छब्देन्दुशेखर पृ० २०९९—'अक्षर मोक्ष-ब्रह्मवर्णेषु' असेः सरन्निति त्वपपाठः। अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरमिति प्रत्याहाराह्निकान्ते भाष्यात्, नित्स्वरानुपलम्भाच्च।

२. सा० ऋ० १०. १. २७. १।

३. निरु० १. ९।

४. पा० म० ३. २. ११५—अश्नोतेरयमौणादिकः करणसाधनः सिप्रत्ययः। अश्नुतेऽनेनेत्यक्षि।

५. दश० उ० वृ० १. १२, श्वे० ३. १५०, उ० को० ३. १५६।

६. सरस्व० २. १. २३८, उ० वृ० दुर्गसिंह ६. ५७,।

७. सा० ऋ० १. ९. ७, ३. ४०. ७, द्र० सा० अ० १. १५. ३, देव० नि० १. १२. ७७, (अक्षितोति :—सा० ऋ० १. ५. ९, ८. ३. १५, सा० सा० पूर्व० ३. १. ९ सा० अ० ३. २९४, ६. १४२. २) ऋ० ग्ला० पृ० २।

८. सा० ऋ० १.४०.४।

९. सा० ऋ० ५. ४०. ५, १०. ३२. ७।

अखिद्रयामन्<√खिद् ( दैन्ये ) + रक् प्रत्यय (स्फायितञ्चि०, उ० सू० २. १३) >खिद्र, खिद्रं यान्तीति खिद्रयामानः। न खिद्रयामानः अखिद्रयामानः, तैः। अव्यय-पूर्वपदप्रकृतिस्वर[1]।

**अगोता** <न + गो + तल् ( तस्य भावस्त्वतलौ, पा० ५. १. ११९ )

गो = गोमान्। न गौः अगौः, अगोर्भावः अगोता ( स्त्री० ), लित्स्वर = प्रत्यय से पूर्व को उदात्त ( – लिति, पा० ६. १. १९३)[2]।

**अग्नायी** <अग्नि + ङीप् तथा इकार को ऐकारादेश ( – वृषाकप्यग्नि, पा० ४. १. ३७) आय् आदेश>अग्नायी, अग्नेः पत्नी। इकार को होने वाला ऐकार उदात्त होता है[3]।

**अग्नि** <√अंग् (<√अगि गतौ) + नि प्रत्यय तथा नलोप, (अंगेर्नलोपश्च, उ० सू० ४. ५२)। अंगति स्वर्गं गच्छति हविर्नेतुमित्यग्निः। अकार उदात्त ( – धातोः, पा० ६. १. १६२) तथा प्रत्ययगत इकार भी उदात्त (आद्युदात्तश्च पा० ३. १. ३)। गार्ग्य के मत में 'अग्नि' के अखण्ड प्रातिपदिक होने से अन्तोदात्त ( – फिषोऽन्त उदात्तः, फि० सू० १)। इस व्याकरण-सम्मत व्युत्पत्ति के साथ सायण ने यास्क के निर्वचनों को भी उद्धृत किया है[4]।

ऋ० सं० में इसके दो निर्वचन संकेतित प्रतीत होते हैं—

(क)—अग्नि<√अग्[5], (ख)—√अञ्ज्[6]। यास्क ने इसका चार निर्वचन किया है, जिनमें दो निर्वचन स्थौलाष्ठीवि तथा शाकपूणि द्वारा किये गये हैं।[7]

१—अग्र + √नी (नये)>अग्नि। यह देवसेना को आगे ले जाता है, पुरोहित है—इसलिए अग्नि है। अथवा अग्निहोत्र इष्टि इत्यादि में अग्र = पूर्वदिग्वर्ती

---

१. सा० ऋ० १. ३८. ११।

२. ,, अगोतायै ३. १६. ५।

३. सा० ऋ० १. २२. १२, ५. ४६. ८, सा० अ० ७. ५१. २, द्र० निरु० ९. ३३, देव० नि० ५. ३. २८,।

४. सा० ऋ० १. १. १, द्र० सा० अ० ३. १. १।

५. ऋ० सं० ६. १६. ४८—अग्निं देवासो अग्रियमिन्धते वृत्रहन्तमम्।

६. ,, ८. ३९. १, ६०. १।

७. निरु० ७. १४—अग्निः कस्मात्? (१) अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते (२) अंगं नयति सन्नममानः (३) अक्नोपनोभवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति = न स्नेहयति (४) त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः—इतात्, अक्तात् दग्धाद्वा, नीतात्। स खल्वेते रकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा, दहतेर्वा, नीः परः।

आहवनीय की ओर गार्हपत्य से उठाकर लाया जाता है, इसलिए अग्नि है। संभवतः यास्क के इस निर्वचन के आधार ब्राह्मण हैं[१]।

२—अंग + √नी। भली भांति स्वयं झुकता हुआ अपने शरीर को काष्ठदाह या हविष्पाक में प्रेरित करता है। सम्भवतः इस व्युत्पत्ति का आधार अग्नि का अपना स्वभाव है।

३—अग्नि<अ (= न) + क्नोपन, <√क्नूयी = गीला करना, यहाँ क्>ग् होकर रूप बनता है। स्थौलाष्ठीवि की इस व्युत्पत्ति का आधार सम्भवतः अग्नि का कार्य है, जिसमें आर्द्र करने की अपेक्षा काष्ठ इत्यादि को रूक्ष कर देता है।

४—शाकपूणि—अग्नि<अयन (<√इण् गतौ) का 'अ' अनक्ति (<√अञ्ज व्यक्ति०) का क्<ग् अथवा दग्ध (<√दह् भस्मीकरणे) का ग् नी (√णीञ् प्रापणे) का नी<नि (छान्दस) लेकर अग्नि शब्द बना हुआ है। चूँकि इसमें तीनों कार्य गति, व्यक्ति अथवा दहन तथा प्रापण—एक साथ देखे जाते हैं, इसलिए इसे तीन धातुओं से निष्पन्न बताया है[२]। वैयाकरणों ने √अंग (√ अगि गतौ) + नि से व्युत्पन्न माना है,[३] तथा अग्नि की अन्य विशेषताओं की अपेक्षा गति को ही स्वीकार किया है। पाश्चात्य विद्वान् √अग् से ही व्युत्पन्न मानते हैं[४]।

(तु० IE ǝgni, ogni(?), Lat. ignis, Lith. ugnis, Lett. uguns, chsl. ogniˇ Av. ¯atar)

**अग्निमिन्धः** अग्नि + इन्ध, मुम् का आगम (भ्राष्टाग्न्योरिन्धे, वा० पा० ६. ३. ७०.) = अग्नीत्[५]।

**अग्निश्रियः** <अग्नि + √श्रि (श्रिञ् सेवायाम्) + क्विप्, सम्प्रसारण का अभाव तथा धातु को दीर्घ<अग्निश्री + जस् (प्र० बहु०), इयङ्०। कृत्स्वर[६]।

---

१. श० ब्रा० २. २. ४. २—तद्वा एनमेतदग्रे देवानामजनयत। तस्मादग्निः। अग्रिर्ह वै, नामैतद् यदग्निरिति। ६. १. १. ११—स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निः (अग्रिर्हवै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्। द्र० ऐ० ब्रा० १. ४, १. १, तै० ब्रा० २. ४. ३. ३, तथा सा० ऋ० १. १. १ में उद्धृत 'अग्निरवमो देवतानाम्' सवा एषोऽग्रे देवतानामजायत तस्मादग्निर्नाम। बृ० दे० २. २४, म० भा० अश्व० प० ६२।

२. दुर्गाचार्य निरु० ७. १४।

३. उ० सू० ४. ५२, सरस्व० २. १. २०७, दुर्गसिंह उ० वृ० ३. ५०, औ० पदा० ४. ५२, मा० धा० म्वा० ६१, देव० नि० ५. १. १।

४. मैक्डानेल—ए वैदिक रीडर फार स्टूडेन्ट्स पृ० ३।

५. सा० ऋ० १. १६२. ५।

६. „ ३. २६. ५।

**अग्नीषोमौ** <अग्नि + सोम, अग्निश्च सोमश्च अग्निसोमौ, द्वन्द्व-समास, अग्नि के ह्रस्व इकार को दीर्घ ईकार ( – ईदग्नेः सोमवरुणयोः, पा० ६. ३. २७), मूर्धन्यादेश ( – अग्नेःस्तुत्स्तोमसोमाः, पा० ८. ३. ८२) उभयपदप्रकृति-स्वर (देवताद्वन्द्वे च, पा० ६. २. १४१) आमन्त्रित होने पर आद्युदात्त (आमन्त्रितस्य च, पा० ६. १. १९८)[१] ।

**अग्रभण**<न + √ग्रह् + ल्युट् ( – कृत्यल्युटो बहुलम्, पा० ३. ३. ११३) > अग्रहण <अग्रभण ( – हृग्रहोर्भश्छन्दसि, वा० पा० ३. १. ८४. ) उत्तर पद में अन्तोदात्त ( – नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२)[२] ।

**अग्रिय**< अग्र + घच् प्रत्यय ( – घच्छौ च, पा० ४. ४. ११७) अग्र<√अग् (गति) + रन् प्रत्यय ( – ऋज्रेन्द्रा० उ०सू० २. ३१) । घ को इयादेश (पा० ६. ४. १४८) > अग्रिय । अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[३] । यास्क ने आ + गम्>अग्रिय निर्वचन किया है[४] । देवराज[५] –

१—अग्र + √या + क प्रत्यय बाहुलक ( – गेहे कः, पा० ३. १. १४४) ।

२—अग्र + य ( – छन्दसि च, पा० ५. १. ६७), इकार उपजन,

३—अग्र + घन् (अर्हं अर्थ में)

४—अग्र + घ (स्वार्थ में)

गेल्डनर सायण की व्युत्पत्ति से सहमत हैं[६] ।

(तु० अग्र—Lett. agrs, Av. Ayra, First earliest)

**अग्रुव** : <अग्र< √अग् + रु प्रत्यय ( जत्र्वादयश्च, उ० सू० ४. १११ ), अगति गच्छतीति अग्रुः, आद्युदात्त ( पा० ३. १. ३ ) । अग्र + जस्, उवङ्, प्रत्ययस्वर[७] । देवराज० ने √ अहि अथवा √ अगि + रु > अग्रु अथवा अग्र + √गम् + रु प्रत्यय, ग्र लोप, गम् का टिलोप, अग्रे गच्छन्तीति अग्रुवः – व्युत्पन्न किया है[८] ।

**अघायतः** < अघ + क्यच् प्रत्यय ( – छन्दसि परेच्छायाम् – क्यच उपसंख्यानम्, वा० पा० ३. १. ८) । आत्व ( – अश्वाघस्यात्, पा० ३. २. १७०) >अघाय + शतृ

---

१. सा० ऋ० १. ९३. १, ८, द्र० सा० अ० १. ८. २, २. १३. ५, ६. ५४. २
२. " १. ११६. ५
३. " १. १३, १०, १६. ७, द्र० सा० अ० ११. ८. ३
४. निरु० ६. ३. द्र० निरु० समु० म० २ पृ० ६
५. देव० नि० ४. ३. ६३
६. ऋ० ग्ला० पृ० २
७. सा० ऋ० ३. २९. १३
८. देव० नि० १. १३. १४, २. ५. १

+ङस् (पं० एक०), विभक्ति को उदात्त (–शतुरनुमो नद्यजादी, पा० ६. १. १७३)[1]।

**अघायु** < अघ + क्यच् (सुप आत्मनः क्यच्, पा० ३. १. ८ – छन्दसि परेच्छायाम्, वा० पा० ३. १. ८), आत्व (–अश्वाघस्यात्, पा० ३. २. १७०) >अघाय + उ (–क्याच्छन्दसि, पा० ३. २. १७०) >अघायु। अघं हिंसनं परेषामिच्छतीति अघायुः[2]। यास्क ने आ + √हन्>अघ निर्वचन किया है[3]।

(तु० IE Agh, Av. aga[4])

**अघशंस** < अघ + शंस< √शंस् स्तुतौ। अघे पापे शंसो मनस्यभिलाषो यस्य सोऽयमघशंसः। बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर (पा० ६. २. १)[5] देवराज०ने अघ< आ + √हन् + ड प्रत्यय (अन्येष्वपि दृश्यते, पा० ३. २. १०१) + शंस् + अच् प्रत्यय (नन्दिग्रहि०, पा० ३. १. १३४) > अघशंस व्युत्पन्न किया है[6]।

**अघशंसहा** < अघ + √शंस् > अघशंस + √ हन्। अघं पापं शंसन्तीति अघशंसा आसुराः, तेषां हन्ता[7]।

**अघ्न्य**<अ + √हन् + क प्रत्यय (–घञर्थे कविधानम्०, वा० पा० ३. ३. ५८. )>अघ्नः (=अहननम्) √हन् का उपधा लोप (–गमहन०, पा० ६. ४. ९८), ह् को घ् (–हो हन्तेः०, पा० ७. ३. ५४) >अघ्न + य प्रत्यय प्रातिपदिकमात्र से होने वाला (–छन्दसि च, पा० ५. १. ६७) अथवा (अघ्न्यादयश्च, उ०सू० ४. १२०) से निपातनात् यक्, प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। अथवा--

घ्न (=हनन) + य प्रत्यय अर्हार्थ में >घ्न्य, न + घ्न्य>अघ्न्य, अव्ययपूर्वपद-प्रकृतिस्वर[8]।

यास्क ने न + √हन्>अघ्न्य तथा अघ + √हन्>अघ्न्य निर्वचन दिए हैं[9]। उणादिवृत्तिकारों[10] में दश० उ० वृत्तिकार, उज्ज्वलदत्त, श्वेतवनवासी, तथा भोज ने

---

१. सा० ऋ० १. ९१. ८. द्र० ४. २. ६

२. ,, १. २७. ३, १२०. ७. द्र० सा० अ० १. २७. १, ७. ५३. १

३. निरु० ६. ११

४. एटि० यास्क पृ० २२, ८५

५. सा० ऋ० १. ४२. ४

६. देव० नि० ३. २४. १३

७. सा० ऋ० ९. २४. ७, २८. ६

८. ,, १. ३०. १९, ३७. ५, ३. ३३. १३

९. निरु० ११. ४३, द्र० देव० नि० २. ११. १

१०. दश० उ० वृ० ८. १४. उज्ज्व० ४. १११, श्वे० ४. १२०, उ० को० ४. १११ सरस्व० २. ३. ४. औ० पदा० ४. १११ पृ० १९०

√हन् से व्युत्पन्न माना है। श्वेतवनवासी ने √अघ् (गति-आक्षेप) से निपातन से भी सिद्ध किया है। पेरुसूरि ने √हन्, अट् का आगम अथवा न + √हन् + यक् से व्युत्पत्ति दी है।

**अंगिरस्—** यह ऋषि का नाम तथा अग्नि का विरुद है। सायण ने मुख्यतः इसकी दो व्युत्पत्तियाँ दी हैं—

(क) अंगार + √सृ (गतौ) + असुन् (उ०सू० ४. २४१), नित्स्वर (पा० ६. १. १९७)।

(ख) √अग् (गतौ) + असुन्, निपातन से सिद्ध।

सायण की पहली व्युत्पत्ति के आधार ब्राह्मण और यास्क हैं[२]। स्कन्द ने अंगानि तद्वत् अंगि + रस>अंगिरस तं करोति अंगिरसयति—इस अर्थ में णिच् (– तत्करोति तदाचष्टे, वा० पा० ३. १. २६) पुनः क्विप्>अंगिरस – व्युत्पत्ति दी है[३]। गोपथ ब्राह्मण में इसे अंग + रस से व्युत्पन्न किया गया है। यह वरुण के अंग से उत्पन्न है[४]।

उणादिवृत्तिकारों में दश० उ० वृतिकार ने असि प्रत्यय से व्युत्पन्न माना है (अंगिराः, उ०सू० ९. ९६), उज्ज्वलदत्त, श्वेतवनवासी ने √अग् (गतौ) + असि तथा प्रत्यय को इरुट् का आगम कर व्युत्पन्न किया है।[५] दुर्गसिंह ने √गृ (निगरणे) + असुन् निपातन से 'अ' पूर्व में, अनुस्वार को ङ् तथा इरादेश से व्युत्पन्न माना है[६]। तिलक ने इसे ग्रीक एग्गिलोस् तथा पर्सियन अंगर से सम्बद्ध माना है[७]।

(तु० IE angiros, messenger, Gr. a'ggilos, a'ggaros messenger, Lat. angelus, Italian. angelo, Goth. aggilus, lith. angelas, Lett. angelis, OHG. angil, Eng. angel, messenger of God. Pers. an˙gara ( = a mounted courier).

---

१. सा० ऋ० १. १. ६, ८३. ४, १००. ४, ३. ३१. ७, ४. ३. १५, ५१. ४, ७. ७५. १, ७९. ३, १०. ६७. २, द्र० सा० अ० १८. ४. ३, ऋ० सा० १. १. ६,

२. ऐ० ब्रा० ३. ३४—येऽगांरा आसंस्तेंऽगिरसोऽभवन्, द्र० श० ब्रा० ४. ५. १. ८, निरु० ३. १७ तथा वही दुर्गाचार्य पृ० ३०७, देव० नि० ५. ५. ११.

३. स्क० ऋ० १. ३१. १

४. गो० ब्रा० १. १. ७-८ तं वरुणं मृत्युमभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपतस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य सर्वेभ्योंऽगेभ्यो रसोऽक्षरत् सोंऽगरसोऽभवत्तं वा एतमंगिरसं सन्तमंगिरा इत्याचक्षते। बृहदा० उप० पृ० १०३—को चास्य अंगिरसोऽगानां हि रसः। श० ब्रा० १४. १. ८ अंगिरसो अंगानाम् हि रसः। जै० उप० ब्रा० २.४.२.८

५. उ० वृ० उज्ज्वलदत्त—४. २३५, श्वे० ४. २४१, सरस्व० २. १. ३४५, उ० को० ४. २३५।

६. उ० वृ० ४. ५८

७. आर्कटिक होम इन द वेदाज् पृ० १६०

**अंगिरस्वत्** <अंगिरस् + वत् ( – तेन तुल्यम्०, पा० ५. १. ११५) प्रत्ययस्वर। भसंज्ञा (नभोऽङ्गिरो०, वा० पा० १. ४. १८. ) होने से रुत्व आदि का अभाव[1]।

**अज** < (क) √अज् + अच् ( – नन्दिग्रहि०, पा० ३. १. १३४) अजति गच्छति इति अजः।

(ख) न + √जन् > अज। न जायते इत्यजः[2]।

देवराज० सायण की प्रथम व्युत्पत्ति से सहमत हैं[3]।

**अजकावत्** < अजका + वत्, अज का एक रोग[4]।

**अजर** < अ + √जॄ (वयोहानौ) + अप् प्रत्यय (ऋदोरप्, पा० ३. ३. ५७), गुण, बहुव्रीहि में उत्तर पद का आदि उदात्त (नञो जर०, पा० ६. २. ११६)[5]।

**अजरयू** < अ ( = न) + जरा (<√जॄ) + क्यच् (सुप आत्मनः क्यच्, पा० ३. १. ८)>अजरय + उ ( – क्याच्छन्दसि, पा० ३. २. १७०) > अजरयु + औ (प्र० द्विव०)[6]।

**अजस्र** <न + √जस् (मोक्षण – उपक्षय – रक्षण – हिंसा) + र प्रत्यय ताच्छीलिक ( – नमिकम्पि०, पा० ३. २. १६७)। नञ के साथ √जस् नैरन्तर्य अर्थ को बताता है। नञ्स्वर[7]। पर राजवाडे के अनुसार ' नित्यानवरताजस्रम् ' (अम० को० १. १. ६६) अर्थ आधुनिक है, ऋग्वेदीय नहीं[8]।

**अजिर** < √अज् (गतिक्षेपणयोः) + इरच् अथवा किरच् प्रत्यय निपातन से (अजिरशिशिर०, उ० सू० १, ५३), अन्तोदात्त ( – चितः, पा० ६. १. १६३ )[9]। दशपादी उ० वृत्तिकार ने न + √जॄष् (वयोहानौ) +

---

१. सा० ऋ० १. ६२. १, ७८. ३, ३. ३१. १९

२. ,, १. ६७. ३, द्र० मा० धा० पृ० १००, ४१५, क्षीर० भ्वा० १४३, ४. ४०, धा० प्र० भ्वा० २२७ पृ० २४

३. देव० नि० १. १५. ५

४. सा० ऋ० ७. ५०. १

५. सा० ऋ० १. ५८. २, १२७. ६, ३. २३. १, ८. ६. ३५, १०. १०६. ६, द्र० अजरा० १. ११३. १३, १४३. ३

६. सा० ऋ० १. ११६. २०, द्र० नी० मं० पृ० ९९

७. ,, ३. २९. ७, ५४. १, द्र० सा० अथर्व सं० ७. ८३. १, मा० धा० दिवा० ११०, क्षीर० दिवा० १०५, सि० कौ० पा० ३. २. १६७ पर – जसि नञ्पूर्वः क्रियासातत्ये वर्तते। अजस्रं सन्ततमित्यर्थः।

८. वर्ड्स् इन ऋग्वेद पृ० ७

९. सा० ऋ० ३. ९. ८, ५. ४७. २, द्र० सा० अ० ३. ४. २, देव० नि० २. १५. १३।

किरच् से भी व्युत्पन्न माना है[1]। ग्रासमान ने √ अज् से व्युत्पन्न माना है[2]।

(तु० Lat. agilis)

**अजुर्यम्** <न + जुर्य < √जॄ (वयोहानौ) + ण्यत्, वृद्धि करने पर आकार को उकार व्यत्यय से अथवा छान्दस, जुर्यं जरा नास्त्यस्येति बहुव्रीहि समास, उत्तरपदान्तोदात्तत्व (नञ्सुभ्याम् पा० ६. २. १७२)[3]।

**अजोष्यः** <न + जोष्य < √जुष् ( प्रीतिसेवनयोः ) + ण्यत् प्रत्यय ( ऋहलोर्ण्यत्, पा० ३. १. १२४), नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[4]।

**अज्म** < √ अज् (गतिक्षेपणयोः) + मन् प्रत्यय बाहुलक (उ०सू० १. १२७), आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)[5]।

(तु० IE ag-men, to drive, Lat. agmen a train[6])

**अज्मन्** < √अज् (गतिक्षेपणयोः) + मनिन् प्रत्यय अधिकरण में (औणादिक) अजन्ति क्षिपन्ति बाणान् अस्मिन्, √ अज् को वीभाव का अभाव—( वलादावार्धधातुके विकल्प इष्यते, वा० पा० २. ४. ५६. ) >अज्मन् + ङि (स० एक०), विभक्ति का लुक् ( सुपां सुलुक् ०, पा० ७. १. ३९ )[7]। वस्तुतः यहाँ औणादिक मनिन् न कर (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५) से भी मनिन् होकर रूप संभव है।

**अज्र** < अ + √ज्रि (अभिभवे)

< √अज् + रक् प्रत्यय ( स्फायितञ्चि०, उ०सू० २. १३ )[8]। वीभाव (अजेर्व्यघञपोः, पा० २. ४. ५६) का बाहुलक अभाव[9]।

**अञ्जिभिः** < √अञ्ज् (व्यक्तिम्रक्षणगति०) + इ प्रत्यय (खनिकष्यञ्जि, उ०सू० ४. १४९)[10]।

**अण्वीः** < √ अण् (शब्दार्थ) + उ प्रत्यय > अणु + ङीन् स्त्री प्रत्यय व्यत्यय से (वोतो गुणवचनात्, पा० ४. १. ४४ से ङीष् प्राप्त) आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्,

---

१. दश० उ० वृ० ८. २७, द्र० वहीं प्रौढमनोरमा - 'दशपादीवृत्तौ नञ्पूर्वस्य जीर्यतेर्ऋवर्णलोपो निपात्यते इत्युक्तं तदपि ग्राह्यम्। द्र० वही – तत्त्वबोधिनी।
२. वोबू पृ० २१।
३. सा० ऋ० १. ६७. १-२, ३. ५३. १५।
४. ,, ,, १. ३८. ५।
५. ,, ,, १. ३७. ८, ८७. ३, द्र० स्क० ऋ० १. ८७. ३, देव० नि० ३. ४. २२।
६. एटि० यास्क पृ० ३९-४०।
७. सा० ऋ० १. ११२. १७, ६५. ५-६।
८. ,, ,, ८. २७. १८, द्र० १०. ६६. ६ तथा १०. २७. ९ पर उद्गीथ।
९. देव० नि० २. १५. २१ तथा वर्ड्स इन ऋग्वेद पृ० ९।
१०. सा० ऋ० १. ३६. १३, ८५. ३।

पा० ६. १. १६७)[1]। निघण्टु में इसका पाठ अंगुलिवाचक शब्दों में किया गया है। देवराज० ने ङीप् प्रत्यय स्वीकार किया है[2]।

**अतप्यमाने**<न + √तप् (ऐश्वर्यकर्मा) + शानच्[3]।

**अतः** <एतत् + तसिल् प्रत्यय (पा० ५. ३. ७)। काशिकाकार के अनुसार (एतदोऽश् पा० ५. ३. ५) शित् होने से सर्वादेश (पा० १. १. ५५) लित्स्वर से अकार उदात्त (लिति, पा० ६. १. १९३)[4]।

**अतथाइव** < तथा इव आचरति = तथाति + क्विप् (वा०पा० ३. १. ११. सर्वप्रातिपदिकेभ्य इत्येके) तथाति + अ>तथा, न + तथा>अतथा, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर (अव्यये नञ्कुनिपातानाम्, वा० पा० ६. २. २)[5]।

**अतस** < √अत् (सातत्यगमने) + असच् प्रत्यय ( – अत्यविचः, उ० सू० ३. ३९७) अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[6]।

**अतसाय्या** <√अत् (सातत्यगमने) + साय्य प्रत्यय (औणादिक) + आट् का आगम >अतसाय्या। आगम के अनुदात्त होने से प्रत्यय का आदि उदात्त[7]। स्कन्द ने पूर्वोक्त व्युत्पत्ति के साथ √तसु उपक्षये से भी व्युत्पन्न माना है[8]। वस्तुतः यहाँ बाहुलक से आय्य प्रत्यय तथा षुक् का आगम >अतसाय्य + टाप् (स्त्री प्रत्यय) >अतसाय्या अथवा स्कन्द की दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार अ + √तस् ( उपक्षये ) + आय्य + टाप् >अतसाय्या होना चाहिए। सायण की साय्य प्रत्यय की कल्पना चिन्त्य है।

**अतिक्रमे** <अति + √क्रम् (पादविक्षेपे) + केन् प्रत्यय (कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः, पा० ३. ४. १४), आद्युदात्त (ञ्नित्यादि०, पा० ६. १. १९७)[9]।

**अतिथि** <√अत् (सातत्यगमने) + इथिन् प्रत्यय ( ऋतन्याञ्जि० उ० सू० ४. २. दश० उ० १. ४४. १०. १२ )। आद्युदात ( ञ्नित्यादि०, पा० ६. १. १९७ )[10]। यास्क ने १ – अभि + √अत् तथा २ – अभि + √इ +

---

१. सा० ऋ० १. ३. ४, ६. १. ७।

२. देव० नि० २. ५. २।

३. सा० ऋ० १. १८५. ४।

४. ,, ,, १. ६. ९, २२. १६।

५. ,, ,, १. ८२. १।

६. ,, ,, ३. ७. ३।

७. ,, ,, १. ६३. ६।

८. स्क० ऋ० वहीं।

९. सा० ऋ० १. १०५. १६।

१०. ,, ,, १. ४४. ४, ४. १. २०, ५. ४. ५, १८. १, ८. ८४. १, द्र० सा० अ० ७. २२. १, मा० धा० भ्वा० ३३, क्षीर० भ्वा० ३३।

तिथि>अतिथि निर्वचन किया है[1]। पेरुसूरि के अनुसार स्मृतियों में अ + तिथि, नञ् बहुव्रीहि, से व्युत्पन्न है[2]।

**अतिथिग्वाय** <अतिथि + √गम् + ड्व प्रत्यय (औणादिक)[3]।

**अतिदिव्य** <अति + √दिव् (क्रीडा०) + ल्यप्[4]।

**अतिस्कदः** <अति + √स्कन्द् (गति-शोषण) + क्विप् भाव में >अतिस्कद् + ङसि (पं० एक०)[5]।

**अतूर्तदक्षा** <√तृ + क्त प्रत्यय निपातित (नसत्तनिषत्तानुत्त०, पा० ८. २. ६१), अ + तूर्त + दक्ष + औ, विभक्ति को डादेश[6]। हेनेस स्कोल्ड ने अ + √तुर्, अ + √त्वर् >अतूर्त बनाया है[7]।

**अतृष्यन्तीः** <न + √तृष् (पिपासायाम्) + शतृ प्रत्यय, स्त्री० >अतृष्यती + जस्, नुमागम पूर्वसवर्णदीर्घ (वा छन्दसि, पा० ६. १. १०६)। अव्ययपूर्वपद-प्रकृतिस्वर (अव्यये नञ्कुनिपातानाम्, बा० पा० ६. २. २)[8]।

**अत्क** <√अत् (सातत्यगमने) + कन् प्रत्यय (इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कः उ० सू० ३. ४३), आद्युदात्त (ञ्नित्यादि, पा० ६. १. १९७)। यह रूपनाम है[9]।

**अत्तवे** <√अद् (भक्षणे) + तवेन् प्रत्यय तुमर्थ में, नित्स्वर (पा० ६. १. १९७)[10]।

**अत्य** <√अत् + यत् प्रत्यय कर्ता में (कृत्यल्युटो बहुलम्, पा० ३. ३. १३ अथवा अघ्न्यादयश्च, उ० सू० ४. १०८)। अतति सततं गच्छति इति अत्यः[11]। निघण्टु में इसकी गणना अश्वनाम में की गई है[12]।

---

१. निरु० ४. ५ अतिथिरभ्यतितो गृहान्भवति, अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा, गृहाणीतिवा। अयमपीतरोऽतिथिरेतस्मादेव, द्र० दुर्गाचार्य वहीं।

२. औ० पदा० ४. १५—

अतिथिः कुशपत्रे स्यात् पुमानागन्तुके त्रिषु।
नञ्बहुव्रीहिरूपेण स्मृतिष्वेव प्रसाधितः॥

३. सा० ऋ० १. ५१. ६, १०. ७।

४. ,, ,, १०. ४२. ९।

५. ,, ,, १०. १०८. २।

६. ,, ,, ८. २६. १।

७. निरु० पृ० १८८।

८. सा० ऋ० १. ७१. ३।

९. ,, ,, १. ९५. ७, १०. ९५. ८।

१०. ,, ,, ३. ३५. ७, १०. १६. १२; द्र० सा० अ० १. ११. ४।

११. ,, ,, १. ५२. १, १२९. २, ५. २५. ६।

१२. नि० १. १४. १।

(तु० IE at. 'togo', Lat. annus, year, fromatnos)[1]

**अत्र** <इदम् + त्रल् प्रत्यय[2]।

**अत्रि** < क—न + त्रि[3]। मातृपित्रात्मसंबन्धिनस्त्रिविधा दोषा न सन्ति अस्मिन्निति अत्रिः[4]।

ख—<√अद् (भक्षणे) + त्रिनि प्रत्यय।

ग—√अद् + √त्रा (<√त्रैङ् पालने) + क प्रत्यय (–आतोऽनुपसर्गे कः पा० ३. २. ३) + इन् (मत्वर्थीय)>अत्रि[5]।

यास्क ने १ – अत्र + त्रि>अत्रि, तथा २ – अ + त्रि>अत्रि निर्वचन किया है[6]। यास्क के प्रथम निर्वचन का आधार श० ब्रा० १४. ५. २. २ है—"तद्धैतद् देवाः रेतः वाचः सकाशात् पतितम् गर्भं० छर्मन्वा यस्मिन् वा बभुस्तद्धस्म पृच्छन्त्यत्रैव त्या३ दिति ततोऽत्रिः सम्बभूव।"

सायण की √अद् + त्रि व्युत्पत्ति का आधार सम्भवतः श० ब्रा० है[7]। सायण ने अपनी दूसरी व्युत्पत्ति में 'त्रिनि' प्रत्यय स्वीकार किया है, नारायण, श्वेतवनवासी, उज्ज्वलदत्त, महादेव वेदान्ती तथा मा० धा० में सायण तथा क्षीर स्वामी ने 'अदेस्त्रिन्' पढ़ा है। पर श्वेतवनवासी और पेरुसूरि ने वृत्ति में 'त्रिप्' स्वीकार किया है[8]। दश० उ० वृ० में भी त्रिनिच् के साथ चकरात् त्रिप् माना गया है[9]। भट्टोजिदीक्षित ने त्रिप् प्रत्यय ही माना है, और यह युक्तिसंगत है[10]।

---

१. एटि० यास्क पृ० ४०।
२. सा० ऋ० १. ११८. ५।
३. ,, ,, १. १३९. ९ (तु० आप० श्रौ० सू० ८ अथैकेषामेकं वृणीते, द्वौ वृणीते, त्रीन् वृणीते, न चतुरो वृणीते तु पञ्च वृणीते न पञ्चातिवृणीते इति विज्ञायते।
४. सा० अ० ४. २९. ३।
५. सा० ऋ० १. ३६. १४, २०. ८६. १०, ६४. ३, ११६. ८, सा० अ० १. ७. ३, ४. १०. २, सा० सा० १. ३. ३।
६. निरु० ३. १७—अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्यूचुस्तस्मादत्रिः, न त्रय इति। द्र० वही दुर्गाचार्य —अत्रैव तृतीयमृच्छत—'इत्यूचुः ये पूर्वोत्पन्नाः ते। तस्मादत्रैव तृतीय इति एतस्मादनुव्याहारात् 'अत्रिः' अभवत्। अथवा एवमन्यथा स्यात्—अत्रिः प्रतिषेधार्थो अकारः।
७. श० ब्रा० १४. ६. २. ६—वागेवात्रिर्वाचाह्यन्नम् अद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद् यदत्रिरिति। द्र० ता० म० ब्रा० ६. ६. ११, २१. ९. २, गो० ब्रा० १. २. १७, १. ३. १९, बृहदा० उप० २. ३. ४, तै० आ० ९-८।
८. श्वे० उ० वृ०—प्रत्ययान्तरवचनं स्वरभेदात्। ननु च त्रिप् प्रत्ययेऽपि पित्त्वात् अनुदात्तत्वम्, त्रिन् प्रत्ययेऽपि नित्वादाद्युदात्तत्वमिति स्वरभेदो नास्ति। एवं तर्हि प्रत्ययान्तरकरणमनर्थकम्। तथा औ० पदा० ४. २४ अत्रीतु भक्षकेऽत्रिश्चादत्रसूत्रे त्रिपामुनौ। अदेस्त्रिन्नित्यदेस्त्रिन्निच्चेति पाठौ त्वनाकरौ।
९. दश० उ० वृ० १. ३७।
१०. प्रौ० मनो० उ० सू० अदेस्त्रिन् ४. ७० पर।

(तु० Av. ātar, Lat. edere, goth iton, Lith. e'sti)

**अत्रिणः** <अतृ + जस्, विभक्ति को छान्दस इनुडागम, ऋकार उदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३), यणादेश, इकार उदात्त (उदात्तयणो हल्पूर्वात्, पा० ६. १. १७४)[१]।

**अथर्व्यम्** < अ + √थर्व् (गतिकर्मा) + यत् प्रत्यय, सायण ने प्रत्यय संकेतित नहीं किया। तित्स्वररित[२]।

**अदत्रा** < √अद् + अत्र (औणादिक), विभक्ति को याजादेश (सुपां सुलुक्० पा० ७. १. ३९)[३]।

**अदब्धः** < न + दब्ध < √दम्भ् (दम्भे) + क्त प्रत्यय, इट् प्रतिषेध (यस्य विभाषा, पा० ७. २. १५), नलोप (– अनिदिताम्०, पा० ६. ४. २४)। धत्व— (झषस्तथोर्धोधः, पा० २. ८. ४०) दब्ध का न के साथ नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[४]। गेल्डनर ने √दभ् से व्युत्पन्न माना है[५]।

**अदब्धासः** < अदब्ध + जस् (प्र० बहु०), असुक् का आगम (आज्जसेरसुक्, पा० ७. १. ५०)[६]।

**अदब्धेभिः** < अदब्ध + भिस् (तृ० बहु०), भिस् को ऐस् का अभाव (बहुलं छन्दसि, पा० ७. १. १०)[७]।

**अदाभ्यासः** < अ + √दभ् (दम्भने) + ण्यत् प्रत्यय (दभेश्चेति वक्तव्यम्, वा० पा० ३. १. १२४. अथवा भा० वा० पा० ३. १. १२४ लपिदभिभ्याम्) >दाभ्य, न दाभ्य इति अदाभ्य, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर (अव्यये नञ्कुनिपातानाम्, वा० पा० ६. २. २)[८]।

**अदिति** < क – न + √दो (अवखण्डने) + क्त प्रत्यय कर्म में, इत्व – (द्यतिस्यतिमास्था०, पा० ७. ४. ४०), नञ्समास।

ख – न + दिति < √दीङ् (क्षये), छान्दस ह्रस्व, नञ्स्वर।

ग – √दाण् (दाने) + क्तिन् प्रत्यय कर्ता में, न + दिति > अदिति[९]।

---

१. सा० ऋ० १. २१. ५।
२. ,, ,, १. ११२. १०।
३. ,, ,, ५. ४६. ३।
४. ,, ,, १. २४. १३, ८९. १, ९५. ९।
५. ऋ० ग्ला० पृ० ५।
६. सा० ऋ० ७. १. ५०।
७. ,, ,, १. ५६. ९
८. ,, ,, १. २२. १८, ३१. १०, ३. ११. ५, ६२. ६, ८. ५५. ५, ९. ७०. ३, द्र० ऋगर्थसार—1.२२.१८, ऋ० ग्ला० पृ० ५।
९. ,, ,, १. ८९. १०, ३. ५४. ८, ४. २. ११, द्र. सा. अ. ७. ६. 1, बृ० दे० २. ४६।

सायण के अनुसार दूसरी व्युत्पत्ति यास्क की है[1]। देवराज० तथा स्कन्द ने √दीङ् से ही व्युत्पन्न माना है[2]।

सायण की तीसरी व्युत्पत्ति सम्भवतः श० ब्रा० पर आधारित है[3]। पर श० ब्रा० में √अद् (भक्षणे) से भी इसका निर्वचन किया गया है, जो मिथकीय व्युत्पत्ति प्रतीत होती है[4]।

नैरुक्तों और इतिहासकारों ने अदिति को देवमाता स्वीकार किया है। इस अर्थ में √दीङ् क्षये अधिक उपयुक्त है, जबकि पृथिवी अर्थ में √दो या √दा अधिक संगत है।

**अदेवत्रात्** < न + देव + √त्रै (पालने)। देवाः अनेन त्रायन्ते स्तुत्यादिना स देवत्रः। न + देवत्रः > अदेवत्रः तस्मात्[5]।

**अद्मसत्** < √अद् + मन्, अद्यते इति अद्म। तस्य पाकाय गृहे सीदति इति अद्मसत् < अद्म + √सद् + क्विप् (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. १७८)[6]। यास्क के अनुसार अद्म गृह नाम है तथा अद्मसत् का अर्थ जननी है। इसका निर्वचन अद्म + √सद् अथवा अद्म + √सन् > अद्मसत् किया है[7]। दुर्ग ने इसे अनवगत की कोटि में रक्खा है[8]। गेल्डनर ने अद्मन + √सद् स्वीकार किया है[9]।

(तु० IE ed. 'to eat', Lat. edo, I eat, and sed. to sit. Lat. sedeo)

**अद्य** < इदम् + द्य, इदम् > अश् + द्य > अद्य (सद्यः परुत्०, पा० ५. ३. २२ पर वा० 'इदमोऽश्भावो द्यश्च) प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त। अद्य + ङि (स० एक०), अव्यय संज्ञा (तद्धितश्चासर्वविभक्तिः, पा० १. १. ३८), विभक्ति का लुक् (अव्ययादाप्सुपः, पा० २. ४. ८२)। संहिता में

---

१. निरु० ४. २२ अदीना देवमाता।

२. देव नि० १. १, १. ११, २. ११, ४. १, ५. ५, स्क० निरु० ४. २२ – द्यतेः क्तिनि द्यतिस्यति, इति त्वेवं सिद्ध्यति अदितिरिति, तथापि द्यतेर्नित्यं विपूर्वत्वान्न त्वयाच्चि (= विपूर्वादनन्वयाच्च) दीङ् क्षये इत्यस्य छान्दसं रूपं द्रष्टव्यम्। तथा चोक्तं न संस्कारमाद्रियेत। द्र० वहीं० दुर्ग०।

३. श० ब्रा० ७. ४. २. ७, अदिरसीतीयं वा अदितिरियम् हीदं सर्वं ददाति। का० सं० ८. २. ४-५।

४. श० ब्रा० १०. ६. ५. ५—स यद् यदेवा असृजत तत्तदत्तुमध्रीयत। सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्। द्र० का० उप० शा० मा० २. १. ७ अदनात् अदितिः।

५. सा० ऋ० ५. ६१. ६।

६. ,, ,, १. २४. ४।

७. निरु० ४. १६. अद्मसत् अद्मान्नं भवति, अद्मसादिनीति वा अद्मसानिनीति वा।

८. दुर्ग० तथा स्क० निरु० वहीं।

९. ऋ० ग्ला० पृ० ६।

(अन्येषामपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७ ) से दीर्घ अथवा ( निपातस्य च, पा० ६. ३. १३६) से[1]।

(तु० IE, ejewos Lat. dīes[2])

**अद्युत्ये** < √द्युत् ( दीप्तौ ) + ण्यत् प्रत्यय ( ऋहलोर्ण्यत्, पा० ३. १. १२४) >द्युत्य>द्यूत्य, वर्ण व्यापत्ति से। न+द्यूत्य>अद्यूत्य द्यूत्यं प्रकाशन-मस्मिन्नास्तीति बहुव्रीहि:। व्यत्यय से अन्तस्वरित[3]। स्कन्द ने अ + √दिव् (विजिगीषा) + यत् ( स्वार्थिक ) > अद्यूतमेव अद्यूत्यम्, व्युत्पत्ति दी है[4]।

**अद्रि** < (क) √अद् (भक्षणे) + क्रिन् प्रत्यय (अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्, उ० सू० ४. ६७) अदन्ति पशवस्तृणादिकमत्र इति अद्रिः। अथवा वज्र अर्थ में अत्ति भक्षयति वैरिणमिति आद्युदात्त (ञ्नित्यादि०, पा० ६. १. १९७)[5]।

(ख) आ + √दृ ( दृङ् आदर ) + कि प्रत्यय (औणादिक) आ>अ = अद्रि[6]। ऋ० सं० में आ + √दृ>अद्रि[7] तथा √अद्>अद्रि[8] व्युत्पत्ति संकेतित है। यास्क ने इसे ही स्वीकार किया है[9]।

**अद्रिजूत** < अद्रि + √जू (सौत्रधातु) + क्त प्रत्यय, पूर्वपदप्रकृतिस्वर (तृतीयाकर्मणि०, पा० ६. २. ४८)[10]।

**अद्रिदुग्ध** < अद्रि + √दुह् (प्रपूरणे) + क्त प्रत्यय, पूर्वपदप्रकृतिस्वर (तृतीया कर्मणि०, पा० ६. २. ४८)[11]।

**अद्रिबुध्न** < अद्रि + √बन्ध् (बन्धने) + न प्रत्यय (बन्धेर्ब्रधिबुधी च, उ० सू० ३. ५) तथा बन्ध् को बुध् आदेश = अद्रिबुध्न। अद्रिर्बन्धको यस्य तादृशः[12]।

**अद्रिवत** < अद्रि + मतुप्, वत्व (छन्दसीरः पा० ८. २. १५) = अद्रिवत्।

**अद्रिवः** < अद्रिवत् + सु ( प्र० एक० ), नुमागम ( उगिदचाम्०, पा० ७. १.७० )

---

१. सा० ऋ० १. १३. २, ६, ३. १४. ५।
२. एटि० यास्क प्र० ६, ४०।
३. सा० ऋ० १. ११२. २४।
४. स्क० ऋ० वहीं।
५. सा० ऋ० १. ७. ३, ५१. ३, द्र० मा० धा० अदा० १, तथा क्षीर० वहीं।
६. ,, ,, १. ११८. ३।
७. ऋ० सं० ४. १. १४ – ते मर्मृजत ददृवांसो अद्रिम्।
,, ,, ४. १६. ८—अयो यदद्रि पुरुहूत, दर्दः।
८. ,, ,, १०. १४. १।
९. निरु० ४. ४—अद्रिरादृणात्यनेनापि वात्तेः स्यात्।
१०. सा० ऋ० ३. ५८. ८।
११. ,, ,, १. ५४. ९।
१२. सा० ऋ० १०. १०८. ७।

हल्ङ्यादिसंयोगान्तलोप, ( मनुवसो रु संबुद्धौ छन्दसि, पा० ८. ३. १ ) से रुत्व, विसर्जनीय = अद्रिवः[1] ।

**अद्रुहः** (क) √द्रुह् (जिघांसा) + क्विप् प्रत्यय भाव में (संपदादिभ्यः क्विप्, वा० पा० ३. ३. ९४ ), न + द्रुह् > अद्रुह्, तत्पुरुष में अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर, बहुव्रीहि में उत्तरपदान्तोदात्तत्व (नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२) ।

(ख) √द्रुह् + क्विप् (औणादिक) न + द्रुह् > अद्रुह्[2] ।

**अद्रोघ** < अ + √द्रुह् (जिघांसा) + घञ् प्रत्यय, छान्दस ह् को घकार, न + द्रोघ > अद्रोघ, उत्तरपदान्तोदात्त ( नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२ )[3] । (तु० अवे० द्रुग् (√द्रुह्), प्रा० पा० द्रौक्, अं० ड्रीम ।

**अद्वयन्तम्** < न + द्वय + क्विप् (सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः, वा० पा० ३. १. ११), द्वयमिवाचरति इस अर्थ में, द्वय + शतृ > द्वयन्, न + द्वयन् = अद्वयन् + अम् (द्वि० एक०), तत्पुरुष में नञ्स्वर[4] ।

**अद्वयाविन्** < अ + द्वय + विनि प्रत्यय मत्वर्थीय (बहुलं छन्दसि, पा० ५. २. १२२), दीर्घ (अन्येषामपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७) > अद्वयाविन्[5] ।

**अद्विषेण्य** < अ + √ द्विष् + केन्य प्रत्यय ( कृत्यार्थे तवैकेन्०, पा० ३. ४. १४ ) उत्तरपदान्तोदात्त (नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२)[6] ।

**अधस्** < अधर + असि प्रत्यय तथा प्रकृति को अधादेश, ( पूर्वाधरावराणामसि, पा० ५. ३. ३९)[7] ।

**अधो अक्षाः** < अधस् + अक्ष < √ अश् (व्याप्तौ) + स प्रत्यय (अशेर्देवने, उ० सू० ३. ६३) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[8] ।

**अधमम्** < √ अव् (रक्षणे ) + अमच् प्रत्यय तथा व् को धादेश (अवद्यावमाधमार्वरेफाः कुत्सिते, उ० सू० ५. ५४), अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[9] । दुर्गसिंह ने न + √ धा (धाञ् ) + मक् > अधम व्युत्पत्ति दी है[10] ।

**अधिवक्ता** < अधि + √ वच् (परिभाषणे) + तृच् प्रत्यय (अर्हे कृत्यतृचश्च, पा०

---

१. सा० ऋ० १. १०. ७, ११, ५, १२१. १०, ३. ३७. १, ४१. १ ।

२. ,, ,, १. ३. ९, १९. ३, ३. ६. ४, १०. ६६. ८ ।

३. ,, ,, ३. १४. ६ ।

४. ,, ,, ३. २९. ५ ।

५. ,, ,, १. १५६. ३ ।

६. ,, ,, १०. १२२. १ ।

७. ,, ,, ३. ५३. ६, १०. ११९. १२ ।

८. ,, ,, ३. ३३. ९ ।

९. ,, ,, १. २४. १५, द्र० सा० सा० ६. १. ५ ।

१०. उ० वृ० १. ५५ ।

३. ३. १६६), अधिकं वक्ता बहुमानेन वक्ता भवति यद्वा धनदानेनास्मानधिकं वक्तुमर्हति, अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[1]।

**अधिषवण्या** < अधि + √ सु (अभिषवे) + ल्युट् प्रत्यय > अधिसवन + यत् प्रत्यय (भवे छन्दसि, पा० ४. ४. ११०), मूर्धन्यादेश (उपसर्गात्सुनो०, पा० ८. ३. ६५); तित्स्वरित (तित्स्वरितम्, पा० ६. १. १८५)[2]।

**अध्रिगो** < अधृत + गौ < √ गम् + डो प्रत्यय भाव में (गमेर्डोः, उ० सू० २. ६८) अधृता गौर्येन = अध्रिगु, उपसर्जनह्रस्व (गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य, पा० १. २. ४८), पृषोदरादित्वात् ( पा० ६. ३. १०९ ) अधृत को अध्रिभाव = अध्रिगु + सु (सं० एक०)[3]। यास्क ने अधि + गो तथा अ + √धृ + गो > अध्रिगु निर्वचन किया है[4]। दुर्ग ने इसे अनवगत माना है[5]। देवराज० ने 'अधिकृत + गौ' ( अधिकृत > अध्रि > ), 'अधि + गो' तथा 'अधृत + गो' से व्युत्पन्न माना है[6]। सायण की व्युत्पत्ति सम्भवतः यास्क के दूसरे निर्वचन पर आधारित है।

(तु० IE ĝeu, to speed' तु० संस्कृत जव, अवे० जव : (शक्ति)[7]।

**अध्वन्** < √ अद् ( भक्षणे ) + क्वनिप् ( अदेर्धच, उ० सू० ४. ११५ ) अनुदात्त ( अनुदात्तौ सुप्पितौ, पा० ३. १. ४ )[8]। पेरुसूरि ने √ अत् से व्युत्पन्न माना है[9]।

**अध्वर** < न + √ ध्वृ ( हिंसा, हूर्च्छन ) + घ प्रत्यय (पुंसि संज्ञायाम्०, पा० ३. ३. ११८), न विद्यते ध्वरो यस्मिन् > अध्वर, बहुव्रीहिसमास उत्तरपदान्तोदात्तत्व (नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२)[10]। सायण की यह व्युत्पत्ति ब्राह्मण

---

१. सा० ऋ० ८. ९६. २०।
२. ,, ,, १. २८. २।
३. ,, ,, अध्रिगवे १. ६१. १, अध्रिगो ३. २१. ४, ५. १०. १, सा० सा० ३. ४. १, सा० अ० २०. ३५. १।
४. निरु० ५. ११।
५. दुर्गाचार्य निरु० वहीं।
६. देव० नि० ४. २. ४३।
७. एटि० यास्क पृ० १२४ तथा पाद टिप्पणी।
८. सा० ऋ० अध्वभिः—१. २३. १६, द्र० मा० धा० अदा० १, क्षीर० वहीं।
९. औ० पदा० ४. ११५।
१०. सा० ऋ० १. १. ४, १५. ७, १६. ३, १८. ८, २७. १, ४४. २, ४८. ११, ३. ८. १, सा० अ० १. ४. २, द्र० स्क० ऋ० १. १. ४, १५. ७।

एवं यास्क पर आधारित है[१]। खोंदा अध्वर शब्द को अध्वन् से सम्बद्ध मानते हैं[२]। अभयदेव इस मत को उचित नहीं मानते[३]।

(तु० IE. n̥dh_ 'togo', Pali : andhati' वह जाता है, Gr. anēnothen 'he comes forth')[४]

**अध्वरश्रियः** < अध्वर + √ श्रि ( श्रिञ् सेवायाम्, सौत्रधातु ) + क्विप्, दीर्घ (क्विब्वचि०, उ० सू० २. १५७) > अध्वरश्री + जस् ( प्र० बहु० ) इयङादेश (अचिश्नुधातु०, पा० ६. ४. ७७)[५]।

**अध्वरीयताम्** < अध्वर + क्यच् ( सुप आत्मनः क्यच् पा० ३. १. ८ ) ईत्व (क्यचि च, पा ७. ४. ३३) > अध्वरीय + शतृ, शप् > अध्वरीयत्, शप् अनुदात्त (अनुदात्तौ०, पा० ३. १. ४) तथा शतृ 'ल सार्वधातुकस्वर से, क्यच् के साथ एकादेश होने पर अन्तोदात्त (एकादेश उदात्तेनोदात्तः, पा० ८. २. ५) अध्वरीयत् + आम् (ष० बहु०), (शतुरनुमो नद्यजादी, पा० ६. १. १७३) से विभक्ति को उदात्त[६]।

**अध्वर्यु** < अध्वर + क्यच् प्रत्यय (छन्दसि परेच्छायाम्, वा० पा० ३. १. ८) अध्वर के अन्त्य अकार का लोप (कव्यध्वर०, पा० ७. ४. ३९) > अध्वर + उ (क्याच्छन्दसि, पा० ३. २. १७०) > अध्वर्यु, प्रत्ययस्वर (आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३)[७]। यास्क ने दो निर्वचन दिये हैं :

क—अध्वर + यु

ख—अधि + इ ( अध्ययने ) + यु प्रत्यय[८]।

स्कन्द ने चार व्युत्पत्तियाँ दी हैं[९]—

१—अध्वर + √ युज्,

---

१. श० ब्रा० १. ४. १. ४०, तै० सं० ३. २. २. ३—अध्वर्तव्या वा इमे त्वा अभूवन्निति तदध्वरस्याध्वरत्वम्। द्र० निरु० १. ८—अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरति हिंसा तत्प्रतिषेधः।

२. वि० इ० ज ३ (२) सितम्बर ६५, पृ० १६३-१७७।

३. गु० प० २१. १-२, १९६८, पृ० १३०, १८६।

४. एटि० यास्क पृ० ७३।

५. सा० ऋ० १. ४७. ८, अध्वरश्रियम् १. ४४. ३।

६. ,, ,, १. २३. १६, द्र० सा० अ० १. ४. १।

७. ,, ,, २. १४. १, ३. ३५. १०, ४६. ५, द्र० सा० अ० १८. ४. १५।

८. निरु० १. ८—अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेता अध्वरं कामयत इति वापि वाधीयाने युरुपबन्धोऽध्वर इति यज्ञनाम-ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः।

९. स्क० निरु० १. ८।

२—अध्वर + √ या ( प्रापणे ) + यु ( नयति का समानार्थक )

३—अध्वर + क्यच् + उ

४—अध्वर + यु ( तदधीते तद्वेद, पा० २. २. ५८ )।

श्वेतवनवासी ने अध्वरं यातीति अर्थ में अध्वर < अध्वर + √ या (प्रापणे) + कु प्रत्यय, √ या के आकार का लोप (आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४) तथा पृषोदरादि से (पा० ६. ३. १०९) अध्वर के अन्त्य अकार का लोप, व्युत्पत्ति दी है, जब कि उज्ज्वलदत्त अध्वर + क्यच् + उ से व्युत्पन्न मानते हैं। भोज ने न + ध्वर + युस् प्रत्यय से व्युत्पन्न माना है[1]।

**अनुड्वन्तु** < अनस् + √ वह् ( प्रापणे ) + क्विप् प्रत्यय तथा अनस् के सकार को डकार (अनसि वहेः क्विबनसो डश्च, तु० सरस्व० २. १. ३४९) > अनड् + वह्, सम्प्रसारण > अनडुह् + सुप् (स० बहु०), ह् को द् (वसुस्रंसु०, पा० ८. २. ७२), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[2]।

**अनन्तशुष्म** < न + अन्त + शुष्म, नास्ति अन्तोऽस्येति अनन्तः, उत्तरपदान्तोदात्त (नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२)। अनन्तः शुष्मो बलं येषाम्, बहुव्रीहि-समास, पूर्वपदप्रकृतिस्वर[3]।

**अनर्वन्** < √ ऋ ( गतौ ) + वनिप् प्रत्यय भाव में ( अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. १७८ ) > अर्वन्, न + अर्वन् > अनर्वन्, बहुव्रीहिसमास, उत्तर-पदान्तोदात्त ( पा० ६. २. १७२)[4]।

**अनर्विश्** (क) < अनस् + √ विश् ( प्रवेशने) + क्विप् अनस् के सकार को रुत्व (अहरादीनां पत्यादिषूपसंख्यानम्, वा० पा० ८. २. ७०) > अनर्विश् अनसा विशति प्राप्नोति इति अनर्विट्।

(ख) – √ ऋ ( गतौ ) + विच् > अर्विट्, न + अर्विट् > अनर्विट् – अरं गन्तव्यं प्रति विशति प्राप्नोतीति अर्विट्। न अर्विट् अनर्विट्। अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर।

शाकल्य ने व्युत्पत्ति के अनवधारण से अवग्रह नहीं किया है[5]।

**अनवद्य** < अ + √ वद् + यत् प्रत्यय निपातित (अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानि-

---

१. उ० वृ० श्वे० १. ३७, उज्ज्वलदत्त, १. ३८, सरस्व० २. १. ८८, उ० म० दी० १. ३६ पृ० ४०।

२. सा० ऋ० ३. ५३. १८।

३. ,, ,, १. ६४. १०।

४. ,, ,, १. ३७. १, ९४. २, द्र० १. ५१. १२, ११६. १६, स्क० ऋ० १. ९४. २, नी० मं० पृ० ९७, स्क० निरु० ६. २३।

५. ,, ,, ० विशे, १. १२१. ७।

रोधेषु, पा० ३. १. १०१) > अवद्य, न अवद्यः, अनवद्यः। उत्तरपदान्तोदात्त (नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२)[1]।

**अनवभ्रराधसः** < अव + ✓ भ्रंश् (अधःपतने) + ड प्रत्यय (डोऽन्यत्रापि दृश्यते, वा० पा० ३. ३. ४८) > अवभ्र, न + अवभ्र = अनवभ्र + राधस्, अवभ्रंशनमवभ्रः। नास्त्यनवभ्रो यस्येति। अनवभ्रं भ्रंशन-रहितं राधो धनं येषां ते – अनवभ्रराधसः[2]।

**अनागान्** < आगस् + विनि (अस्मायामेधा०, पा० ५. २. १२१), विनि का लुक् (विन्मतोर्लुक्, पा० ५. ३. ६५), न + आगस् > अनागस् न विद्यते आगः पापं यस्य सोऽनागाः। बहुव्रीहिसमास ( नञोऽस्त्यर्थानाम्, वा० पा० २. २. २४), बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर (बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्०, पा० ६. २. १)। अनागस् + शस् ( द्वि० बहु० ) छान्दस सकारलोप, सवर्णदीर्घ, नत्व (तस्माच्छसो नः पुंसि०, पा० ६. १. १०३)[3]। आगस् < आ + ✓ गम् + असुन्[4]।

**अनागास्त्वे** < अनागस् + त्व ( तस्य भावस्त्वतलौ, पा० ५. १. ११९ ), छान्दस उपधादीर्घ ( अन्येभ्योऽपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७ ), सप्त० एक०[5]।

**अनानुदः** < (क) – अनु + ✓ दो ( अवखण्डने ) + क प्रत्यय ( आतश्चोपसर्गे, पा० ३. १. १३६ ), न + अनुद > अननुद, नास्ति अनुदः अस्येति बहुव्रीहिः, उत्तरपदान्तोदात्त ( नञ्सुभ्याम् पा० ६. २. १७२ )।

(ख) –अनु + ✓ दा ( दाने ) + क प्रत्यय, अनु पश्चात् ददाति इति अनुदः, स नास्ति यस्य स तथोक्तः। संहिता में छान्दस दीर्घ[6]।

**अनामृण** < अ + ✓ मृण् ( हिंसने ) + क प्रत्यय (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः, पा० ३. १. १३५ ), मृणन्ति हिंसन्तीति मृणाः, ( न मृणाः अमृणाः), नास्ति अमृणाः अस्य, बहुव्रीहि समास, उत्तरपदान्तोदात्त (नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२)[7]। गेल्डनर ने आ + ✓ मृण से व्युत्पन्न माना है[8]।

**अनारम्भणे** < आ + ✓ रभ् + ल्युट् प्रत्यय कर्म में ( कृत्यल्युटो बहुलम्, पा० ३.

---

१. सा० ऋ० १. ६. ८, ७३.३।
२. ,, ,, २. ३४. ४, ३. २६. ६।
३. ,, ,, अनागसः १. २४. १५, गान् ३. ५४. १९।
४. निरु० ११. २४—आगः आङ् पूर्वाद्गमेः।
५. सा० ऋ० १. १०४. ६।
६. ,, ,, १. ५३. ८, २. २१. ४, द्र० सा० अ० २०. २१. ८।
७. ,, ,, १. ३३. १, द्र० स्क० वहीं।
८. ऋ० ग्ला० पृ० ८।

३. ११३ ), आरभ्यते इत्यारम्भणम्, उत्तरपदान्तोदात्त ( नञ्सुभ्याम्, ६. २. १७२)[1]।

**अनाशस्त** < आ + ✓ शंस् ( स्तुतौ ) + क्त प्रत्यय भाव में > आशस्त इट् प्रतिषेध ( यस्य विभाषा, पा० ७. २. १५) न + आशस्त, बहुव्रीहि, उत्तरपदान्तोदात्त ( नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२ )[2]।

**अनास्थाने** < आ + ✓ स्था ( गतिनिवृत्तौ ) + ल्युट् प्रत्यय कर्म में, न + आस्थान, बहुव्रीहि समास, उत्तरपदान्तोदात्त (नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२)[3]।

**अनिवृतः** <नि + ✓वृ (वरणे) + क्त प्रत्यय, न निवृतः, अनिवृतः। नि + ✓ वृ का अर्थ निवारण होता है। नञ्स्वर[4]।

**अनिवेशनानाम्** <नि + ✓विश् (प्रवेशने) + ल्युट् प्रत्यय ( करणाधिकरणयोश्च, पा० ३. ३. ११७ ) न + निवेशन>अनिवेशन – निविशन्तेऽस्मिन् इति निवेशनम् स्थानम्, तद्रहितानाम्। उत्तरपदान्तोदात्त (पा० ६. २. १७२)[5]।

**अनिषंगाय** <नि + ✓षञ्ज् (संगे)। न विद्यते निषङ्गोऽस्य तस्मै उत्तरपदान्तोदात्त (नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२)[6]।

**अनु** < ✓अन् ( प्राणने ) + उ प्रत्यय बाहुलक ( अणश्च, उ० सू० १. ८ ) नित् की अनुवृत्ति कर आद्युदात्त (ञ्नित्यादि०, पा० ६. १. १९७)[7]।

**अनुग्मन्** <अनु + ✓गम् + शतृ, शप् तथा उसका लुक् (बहुलं छन्दसि, पा० २. ४. ७३), उपधालोप (गमहन० पा० ६. ४. ९८), प्रादिसमास, शतृ स्वर[8]।

**अनुत्तम्** <अ + ✓नुद् (प्रेरणे) + क्त प्रत्यय, निपातन से निष्ठा को नत्वाभाव (नसत्त निषत्त०, पा० ८. २. ६१)[9]।

**अनुनोनुवतः** <अनु + ✓नु + यङ्लुगन्त + शतृ। अनुक्रमेण पुनः पुनः स्तुतिं कुर्वन्तः[10]।

---

१. सा० ऋ० १. ११६.५।
२. ,, ,, अनाशस्ता इव १. २९. १।
३. ,, ,, १. ११६. ५।
४. ,, ,, ३. २९. ६।
५. ,, ,, १. ३२. १०।
६. ,, ,, १. ३१. १३।
७. ,, ,, अनुषु १. १०८. ८।
८. ,, ,, ३. ३९. ५।
९. ,, ,, १. ८०. ७, अनुत्ताः ३. ३१. १३।
१०. ,, ,, ८. ९२. ३३।

**अनुपक्षित** <न + उपक्षित<उप + √क्षि (क्षये) + क्त प्रत्यय; तत्पुरुष समास, अव्यय-पूर्वपदप्रकृतिस्वर[1] ।

**अनुभर्त्री** <अनु + √हृ (हृञ्-हरणे) + तृच प्रत्यय<अनुहर्तृ, हकार को भकार छान्दस (हृग्रहोर्भश्छन्दसि, वा० पा० ३. १. ८४) = अनुभर्तृ + ङीप् (ऋन्नेभ्यो ङीप् पा० ४. १. ५), ईकार उदात्त (उदात्तयणो हल्पूर्वात्, पा० ६. १. १७४)[2] । स्कन्द ने √भृञ् (धारण) से व्युत्पन्न माना है[3] ।

**अनुमाद्यासः** <अनु + √मद् (स्तुतौ) + णिच् = अनुमादि + यत् प्रत्यय (अचो यत्, पा० ३. १. ९७), आद्युदात्त (यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३)[4] ।

**अनुशासता** <अनु + √शास् (अनुशिष्टौ) + शतृ प्रत्यय, अभ्यस्तसंज्ञा (जक्षित्यादयः षट्, पा० ६. १. ६), आद्युदात्त (अभ्यस्तानामादिः, पा० ६. १. १८९), अनुशासत् + औ (प्र० द्वि०) विभक्ति को आकार (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९)[4] ।

**अनुष्ठाः** <अनु + √स्था (गतिनिवृत्तौ) + क प्रत्यय (आतश्चोपसर्गे, पा० ३. १. १३६), षत्व (उपसर्गात् सुनोति०, पा० ८. ३. ६५)> अनुष्ठ + टाप् (स्त्री प्रत्यय)>अनुष्ठा + शस् (द्वि० बहु०)[6] ।

**अनुष्ठु** <अनु + √स्था (गतिनिवृत्तौ) + कु प्रत्यय बाहुलक (अपदुस्सुषु स्थः, उ० सू० १. २५)[7] ।

**अनुष्ठुया** <अनुष्ठु + टा (तृ० एक), विभक्ति को याजादेश (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९)[8] ।

**अनुष्यदे** <अनु + √स्यन्द् (प्रस्रवणे) + केन् प्रत्यय (कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः, पा० ३. ४. १४)[8] ।

**अनुष्वधम्** <अनु + स्वधा, स्वधामनुवर्तमानम्, समास (अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया वा० पा० १. ४. ७९), संहिता में षत्व (पूर्वपदात् पा० ८. ३. १०६), अन्तोदात्त (निरुदकादीनि च, पा० ६. २. १८४)[10] ।

---

१. सा० ऋ० ३. १३. ७ ।
२. ,, ,, १. ८८. ६ ।
३. स्क० ऋ० वहीं ।
४. सा० ऋ० १. ११५. ३. द्र० स्क० ऋ० १. ११५. ३, ६. ३४. २ ।
५. ,, ,, १. १३९. ४ ।
६. ,, ,, १. ५४. १० ।
७. ,, ,, १. ९५. ३ ।
८. ,, ,, ४. ४. १४ ।
९. ,, ,, २. १३. २ ।
१०. ,, ,, ३. ४७. १ ।

**अनुसेषिधत्** <अनु + √सिध् (गत्याम्) + यङ् प्रत्यय (धातोरेकाचः ०, पा० ३. १. २२), यङ् का लुक् (यङोऽचि च, पा० २. ४. ७४), प्रत्यय-लक्षण से (सन्यङोः, पा० ६. १. ९) से द्विर्भाव, हलादिशेष, अभ्यास को गुण (गुणो यङ्लुकोः, पा० ७. ४. ८२), षत्व (इण्कोः, पा० ८. ३. ५७), >अनुसेषिध् धातुसंज्ञा (सनाद्यन्ता धातवः, पा० ३. १. ३२), अनुसेषिध् + शतृ प्रत्यय शप् (कर्तरि शप्, पा० ३. १. ६८), शप् का लुक्, (नाभ्यस्ताच्छतुः, पा० ७. १. ७८) से नुम् का प्रतिषेध, अभ्यास को आद्युदात्त (अभ्यस्तानामादिः, पा० ६. १. १८९)[1]।

**अनूक्य** < अनु + √ उच् ( समवाये ) + ण्यत् प्रत्यय = अनूच्य > अनूक्य कुत्व ( चजोः कु घिण्यतोः, पा० ७. ३. ५२ ), उच्यते समवेयत इति अस्थ्नः संधिरनूक्यः, उच्यन्ति समवयन्ति अस्थीनि अस्मिन्निति अनूक्यं संधिः। तित्स्वर ( तित्स्वरितम्, पा० ६. १. १८५ )[2]।

**अनूची** < अनु + √ अञ्च् + क्विन् प्रत्यय ( ऋत्विक्०, पा० ३. २. ५९ ), नलोप ( अनिदितां हल०, पा० ६. ४. २४ ) + ङीप् अकारलोप ( अचः, पा० ६. ४. १३८), दीर्घ (चौ, पा० ६. ३. १३८) > अनूची, ङीप् उदात्त ( अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः, पा० ६. १. १६१ ), प्र० ए० में विभक्ति-लुक्[3]।

**अनूरुत्** < अनु + √ रुध् ( अनोरुधकामे ) + क्विप् प्रत्यय, दीर्घ ( अन्येषामपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७ ) कृत्स्वर[4]।

**अनृक्षरा** < √ ऋष् ( ऋषी गतौ ) + क्सरन् प्रत्यय ( तन्यृषिभ्यां क्सरन्, उ० सू० ३. ७२ ) > ऋक्षर, कित् होने से गुणाभाव, कत्व ( पा० ८. २. ४१ ) षत्व ( पा० ८. ३. ५९ ) क् + ष् = क्ष् > ऋक्षर, न + ऋक्षर = अनृक्षर, नुट् का आगम (तस्मान्नुडचि०, पा० ६. ३. ७४), उत्तरपदान्तोदात्त ( नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२ ) ऋषन्ति गच्छन्तीति ऋक्षराः कण्टकाः, न विद्यन्ते ऋक्षरा अस्मिन्निति अनृक्षरः। स्त्री रूप अनृक्षरा[5]। यास्क ने √ऋच्छ् से निर्वचन किया है[6]।

**अनेद्य** < √ निद् ( कुत्सायाम् ) + ण्यत् प्रत्यय ( ऋहलोर्ण्यत्, पा० ३. १. १२४ )

---

१. सा० ऋ० १. २३. १५।
२. ,, ,, १०. १६३. २, द्र० सा० अ० २. ३३, २।
३. ,, ,, १. ११३. २।
४. ,, ,, ३. ५५. ५।
५. ,, ,, १. २२. १५, अनृक्षरः १. ४१. ४।
६. निरु० ९. ३२-ऋक्षरः कण्टकः ऋच्छतेः।

= नेद्य, न + नेद्य > अनेद्य, नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[१]।
गेल्डनर ने √ निद् तथा √ निन्द से व्युत्पन्न माना है[२]।

**अनेहस्** < न + √ हन् ( हिंसागत्योः ) + असुन् प्रत्यय तथा धातु को एह आदेश (नञि हन एह च, उ० सू० ६. ८३, पं० पा० ४. २२६ ), नलोप ( नलोपो नञः, पा० ६. ३. ७३), नुट् का आगम (तस्मान्नुडचि०, पा० ६. ३. ७४), न हन्यते इति अनेहाः। उत्तरपदान्तोदात्त (नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२)[३]।

उणादिवृत्तिकारों में केवल भोज तथा दुर्गसिंह ने न + √ ईह् ( चेष्टायाम् ) न ईहते अनेहाः – व्युत्पत्ति दी है[४]। सायण के असुन् प्रत्यय की संगति मात्र दुर्गसिंह से है, शेष सभी 'असि' प्रत्यय स्वीकार करते हैं, क्योंकि ( मिथुने असिः पूर्ववच्च सर्वम्, उ० सू० ४. २२८ से) 'असि' का अधिकार चलता है। नित् होने से (असुन्) आद्युदात्त की आपत्ति होने लगेगी। ग्रासमान – न + एहस् < √ ईह् ऐसा मानते हैं[५]।

**अन्तः** < √ अम् ( गतौ ) + तन् प्रत्यय ( हसिमृग्रि०, उ० सू० ३. ८२ ) अमति समाप्नोति अनेनेति – अन्तम्। आद्युदात्त ( ञ्नित्यादि०, पा० ६. १. १९७)[६]। यास्क ने √ अन् से निर्वचन किया है[७]।

**अन्तःपेय** < अन्तस् + पेय < √ पा ( पाने ) + यत् प्रत्यय भाव में, पा को ईत्व ( ईद्यति, पा० ६. ४. ६५ ), गुण, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[८]।

**अन्तर्वावत्**<(क) – √ वा ( गतिगन्धनयोः ) + विच् प्रत्यय (आतो मनिन्० पा० ३. २. ७४ ), अन्तर् + वा, अन्तर्वान्ति गच्छन्तीति अन्तर्वाः। अन्तर्वा + मतुप् ( तदस्यास्त्य०, पा० ५. २. ९४ ) मतुप् अनुदात्त (अनुदात्तौ०, पा० ३. १. ४ ), समास में कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर।

(ख) √ वावद् + क्विप् > वावत्, अन्तर् + वावत् > अन्तर्वावत्[९]। स्कन्द ने √ वा ( गतिगन्धनयोः ) + यङ्लुक् + शतृ > वावत् रूप व्युत्पन्न माना है[१०]।

---

१. सा० ऋ० १. ८७. ४।
२. ऋ० ग्ला० पृ० ६।
३. सा० ऋ० अनेहसम्-, १. ४०. ४, ३. ५१. ३, द्र० स० अ० अनेहा ६. ८४. ३।
४. सरस्व २. १. ३४५, उ० वृ० दुर्गसिंह ४. ५८।
५. वो बू० ६२।
६. सा० ऋ० १०. १११. ८।
७. निरु० ४. २५—अन्तोऽततेः।
८. सा० ऋ० १० १०७. ९, द्र० ऋ० ग्ला० पृ० ६।
९. ,, ,, १. ४०. ७।
१०. स्क० ऋ० वहीं।

**अन्तकध्रुक्** < अन्तक + √ द्रुह् ( जिघांसायाम् ) + क्विप् ( सत्सूद्विष०, पा० ३. २. ६१) ह् को घ् ( वा द्रुह् मुह०, पा० ८. २. ३३ ) भष्भाव[1]।

**अन्तम** < अन्त + ठन् प्रत्यय ( अत इनिठनौ, पा० ५. २. ११५ ), अन्तोऽस्यास्तीति अन्तिकः, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७), अन्तिक + तमप् (अतिशायने०, पा० ५. ३. ५५), अतिशयेन अन्तिकः इस अर्थ में, 'तिक' का लोप (तमे तादेशश्च, वा० पा० ६. ४. १४९.)[2]।

**अन्तरिक्षप्रा** < अन्तरिक्ष + √ प्रा ( पूरणे ) + विच् प्रत्यय ( आतो मनिन्०, पा० ३. २. ७४, च शब्दात्)[3]।

**अन्तरिक्षप्रुद्भिः** < अन्तरिक्ष + √ प्रु ( प्रुङ् गतौ ) + क्विप् प्रत्यय ( क्विप् च, पा० ३. २. ७६ ), तुक् का आगम ( ह्रस्वस्य०, पा० ६. १. ७१ ) > अन्तरिक्षप्रुत् + भिस् ( तृ० बहु० )[4]।

**अन्ति** < अन्तिक, क लोप (कादिलोपो बहुलम्, वा० पा० ६. ४. १४९) आद्युदात्त[5]।

**अन्तितः** < अन्तिक + तस्, कादिलोप, आद्युदात्त[6]।

**अन्त्यूतिम्**<अन्तिक + ऊतिम्, क लोप (कादिलोपो बहुलम्, वा० पा० ६. ४. १४९)[7]।

**अन्धस्** < √ अद् ( भक्षणे ) + असुन् प्रत्यय, धातु को नुम् का आगम तथा धकारान्तादेश ( अदेर्नुम् धश्च, उ० सू० ४. २११ ), अद्यते अत्तीति वा अन्धः[8]। निघण्टु ( २. ७. १ ) में यह अन्न वाचक है।

यास्क के अनुसार आ + √ ध्यै, ( यकार तथा आकार का लोप, उपसर्ग को ह्रस्व, धातु को नुट् का आगम ) व्युत्पत्ति है[9]। क्षीर स्वामी ने √ अन् + असुन्, तथा धातु को धुक् का आगम – अनित्यनेनान्धः – व्युत्पत्ति दी है[10]। सायण की व्युत्पत्ति का आधार सम्भवतः तै० उप० है[11]।

---

१. सा० ऋ० १०. १३२. ४।

२. ,, ,, १. ४. ३, २७. ५, ३. १० ८, ५५. ८, ८. ५. १८, १३. ३।

३. ,, ,, १. ५१. २।

४. ,, ,, १. ११६. ३, द्र० स्क० वहीं, ऋ० ग्ला० पृ० ९, वर्डस् इन ऋग्वेद पृ० ६६।

५. ,, ,, १. ७९. ११, ८४. १७, ८९. ९, ९४, ९, २. २७. ३, ४. ४. ३, द्र० अन्त्यूतिम् १. १३८. १।

६. ,, ,, २. २७. १३, १०. ११४. ४।

७. ,, ,, १. १३८. १।

८. ,, ,, १. ६. १, ५२. २, ८२. ५, ३. ३५. १, ४०. १, द्र० सा० अ० ६. २. २।

९. निरु० ५. १—अन्ध इत्यन्ननामाध्यानीयं भवति। द्र० वहीं दुर्ग—अनेकार्थमनवगतम्।

१०. देव० नि० २. ७. १।

११. तै० उप० ३. २. २.—अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते।

**अन्न** < √ अद् ( भक्षणे ) + न प्रत्यय, नित् मानकर आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७ ) अद्यत इति अन्नम्[1]। यास्क ने आ + √ नम् तथा √अद् से निर्वचन किया है[2]। पेरुसूरि ने निपातनात् (पा० ५. २. ७१) व्युत्पन्न माना है[3]।

**अन्वर्तिता** < अनु + √ ऋ (वृणा अर्थ में सौत्र धातु ) + तृच् प्रत्यय[4]।

**अन्वेतवै** < अनु + √ इ ( इण् गतौ ) + तवै प्रत्यय ( तुमर्थे सेसेन्०, पा० ३. ४. ९ ), आद्यन्त को उदात्त ( तवै चान्तश्च युगपत्, पा० ६. २. ५१ )[5]।

**अप्** < √ आप् ( व्याप्तौ ) + क्विप् प्रत्यय तथा धातु को ह्रस्व ( आप्नोतेः क्विब्ह्रस्वश्च, उ० सू० ५. ६५ ) आप्यते आप्नोति वा अप्। अपः < अप् + शस्, विभक्ति को उदात्त ( सावेकाचः०, पा० ६. १. १६८ )[6]।

**अपगूळ्हम्** < अप + √ गुह् ( संवरणे ) + क्त प्रत्यय कर्म में, ढत्व ( होढः, पा० ८. २. ३१ ) धकार ( झषस्तथोर्धोधः, पा० ८. २. ४० ) ष्टुत्व, ढलोप, दीर्घ, समास में गति को प्रकृतिस्वर ( गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४९)[7]।

**अपच्यवम्** < अप + √ च्यु ( च्युङ् गतौ ) + अप् प्रत्यय (ऋदोरप्, पा० ३. ३. ५७ ), गुण, अवादेश, उत्तरपदान्तोदात्त ( थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्, पा० ६. २, १४४ )[8]।

**अपत्यसाचम्**<अपत्य + √सच् + ण्वि प्रत्यय छान्दस। अपत्यैः सह सचते संगच्छते इति अपत्यसाच्[9]।

**अपधा** < अप + √ धा ( धारणपोषणयोः ) + अङ् प्रत्यय ( आतश्चोपसर्गे, पा० ३. ३. १०६ )[10]।

**अपरिह्वृताः** < अ + परि + √ ह्वृ ( कौटिल्ये ) + क्त प्रत्यय, तथा निपातन से धातु को ह्वु भाव का अभाव ( अपरिह्वृताश्च, पा० ७. २. ३२ )

---

१. सा० ऋ० ३. ३६. ८, तै० उप० ३. २. २, उज्ज्व० उ० वृ० अदेर्निष्ठायाम अदोऽन्ने (पा० ३. २ ६८) इति निर्देशात् अन्नमिति, पृ० १४०, श्वे० अदोऽन्ने (पा० ३. २. ६८—स्नस्य सिद्धत्वात् स्वरार्थं व्युत्पादनम् उ० वृ० ३. १०। मा० धा० अदा० १, क्षीर० अदा० १।

२. निरु० ३. ९।

३. औ० पदा० २. ४३, पृ० १२६।

४. सा० ऋ० १०. १०९. २।

५. ,, ,, १. २४. ८।

६. ,, ,, ३. ३२. ५।

७. ,, ,, १. २३. १४, ११६. ११।

८. ,, ,, १. २८. ३, द्र० स्क० वहीं।

९. ,, ,, १. ११७. २३।

१०. ,, ,, २. १२. ३।

अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर ( अव्यये नञ्कुनिपातानाम्, वा० पा० ६. २. २ )[1]। स्कन्द ने हिंसार्थक √ हृ.वृ से व्युत्पन्न माना है[2]।

**अपरीतासः** < अ + परि + √ इ ( इण् गतौ ) + क्त प्रत्यय > अपरीत + जस् ( प्र० बहु० ), असुक् का आगम ( आज्जसेरसुक्, पा० ७. १. ५०)[3]।

**अपश्चाद्दध्वने** < अपश्चात् + √ दघ् ( गतिकर्मा ) सायण ने प्रत्यय का संकेत नहीं किया है[4]।

**अपस** < √ आप् ( व्याप्तौ ) + असुन् प्रत्यय, धातु को ह्रस्व तथा विकल्प से नुट् का अभाव ( आपः कर्माख्यायां ह्रस्वश्च वा नुम्, उ० सू० ४. २१३ ), आद्युदात्त ( ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७, जैसे अपसस्पारे, ऋ० ६. ६९. १ )[5]।

**अपस्युवः** < अपस् + क्यच् प्रत्यय ( सुप आत्मनः०, पा० ३. १. ८), > अपस्य + उ (क्याच्छन्दसि, पा० ३. २. १७०) > अपस्यु। अपस्यु + जस् (प्र० बहु०), उवङ् (तन्वादीनां छन्दसि बहुलमुपसंख्यानम्, वा० पा० ६. ४. ७७)[6]।

**अपानती** < अप + √अन् ( प्राणने ) + शतृ प्रत्यय, शप्, शप् का लुक् अदादि होने से, > अपानत् + ङीप् स्त्री प्रत्यय ( उगितश्च, पा० ४. १. ६ ), अन्तिम ईकार को उदात्त ( शतुरनुमो नद्यजादी, पा० ६. १. १७३ )[7]।

**अपावृतम्** < अप + आ + √ वृ ( वरणे ) + क्त प्रत्यय कर्म में, गति को प्रकृतिस्वर ( गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४९ )[8]।

**अपिधाना** < अपि + धा ( धारणपोषणयोः ) + ल्युट् प्रत्यय करण में ( करणाधिकरणयोश्च, पा० ३. ३. ११७ ) > अपिधान + शस् ( द्वि० बहु० ) पूर्वसवर्णदीर्घ ( सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९ )। एकादेशस्वर ( गति०, पा० ६. २. १३९ ) तथा ( लिति, पा० ६. ६. १. १९३ )[9]।

**अपिरिप्ताय** < अपि + √ लिप् ( उपदेहे ) + क्त प्रत्यय कर्म में, कपिलकादित्वात् लत्वविकल्प, गतिस्वर ( गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४९ )[10]।

---

१. सा० ऋ० १. १००. १९।
२. स्क० ऋ० वहीं।
३. सा० ऋ० १. ८९. १।
४. ,, ,, ६. ४२. १।
५. ,, ,, १. २. ९, ११०. १।
६. ,, ,, १. ७९. १।
७. ,, ,, १०. १८९. २।
८. ,, ,, १. ५७. १।
९. ,, ,, १. ५१. ४. द्र० बोबू० पृ० ७५, तु० को० टर्नर पृ० २२।
१०. ,, ,, १. ११८. ७।

**अपिहितम्** < अपि + √ धा ( धारणपोषणयोः ) + क्त प्रत्यय, धातु को 'हि' आदेश ( दधातेर्हिः, पा० ७. ४. ४२ ), गतिस्वर ( गतिरनन्तरः पा० ६. २. ४९ )[1] ।

**अपीच्यम्** < (क) अप + √ चि ( चयने ) + यत् प्रत्यय निपातन से (अघ्न्यादयश्च, उ० सू० ४. १२०) ।

(ख) अपि + √ अञ्च् + क्विन् (ऋत्विक्०, पा० ३. २. ५९) नलोप (अनिदिताम्०, ६. ४. २४ ), अपि + अच् + यत् प्रत्यय ( भवे छन्दसि, पा० ४. ४. ११० ), अकारलोप (अचः, पा० ६. ४. १३८), अपि के इकार को दीर्घ ( चौ, पा० ६. ३. १३८ ) तित्स्वरित ( तित्स्वरितम्, पा० ६ १. १८५ )[2] ।

**अपीवृतम्** < अपि + √ वृ ( वरणे ) + क्त प्रत्यय, पूर्वपद को दीर्घ ( निपातस्य च, पा० ६. ३. १३६ ), गतिस्वर ( पा० ६. २. ४९ )[3] ।

**अपृणन्** < अ + √ पृण् ( दाने, तुदा० ) + शतृ प्रत्यय, प्र० एक०। विभक्ति को उदात्त ( शतुरनुमो०, पा० ६. १. १७३ )[4] ।

**अप्तुरः** < अप् + √ तुर् ( त्वरणे ) + क्विप् प्रत्यय (क्विप् च, पा० ३. २. ७६) । उत्तरपदप्रकृतिस्वर ( गतिकारकोपपदात्कृत्, पा० ६. २. १३९ )[5] । गेल्डनर ने √ तृ से व्युत्पन्न माना है[6] ।

**अप्तूर्ये** < अप् + √ तूर् ( त्वरा – हिंसा ) + यत् प्रत्यय ( अघ्न्यादयश्च, उ० सू० ४. १२० ), आद्युदात्त ( यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३ ), समास में कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर ( गतिकारको०, ६. २. १३९ )[7] ।

**अप्नः** < √ आप् ( व्याप्तौ ) + असुन् प्रत्यय तथा धातु को ह्रस्व, नुट् का आगम । आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ )[8] ।

( तु० IE ap 'to reach', Lat. apiscor, 'I reach')

**अप्नराजौ** < अप्नस् + √ राज् + क्विप् ( सत्सूद्विष०, पा० ३. २. ६१ ) स् का लोप ( पीवोपवसनादीनां च लोपो वक्तव्यः, वा० पा० ६. ३. १०९ )[9] ।

---

१. सा० ऋ० १०, १२९. ३ ।
२. ,, ,, १. ८४. १५ ।
३. ,, ,, १. १२१. ४, द्र० वोबू पृ० ७७ ।
४. ,, ,, १०. ११७. १ ।
५. ,, ,, १ ३. ८, ११८ ४, अप्तुरम् ३. २७. ११, ५१. २ ।
६. ऋ० ग्ला० पृ० ११ ।
७. सा० ऋ० ३. ५१. ९ ।
८. ,, ,, १. ११३. २०, १०. १०६. ९, द्र० निरु० ३. ११, देव० नि० २. १. २ ।
९. ,, ,, १०. १३२. ७, द्र० वोबू० ७८ ।

**अप्नस्वती** < अप्नस् + मतुप् ( तदस्या०, पा० ५. २. ९४ ) म् > व् (मादुपधायाः०, पा० ८. २. ९ ) > अप्नस्वत् + ङीप् > अप्नस्वती[१]।

**अप्याः** < अप + यत् प्रत्यय (भवे छन्दसि, पा० ४. ४. ११०) आद्युदात्त (यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३ ) । अप इति अन्तरिक्षनाम तत्र भवाः अप्याः[२]।

**अप्रक्षितम्** < अ + प्र + √ क्षि + क्त प्रत्यय भाव में। प्रकृष्टं क्षितं यस्य तत् प्रक्षितम्। न प्रक्षितम् अप्रक्षितम्। अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[३]।

**अप्रजज्ञि** < अ + प्र + √ ज्ञा + कि प्रत्यय (आदृगमहन०, पा० ३. २. १७१)[४]।

**अप्रजाः** < अ + प्र + √ जन् ( प्रादुर्भावे ) + ड प्रत्यय ( अन्येष्वपि दृश्यते, पा० ३. २. १०१ )। प्रजायन्ते इति प्रजाः। न प्रजाः अप्रजाः ( बहुव्रीहि में असिजादेश ( नित्यमसिच् प्रजामेधयोः, पा० ५. ४. १२२ ), अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[५]।

**अप्रतिष्कुतः** < अ + प्रति + √ कु ( कुङ् शब्दे ) + क्त प्रत्यय, सुट् का आगम ( पारस्करादेराकृतिगणत्वात्, पा० ६. १. १५७ ), षत्व ( पा० ८. ३. ९८, आकृतिगण मानकर ), प्रतिकूलं कूयते शब्द्यते इति प्रतिष्कुतः, न प्रतिकूलं कूयते इति अप्रतिष्कुतः। नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[६]। स्कन्द ने √ स्कुञ् आप्रवणे से व्युत्पन्न माना है[७]।

**अप्रतीतः** < अ + प्रति + √ इ ( गतौ ) + क्त प्रत्यय कर्म में, प्रादिसमास, प्रति + इत > प्रतीत, पुनः नञ्समास न + प्रतीत > अप्रतीत। नञ्स्वर[८]।

**अप्रमूराः** < अ + प्र + √ मुर्छा + क्विप् ( संपदा०, पा० ३. ३. ९४ ) धातुगत छ् का लोप ( राल्लोपः, पा० ६. ४. २१ ), प्रकृष्टा मूः प्रमूः, प्रमुर् + र मत्वर्थीय, रेफलोप ( रोरि, पा० ८. ३. १४ ), दीर्घ < प्रमूर। न प्रमूराः अप्रमूराः अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[९]।

---

१. सा० ऋ० १. ११२. २४, १२७. ९।
२. ,, ,, ३. ५६. ५, द्र० ऋ० ग्ला० पृ० ११, वोबू० पृ० ७८।
३. ,, ,, १. ५५. ८।
४. ,, ,, अप्रजज्ञयः १०. ७१. ९।
५. ,, ,, १. २१. ५।
६. ,, ,, १. ७. ६, ८, ८४. ७।
७. स्क० ऋ० १. ८४. ७, ५. ६१. १३, द्र० स्क० निरु० ६. १६ ऋ० ग्ला० पृ० ११, वोबू० पृ० ८०।
८. सा० ऋ० ३. ४६. ३।
९. ,, ,, १. ९०. २।

**अप्रयुच्छन्** < अ + प्र ✓ युच्छ् ( प्रमादे ) + शतृ प्रत्यय, नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[1]।

**अप्रायुवः** < अ + प्र + ✓ इ ( गतौ ) + उण् प्रत्यय ( छन्दसीणः, उ० सू० १. २ ), नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर। > अप्रायु + जस् ( प्र० बहु० ) (जसादिषु छन्दसि वा वचनम्, वा० पा० ७. ३. ६७) से गुण के विकल्प होने से अभाव में उवङ् ( तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्, वा० पा० ६. ४. ८६ )[2]। स्कन्द ने सायण की व्युत्पत्ति के साथ ✓ यु (मिश्रणामिश्रणयोः) से भी व्युत्पन्न माना है[3]। यास्क ने अ + प्र + आ + ✓ यु स्वीकार किया है[4]। गेल्डनर अ + प्र + आयु व्युत्पत्ति देते हैं[5]।

**अप्साः** < (क)—अप् + ✓ सन् ( संभक्तौ ) + विट् प्रत्यय ( जनसन०, पा० ३. २. ६७ ), अनुनासिक को आत्।

(ख)—न + प्सा < ✓ प्सा (भक्षणे) + क्विप् (क्विप् च, पा० ३. २. ७६), न विद्यते प्सा अस्येति बहुव्रीहिः, उत्तरपदान्तोदात्त ( नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२ )[6]। यास्क ने – अ + ✓ प्सा, ✓ आप् तथा अ + ✓ स्पश् से निर्वचन किया है[7]।

देवराज० के अनुसार स्कन्द स्वामी के मत में निम्न व्युत्पत्ति है :

(क)—न + ✓ प्सा + असुन् प्रत्यय, बाहुलक आकारलोप,

(ख)—✓आप् + स प्रत्यय ( वृतृवदिहनिकमिकषिभ्यः सः, उ० सू० ३. ५६ )[8]।

**अप्सुक्षितः** < अप् + सु + ✓ क्षि + क्विप्, तुक्, विभक्ति का अलुक् ( तत्पुरुषे कृति०, पा० ६. ३. १४ ) > अप्सुक्षित् + जस् ( प्र० बहु० )[9]।

**अबिभ्युषः** < ✓ भी ( भये ) + क्वसु प्रत्यय (क्वसुश्च, पा० ३. २. १०७) द्विर्भाव, अभ्यास को ह्रस्व ( पा० ७. ४. ५९ ) जश्त्व ( पा० ८. ४. ५४ ), >बिभ्वस् न + बिभ्वस् > अबिभ्वस्, नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर।

---

१. सा० ऋ० १. १०६, ७, १४३. ८, ३. २०. २।
२. ,, ,, १. ८९. १।
३. स्क० ऋ० वहीं।
४. निरु० ४. १९, द्र० देव० नि० ४. १. ३७।
५. ऋ० ग्ला० पृ० ११।
६. सा० ऋ० अप्साम् १. ९१. २१, अप्साः ९. ६५. २०।
७. निरु० ५. १३—अप्स इति रूपनामाप्सातेरप्सानीयं भवति।
८. देव० नि० ३. ७. ६।
९. सा० ऋ० १. १३९. ११, द्र० वोबू० पृ० ८०।

अबिभ्वस् + जस् ( प्र० बहु० ), व को सम्प्रसारण (वसोः सम्प्रसारणम्, पा० ६. ४. १३१ ), पूर्वरूप (सम्प्रसारणाच्च, पा० ६. १. १०८), षत्व (शासिवसिघसीनां च, पा० ८. ३. ६०) इयङादेश को बाधकर यणादेश (एरनेका०, पा० ६. ४. ८२ )[1] ।

**अभयम्** < न + ✓ भी ( भये ) + अच् प्रत्यय ( एरच्, पा० ३. ३. ५६ ) नञ्समास, नञ्स्वर[2] ।

**अभिचक्षे** < अभि + ✓ चक्ष् ( प्रकाशानार्थ ) + क्विप् प्रत्यय ( संपदादि०, वा० पा० ३. ३. ६४ ) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर । तादर्थ्य में चतुर्थी[3] ।

**अभिध्रुक्** < अभि + ✓ द्रुह् + क्विप् ( सत्सूद्विष्०, पा० ३. २. ६१ ) संहिता में भष्भाव छान्दस[4] ।

**अभिनभ्यम्** < अभि + नभ्य < नाभि + यत् प्रत्यय (उगवादिभ्यो यत्, पा० ५. १. २) तथा नभादेश, नाभौ मध्यस्थाने भवं नभ्यम् = अन्तरिक्ष । अव्ययीभाव-समास (लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये, पा० २. १. १४) समासस्वर[5] ।

**अभिप्रचक्षे** < अभि + प्र + ✓चक्ष् + सेन प्रत्यय (तुमर्थे सेसेन्०, पा० ३. ४. ६) क लोप ( स्कोः संयोगाद्योरन्ते च, पा० ८. २. २९ ), कत्व तथा षत्व > अभिप्रचक्षे[6] ।

**अभिप्रमुरा** < (क) अभि + प्र ✓ मूर्च्छा ( मोहसमुच्छ्राययोः ) + क्विप् प्रत्यय, छकारलोप ( राल्लोपः, ६. ४. २१ ) ।

(ख) ✓ मुर् (संवेष्टने) + क्विप् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[7] । ग्रासमान ने अभि + प्र + मुर > अभिप्रमुर व्युत्पत्ति दी है[8] ।

**अभिभूति** < अभि + ✓ भू + क्तिन् प्रत्यय करण में, गतिस्वर ( तादौ च०, पा० ६. २. ५० )[9] ।

**अभिभूवरी** < अभि + ✓भू + क्वनिप् प्रत्यय (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५) > अभिभूवन् + ङीप् स्त्री प्रत्यय तथा न् को रेफ ( वनो र च, पा० ४. १. ७ )[10] ।

---

१. सा० ऋ० १. ११. ५, द्र० अबिभ्युषा १. ६. ७ ।

२. ,, ,, ३. ३०. ५, ४७. २ ।

३. ,, ,, १. १०२. २, ११५. ५ ।

४. ,, ,, १. १२२. ९ ।

५. ,, ,, १०. ११९. १२ ।

६. ,, ,, १. ११३. ६ ।

७. ,, ,, १०. ११५. २ ।

८. वोबू० पृ० ८४ ।

९. सा० ऋ० १. ११८. ९, द्र० वोबू पृ० ८४ ।

१०. ,, ,, १०. १५९. ५ ।

**अभिमाति** < अभि + √ मा ( माङ् माने ) + क्तिन् प्रत्यय भाव में, अभितो मानं येषां ते अभिमातीः । पूर्वपदप्रकृतिस्वर[1] । स्कन्द ने माति > √ मोत्र् हिंसायाम् से व्युत्पन्न माना है[2] । भोज ने √ मा + आति प्रत्यय से माति व्युत्पन्न किया है[3] ।

**अभिमातिषहः** < अभिमाति + √ सह् ( अभिभवे ) + ण्वि प्रत्यय ( छन्दसि सहः, पा० ३. २. ६३ ) षत्व ( सुषमादिषु च, पा० ८. ३. ९८ )[4] ।

**अभिमृशे** < अभि + √ मृश् + केन प्रत्यय ( कृत्यार्थे तवै०, पा० ३. ४. १४ )[5]

**अभिव्लग्य** < अभि + √ व्लग् ( गतिकर्मा, छान्दस ) + ल्यप् प्रत्यय[6] ।

**अभिव्लङ्गः** < अभि + √ व्लङ्ग् ( गतिकर्मा ) ( + अच् प्रत्यय, अन्तोदात्त ) सायण ने प्रत्यय का संकेत नहीं किया है[7] ।

**अभिशस्तिम्** < अभि + √ शस् ( हिंसायाम्, स्तुतौ ) + क्तिन् प्रत्यय, गतिस्वर ( तादौ च निति कृत्यतौ, पा० ६. २. ५० )[8] । वररुचि ने अभि + √ शंस् ( हिंसायाम् ) से निर्वचन किया है[9] ।

**अभिशस्तिपावा** < अभिशस्ति + √ पा ( रक्षणे ) + वनिप् प्रत्यय ( आतो मनिन्, पा० ३. २. ७४ )[10] ।

**अभिषाचम्** < अभि + √ सच् ( समवाये ) + णिच् + क्विप्[11] ।

**अभिष्टि** < (क) अभि + इष्टि < √ इष् ( इच्छा, गति ) + क्तिन् प्रत्यय भाव में, अभि के इकार को पररूप (एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वक्तव्यम्, वा० पा० ६. १. ९४, अथवा शकन्ध्वादित्वात् ), गति को प्रकृतिस्वर ( तादौ च निति०, पा० ६. २. ५० ), अभि अन्तोदात्त है (उपसर्गाश्चाभिवर्ज्यम्, फि० सू० ८१)[12] ।

---

१. सा० ऋ० अभिमातीः ३. २४. १ ।

२. स्क० ऋ० ६. ६९. ३ ।

३. सरस्व० २. १. १९६ ।

४. सा० ऋ० १. ९१. १८, द्र० ऋ० ग्ला० पृ० १२, वोब्रू० पृ० ८५ ।

५. ,, ,, २. १०. ५ ।

६. ,, ,, १. १३३. १ ।

७. ,, ,, १. १३३. ४ ।

८. ,, ,, शस्तेः १. ७१. १०, ९१. १५, शस्तिम् ३. ३०. १, ८. ८९. २, सा० अ० ३. १. १ ।

९. निरु० समु० मं० ६३, पृ० ६०, द्र० ऋ० ग्ला० पृ० १२ ।

१०. सा० ऋ० १. ७६. ३ ।

११. ,, ,, ३. ५१. २ ।

१२. ,, ,, १. ९. १, ४७. ५, ५२. ४, ११९. ८, ३. ३४. ४, शवसे ३. ५९. ८, द्र०स्क० ऋ० १. ५२. ४, ११९. ८।

(ख) अभि + √यज् (देवपूजा०) + क्तिन् प्रत्यय, सम्प्रसारण (ग्रहिज्या०, पा० ६. १. १६ ), ज् को ष् ( व्रश्च०, पा० ८. २. ३६ ) ष्टुत्व, पररूप। स्वर पूर्ववत्[१]। ग्रासमान अभि + √ इष् तथा गेल्डनर अभि + √ अस् से व्युत्पन्न मानते हैं[२]। ग्रिफ़िथ अभि + √ स्त्यै ( शब्दसंघातयोः ) + क्विप्, सम्प्रसारण ( स्ताः सुपूर्वस्य, पा० ३. १. २३ का योग विभागकर)[३]।

**अभीके** < (क)—अभि + √ अञ्च् + अच् प्रत्यय (नन्दिग्रहि०, पा० ३. १. १३४) पृषोदरादित्वात् ( पा० ६. ३. १०९ ) व्युत्पन्न।

(ख)—अभि + √ इ ( गतौ ) + कक् प्रत्यय ( औणादिक )।

(ग)—न + √ भी (भये) + कप् प्रत्यय (शेषाद् विभाषा, पा० ५. ४. १५४)। न विद्यते भीर्यस्मिन्।

प्रथम दो व्युत्पत्तियों में दासीभारादित्वात् ( पा० ६. २. ४२ ) पूर्वपद-प्रकृतिस्वर तथा 'ग' में पूर्व को अन्तोदात्त (कपिपूर्वम्, पा० ६. २.१७३)[४]।

**अभीद्धात** < अभि + √ इन्ध् ( दीप्तौ ) + क्त प्रत्यय इट् प्रतिषेध ( श्वीदितो निष्ठायाम्, पा० ७. २. १४), गतिस्वर, एकादेश होने पर एकादेशस्वरित ( स्वरिते वानुदात्ते पदादौ, पा० ८. २. ६ )[५]।

**अभीवर्त्त** < अभि + √ वृत् ( वर्तने ) + घञ् प्रत्यय करण में ( अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्, पा० ३. ३. १९ ), उपसर्ग को दीर्घ ( उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्, पा० ६. ३. १२२ )। अभिगच्छति अनेन अभीवर्तः, अभितो वर्तते चक्रम् अनेनेति अभीवर्तो नेमिः। उत्तरपदान्तोदात्त (थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्, पा० ६. २. १४४ )[६]।

**अभीवृत्** < अभि + √वृत् ( वर्तने ) + क्विप् प्रत्यय, पूर्वपद को दीर्घ ( नहिवृति०, पा० ६. ३. ११६)[७]।

**अभिवृत** < अभि + √ वृ ( वरणे ) + क्त प्रत्यय, पूर्वपद को दीर्घ ( अन्येषामपि दृश्यते पा० ६. ३. १३७ ), गतिस्वर[८]।

**अभीशु** < अभि + √ अश् + उण् प्रत्यय ( कृवापाजि०, उ० सू० १. १ ), वर्ण

---

१. सा० अ० १. ६. १।
२. वोब्रू० पृ० ८६, ऋ० ग्ला० पृ० १२।
३. सा० वे० १. ३. १३ पर भवविभूति भट्टाचार्य की टिप्पणी।
४. सा० ऋ० १. ७१. ८, ३. ३९. ७।
५. ,, ,, १०. १९०. १।
६. ,, ,, १०. १७४. १, द्र० सा० अ० १. २९. १।
७. ,, ,, ० वृतम् १. ३५. ४।
८. ,, ,, ० वृतः १०. १७६. ३, द्र० ऋ० ग्ला० पृ० १३।

व्यत्यय से धातु के अकार को इकार ( वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च, कारि०, पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् पा०, ६. ३. १०६)[१] । देवराज० अभि + √अश् तथा √ ईश् ( ऐश्वर्ये )[२] ।

**अभोग्घनः** < अ + भोज् + √ हन् + क्विप् प्रत्यय (बहुलं छन्दसि, पा० ३. २. ८८) हकार को घकार ( झयो होऽन्यतरस्याम्, पा० ८. ४. ६२ ), दीर्घ का अभाव ( इन्हन्पूषा०, पा० ६. ४. १२ ) । भोजयन्तीति भोजः, न भोजः अभोजः, तेषां हन्तारः[३] । ग्रासमान – ० वन् < √ हन्, तथा गेल्डनर, अ + भो ( < √ भू ) + √ हन्[४] ।

**अभ्यायंसेन्या** < अभि + आ + √ यम् ( उपरमे ) + सेन्य प्रत्यय (औणादिक) + अभ्यायंसेन्य + औ ( प्र० द्वि०), विभक्ति को आकार ( सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९ )[५] । स्कन्द – अभि + आ + यंसेन्य, अथवा – अभ्याय ( क्विबन्त ) + सेना + यत् प्रत्यय, स्वार्थिक । सेनाया अभ्यायन्तारौ अभ्यायंसेनौ, सेना का परनिपात (राजदन्तादिषु परम्, पा० २. २. ३१) अभ्यायंसेनावेव अन्यायंसेन्यौ[६] ।

**अभ्रातृव्य** < अ + भ्रातृ + व्यन् प्रत्यय ( व्यन् सपत्ने, पा० ४. १. १४५ )[७] ।

**अभ्रियेव** < अभ्र + घ प्रत्यय ( समुद्राभ्राद्घः, पा० ४. ४. ११८ ), घ को इयादेश । शेर्लोप ( शेश्छन्दसि बहुलम्, पा० ६. १. ७० )[८] ।

**अभ्वः** < (क)—आ + √ भू + ड्वन् प्रत्यय ( औणादिक ), उपसर्ग को ह्रस्व पृषोदरादि मानकर (पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्, पा० ६. ३. १०९ ) ।
(ख)—न + √ भू + क्वन् प्रत्यय (न भुवो डित्, सरस्व० २. ३. १३३)[९] । ग्रासमान – न + √ भू[१०] ।

**अमति** < (क)—न + मति, मन्तव्या मतिः ऐश्वर्यम् । न मतिः अमतिः, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[११] ।

---

१. सा० ऋ० अभीशवः १. ३८. १२, द्र० निरु० ३. ९ अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि ।
२. ,, ,, देव० नि० १. ५. ५ ।
३. ,, ,, १. ६४. ३ ।
४. वोबू० पृ० ८८, ऋ० ग्ला० पृ० १३ ।
५. सा० ऋ० १. ३४. १ ।
६. ,, ,, वहीं ।
७. ,, ,, ८. २१, १३ ।
८. ,, ,, १. ११६. १, २. ३४. २ ।
९. ,, ,, १, ३९. ८, अस्वा० १. ६३. १ ।
१०. वोबू० पृ० ९० ।
११. सा० ऋ० १. ५२. ४ ।

(ख)—√ अम् ( गत्यादिषु ) + अति प्रत्यय (अमेरति, उ० सू० ४. ६१)। प्रत्ययस्वर ( आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३ )[1]।

**अमत्रः** < (क)—√ अम् ( गत्यादिषु ) + अत्रन् प्रत्यय (अभिनक्षि०, उ० सू० ३. ६८) आद्युदात्त ( ञ्नित्यादि०, पा० ६. १. १९७ )[2]।

(ख)—अमा + √ अद् ( भक्षणे ), अमा सहादन्त्यत्र होत्रादय इत्यमित्राणि चमसाः[3]। यास्क ने अमा + √ अद्, अभि + अ + √ मा से निर्वचन किया है[4]। देवराज० – अमात्र > अमत्र तथा अ + मित, मित > मत्र > अमत्र[5]। गेल्डनर √ मा से व्युत्पन्न मानते हैं[6]।

( तु० IE oma – 'strength', Av. amayavā 'pressure' )[7]

**अमन्तु** < √ मन् + तु प्रत्यय ( औणादिक ), न + मन्तु > अमन्तु बहुव्रीहि-समास, उत्तरपदान्तोदात्त ( पा० ६. २. १७२ )[8]। उद्गीथ – अव + मन्तु > अमन्तु, वकारलोप[9]।

**अमन्यमानान्** < अ + √ मन् ( ज्ञाने ) + श्यन् + शानच्, मन्यन्ते जानन्तीति मन्यमानाः, श्यन् आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ ), नञ्समास में अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर ( वा० पा० ६. २. २ )[10]। स्कन्द ने अर्चति-कर्मा √ मन् से व्युत्पन्न माना है[11]।

**अमर्धन्ता** < अ + √ मृध् ( हिंसायाम् ) + शतृ, तत्पुरुष में नञ्स्वर, अमर्धत् + औ ( प्र० द्वि० ), सुप् को डादेश[12]।

**अमवन्तः** < √ अम् ( रोगे ) + अच् प्रत्यय ( नन्दिग्रहि०, पा० ३. १. १३४ ) अम + मतुप् > अमवत्, अम आद्युदात्त ( वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३ )। अमति शत्रून् रुजतीति अमो बलम्, तदेषामस्तीत्यमवन्तः[13]।

---

१. सा० ऋ० १. ६४. ६, ७३. २, ३. ३८. ८, द्र० वोबू० पृ० ९०, द्र० ऋग्वेद में मति, विमर्श १ (१), १९७२, E ३७.४४।
२. ,, ,, १. ६१. ९, ३. ३६. ४।
३. ,, ,, २. १४. १।
४. निरु० ५. १, ६. २३, द्र० दुर्ग० वहीं।
५. देव० नि० ४. ३. १०१।
६. ऋ० ग्ला० पृ० १३।
७. एटि० यास्क० पृ० १२५।
८. सा० ऋ० १०. १२५. ४, द्र० सा० अ० ४. ३०. ४।
९. उद्० ऋ० १० २२. ८।
१०. सा० ऋ० १. ३३. ९।
११. स्क० ,, वहीं।
१२. सा० ऋ० ३. २५. ४।
१३. ,, ,, १. ३६. २०।

**अमित्र** < न + मित्र, बहुव्रीहिसमास, उत्तरपदाद्युदात्त ( नञो जरमरमित्र०, पा० ६. २. ११६ )[१] । उणा० वृत्तिकारों ने √ अम् + इत्र प्रत्यय ( अमेद्विषति चित्, उ० सू० ४. १८० ) व्युत्पत्ति दी है ।

**अमित्रायुधः** < अमित्र + √ युध् ( संप्रहारे ) + क्विप् प्रत्यय, संहिता में पूर्वपद को छान्दस दीर्घ, कृदुत्तरपदस्वर[२] ।

**अमिथितः** < अ + √ मिथ् ( आक्रोशकर्मा नि० ४. २ ) + क्त प्रत्यय, इट् का आगम[३] ।

**अमिनः** < √ अम् ( गत्यादिषु ) + इनच् प्रत्यय ( औणादिक )[४] । यास्क ने अ + √ मा से निर्वचन किया है[५] । देवराज०—

(क)—अ + √ मा ( माने ) + क्त प्रत्यय, > अमित > अमिन,

(ख)—अ + √ मि ( वधकर्मा ) + नक् प्रत्यय,

(ग)—अ + √ मि क्त प्रत्यय > अमित् > अमिन[६] ।

– सजातीय शब्दों के लिए द्र० अमत्र ।

**अमीवचातनम्** < अमीव + चातन, अमीव < √ अम् ( रोगे ) + वन् प्रत्यय तथा ईडागम निपातित ( शेवयह्वजिह्वाग्री०, उ० सू० १. १४० ), आद्युदात्त ( पा० ६. १. १६७ ) । चातन < √ चत् ( चते हिंसायाम् ) + णिच् + ल्यु प्रत्यय, ( नन्दिग्रहि०, पा० ३. १. १३४ ), यु को अनादेश ( पा० ७. १. १ ), णिलोप ( णेरनिटि, पा० ६. ४. ५१ ), धातु का अकार उदात्त ( लिति, पा० ६. १. १९३ ) अमीवानां चातनः, समास में कृदुत्तरपदस्वर से अकार का उदात्त शेष रहता है[७] । देवराज०—अमीव < √ अम् ( रोगे ) + ईव प्रत्यय ( सरस्व० २. ३. १३८ ) । √ अम् + वन् प्रत्यय ( उ० सू० १. १४० )[८] ।

---

१. सा० ऋ० १. ६३. २, द्र० सा० अ० १. १९. २ ।
२. ,, ,, ३. २९. १५ ।
३. ,, ,, ८. ४५. ३७ ।
४. ,, ,, १०. ११६. ४ ।
५. निरु० ६. १६—अमीनोऽमितमात्रो महान् भवति, अभ्यमितो वा, न यस्य मात्राणां मानमस्ति ।
६. देव० नि० ४. ३ ।
७. सा० ऋ० १. १२. ७, द्र० सा० अ० १. २८. १ ।
८. देव० नि० ४. ३. ४६, वोबू० – √ अम् पृ० ६३ ।

**अमीवहा** < अमीव + √ हन् ( हिंसागत्योः ) + क्विप् प्रत्यय ( बहुलं छन्दसि, पा० ३. २. ८८), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर (गतिकारको० पा० ६. २. १३९)[१]।

**अमूर** < १—अ + √ मूर्च्छा ( मोहसमुच्छ्राययोः ) + क्विप् प्रत्यय छ् का लोप ( राल्लोपः, पा० ६. ४. २१ ) + र प्रत्यय, ( मत्वर्थीय )।

२—√ अम् ( गत्यादिषु ) + ऊरन् प्रत्यय ( औणादिक )।

३—अ + √ मुह् ( वैचित्ये, वैचित्यमविवेकः ) + क्त प्रत्यय, ह् को ढ् = अमूढ ढ > र, छान्दस, नञ्समास।

४—√ मूङ् ( बन्धने )[२]। देवराज० √ मुह् (वैचित्ये )[३]।

**अमृत** < अ + √ मृङ् + तन् प्रत्यय ( तनिमृङ्भ्यां किच्च, उ० सू० ३. ८५ ) मृतं मरणं नास्ति अस्य - बहुव्रीहिसमास, उत्तरपदाद्युदात्त ( नञो जर०, पा० ६. २. ११६ )[४]। सायण ने अन्यत्र अमृतम् < अनृतम् न के स्थान पर मकार - व्युत्पत्ति दी है[५]।

( तु० IE mer ( todie ), Lat. mori, Irish–marh, NIrish-marbh 'dead', Welsh–marw, Lith. mirti, Lett. mirt, chsl. mrěti, Av. mar, Ameretāt )·

**अमृध्रम्** < न + √ मृध् ( मृध् उन्दने ) + रक् प्रत्यय बाहुलक ( औणादिक ) मर्धति उदकेन उनत्तीति मृधः। नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर। अथवा - अ + मृध् ( संग्रामवाची ) + र प्रत्यय ( मत्वर्थीय )[६]। गेल्डनर् - √ मृध्[७]।

**अम्बरीषः** < √ अब् ( अबि शब्दे ) > √ अम्ब् + ईषन् प्रत्यय तथा अरुक् का आगम ( अम्बरीषं च, उ० सू० ४. ३०, औ० पदा०, ४, ६७ )[८]। दश० उ० में :—

(क)—√ पच् + ईषन्, धातु को अमुट् का आगम, प् को ब् तथा च् को र् निपातित, पचन्त्यस्मिन्निति अम्बरीषम्।

---

१. सा० ऋ० १. १८. २, द्र० स्क० निरु० १०. १७ – अमीवा हिंसिति सर्पादीरोगो वा, तस्य 'हन्ता बहुलं छन्दसि,' इति क्विप्।

२. ,, ,, १. ६८. ७-८, ३. १९. १, ४. ४. १२।

३. देव० नि० ४. ३. ३७, द्र० वे० ऋ० म० ७ पृ० २३८।

४. सा० ऋ० १. १३. ५, २३. १९, २४. १, ३५. २, ३८. ४, ४४. ५, ५८. १, ९०. ३, ९१. १८, ११३. २, १३, १२२. ११, ३. २०. ३, द्र० मा० अ० २. १. २, ता० म० ब्रा० २३. १२. ३, देव० नि० १. २. सा० मा० पृ० १०७।

५. सा० सा० ४. ३. ९ पर भवविभूति भट्टाचार्य की टिप्पणी।

६. सा० ऋ० १. ३७. ११।

७. ऋ० ग्ला० पृ० १४।

८. सा० ऋ० १. १००. १७, द्र० श्वे० उ० वृ० ४. ३०।

(ख)—√ आप ईषन् प्रत्यय, धातु को अम्ब आदेश, तथा रुट् का आगम, आप्यते वायुभिरित्यम्बरीषम् - आकाशम् व्युत्पत्ति मिलती है[१]। भोज - √ अम् + ईषन्, वरट् का आगम[२]। दुर्ग - अम् ( = आकाश ) + √ वृ (वरणे) + ईष प्रत्यय, अम् आकाशं वृणोतीति अम्बरीषः[३]।

**अम्बि** < √ अब् ( रबि, लबि, अबि, शब्दे ) + इ प्रत्यय बाहुलक ( अच इः, उ० सू० ४. १४८ ), प्रत्ययस्वर[४]।

**अम्भृणम्** < अम् + √ भ्रण् ( शब्दे ) + यङ्लुक् + अच् प्रत्यय ( नन्दिग्रहि०, पा० ३.१.१३४ )[५]। निघण्टु ( ३.३.१६ ) में यह महन्नाम में पढ़ा गया है।

**अयज्वान** : <√ यज् ( देवपूजासंगतिकरणदानेषु ) + ङ्वनिप् प्रत्यय, भूतार्थ में ( सुयजोर्ङ्वनिप्, पा० ३.२.१०३ ), पित्स्वर से अनुदात्त ( अनुदात्तौ०, पा० ३.१.४ ) तथा धातु स्वर से आद्युदात्त। न + यज्वन् = अयज्वन्, नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[६]।

**अयम्** < इदम् शब्द का प्र० एक० अथवा √ अय् ( गतौ ) + अच् प्रत्यय ( नन्दिग्रहि०, पा० ३.१.१३४ ) अन्तोदात्त ( चितः, पा० ६.१.१६३ )[७]।

**अयस्** <√ अय् ( गतौ ) + असुन् प्रत्यय ( सर्वधातुभ्योऽसुन्, उ० सू० ४. १८६ ) नित्स्वर ( ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६.१.१९७ )[८]।

**अयास** : < अय् + जस् ( प्र० बहु० ), असुक् का आगम[९]।

**अयास्यः** (क)—<√ यस् ( प्रयत्ने ) > यास ( = प्रयत्न ) + यत् प्रत्यय ( भवे छन्दसि. पा० ४.४.११० ), यासः प्रयत्नः, तत्र भवो यास्यः, न यास्योऽयास्यः। उत्तरपदाद्युदात्तत्व ( परादिश्छन्दसि बहुलम् पा० ६.२.१९९ )।

(ख)—आस्य + √ अय् ( गतौ ), पृषोदरादि।

(ग)—अयम् + आस्य ( = मुख ) = अयास्य। पृषोदरादि[१०]। सायण

---

१. दश० उ० वृ० ९. १२।
२. सरस्व० २. ३. १६३।
३. दुर्ग० उ० वृ० ३. ४७।
४. सा० ऋ० अम्बयः १.२६.१६।
५. ,, ,, १.१३३.५।
६. ,, ,, १.३३.५, द्र० सा० अ० ३.२४.२।
७, ,, ,, १.१२०.११।
८. ,, ,, अयसे १.५७.३।
९. ,, ,, १.६४.११।
१०. ,, ,, १. ६२. ७।

की अन्तिम दो व्युत्पत्तियाँ ब्राह्मण एवं उपनिषद् पर आधारित हैं[१]।

**अयुध्य** : <√ युध् ( संप्रहारे ) + क्यप् प्रत्यय ( छान्दस ), न + युध्य = अयुध्य[२]।

**अयुध्वी** <√ युध् + क्त्वा, निपातित ( स्नात्व्यादयश्च, पा० ७ १.४९ ) नञ्समास, अतएव ल्यप् का अभाव, नञ्स्वर[३]।

**अरंकृतः** < √ अलम् + √ कृ + क्विप् प्रत्यय ( क्विप् च, पा० ३. २. ७६ ) तुक् का आगम ( ह्रस्वस्य पिति कृति०, पा० ६. १. ७१ ), रेफ को लत्व ( कपिलकादीनां संज्ञाच्छन्दसोर्वा लोरत्वमापद्यते, वा० पा० ८. २. १८ ) अलम् आद्युदात्त, समास में पूर्वपदप्रकृतिस्वर (गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४९) । अरंकृत् + जस् ( प्र० बहु० )[४]।

**अरंकृताः** < अलम् + √ कृ + क्त प्रत्यय, छान्दस रेफादेश, पूर्वपदप्रकृतिस्वर ( गतिरनन्तरः पा० ६. २. ४९ )[५]।

**अरणि** < √ ऋ ( गतौ ) + अनि प्रत्यय ( अर्तिसृधृधम्यम्यश्यवितृभ्योऽनिः, उ० सू० २. १०३ ), अर्यत इति अरणिः । प्रत्ययस्वर[६]।

**अरणी** < अरणि (<√ऋ गतौ) + ङीष् (कृदिकारादक्तिनः, वा० पा० ४. १. ४५)[७] अरणी उन दो लकड़ियों को कहते हैं, जिनसे अग्नि प्रज्वलित होती है। ( तु० IE al 'to burn' Lat, altāre 'altar' )[८]

**अरण्यानी** < अरण्य + ङीष् स्त्री प्रत्यय तथा आनुक् का आगम ( इन्द्रवरुण०, पा० ४. १. ४९ ) । अरण्यानिः < अरण्यानी + सु, छान्दस ह्रस्व, हल्ङ्यादि सुलोप का अभाव[९]। नैरुक्त इसका अर्थ अरण्य की पत्नी अर्थात् अरण्य का पालन करने वाली अधिदेवता करते हैं[१०]। वैयाकरण महद् अरण्य अर्थ में प्रयुक्त मानते हैं[११]।

---

१. जै० उप० ब्रा० २. ८. ७, छा० उ० १. २. १२, बृ० उ० १. ३. ८।
२. सा० ऋ० १०. १०. ३. ७, द्र० वोबू० पृ० ९८।
३. ,, ,, १०. १०. ८. ५।
४. ,, ,, १. १४. ५।
५. ,, ,, १. २. १।
६. ,, ,, अरण्योः ३. २९. २, द्र० मा० धा० म्वा० ६५७, क्षीर० म्वा० ६६८।
७. ,, ,, ५. ९. ३, द्र० सा० अ० १. ८२, २, निरु० ५. १०।
८. एटि० यास्क पृ० ६७।
९. सा० ऋ० १०. १४६. २।
१०. निरु० ९. २९।
११. हिमारण्ययोर्महत्त्वे वा० पा० ४. १. ४९।

**अरतिम्** < (क)—√ ऋ ( गतौ ) + अति प्रत्यय ( वहिवस्यर्तिभ्यश्चित्, उ० सू० ४. ६२ ) अन्तोदात्त ( चितः, पा० ६. १. १६३ )[१]।

(ख)—अ + √ रम् ( क्रीडायाम् ) + क्तिन् प्रत्यय, भाव में[२]। महीधर ने अरतिम् = अलमतिम् पर्याप्तमतिम् अथवा उपरमरहित = अ + रति < √ रम् अर्थ किया है[३]।

**अरम्** < √ ऋ गतौ > अरम् > अलम् लत्व ( वालमूल० वा० पा० ८. २. १८ )[४]।

**अररिन्दानि** < (क)—न + ररि ( = दाता, √ रा दाने ) + √ दा + क प्रत्यय,

(ख)—√ ऋ + अरि ( औणादिक ) + √ दा + क प्रत्यय (आतोऽनुपसर्गे कः, पा० ३. २. ३) पृषोदरादि[५]। देवराज०

(क)—√ रा ( दाने ) + कि प्रत्यय ( आदृगमहृ०, पा० ३. २. १७१ ) > ररिः ( = दाता ) न + ररि = अररि, + √ दा + क प्रत्यय (पा० ३. २. ३), ररिः दाता, ररिः यस्य न विद्यते तदररि, तद्ददाति अररिदः, नकार उपजन > अररिन्द[६]।

**अररिवान्** < √ रा ( दाने ) + क्वसु प्रत्यय ( क्वसुश्च, पा० ३. २. १०७ ), द्वित्व, ( लिटि धातोरनभ्यासस्य, पा० ६. १. ८ ), आकारलोप ( आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४ ), इट् का आगम ( वस्वेकाजाद्घसाम्, पा० ७. २. ६७ ) > ररिवस्, न + ररिवस् > अररिवस् प्र० ए०[७]।

**अररुषः** < (क)—√ ऋ ( गतौ ) + अरु प्रत्यय ( अर्तेररुः, उ० सू० ४. ८३ ), गुण, रपर, आद्युदात्त (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३ )[८]।

(ख)—√ रा ( दाने ) + क्वसु, सम्प्रसारण, समास, नञ्स्वर[९]।

**अराति** < √ रा ( दाने ) + क्तिन् प्रत्यय ( मन्त्रेवृषेष० पा० ३. ३. ९६ ) अथवा,

---

१. सा० ऋ० १. ५८. ७, १२८. ६, ४. २. १, द्र० क्षीर० भ्वा० ६६८।
२. ,, ,, ३. १७. ४।
३. शु० य० सं० १५. ३२।
४. सा० ऋ० १. २. १, १४. ५, ६६. ५-६, ७०. ५-६, १०८. २, ६. ३५. ५, द्र० सा० अ० १. ५. ३, सा० सा० १. ३. ५।
५. सा० ऋ० १. १३९. १०।
६. देव नि० १. १२. २६।
७. सा० ऋ० १. १४७. ४।
८. ,, ,, १. १८. ३।
९. ,, ,, ३. १८. २।

+ क्तिच् प्रत्यय ( कृत्यल्युटो बहुलम्, पा० ३. ३. ११३ अथवा पा० ३. ३. १७४ ), न विद्यते रातिः – नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[1] ।

( तु० IE rē ( i ), to give 'or' a thing 'Lat, res, a thing'[2] ।

**अरातीयतः** < न + राति + क्यच् (उपमानादाचारे, पा० ३. १. १० ) >अरातीय + शतृ प्रत्यय >अरातीयत् + ङस् (ष० एक०) विभक्ति को उदात्त ( शतुरनुमो०, पा० ६. १. १७३)[3] ।

**अरातीवा** < अराति + वनिप् प्रत्यय ( मत्वर्थीय )[4] ।

**अराव्णः** < √रा ( दाने ) + वनिप् प्रत्यय ( आतो मनिन्०, पा० ३. २. ७४ ) = रावन्, न + रावन् = अरावन्, नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर । अरावन् + ङसि (पं० एक०) अन् के अकार का लोप ( अल्लोपोऽनः, पा० ६. ४. १३४ )[5] ।

**अरिः** < √ऋ ( गतौ ) + इ प्रत्यय ( अच इः, उ० सू० ४. १४८ ), गुण, ऋच्छन्ति प्राप्नोति पदार्थान् इति अरिः सेवकः शत्रुर्वा । प्रत्यय स्वर से इकार उदात्त ( आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३ )[6] । पॉल थीमे अरि से ही अरिप्र को सम्बद्ध बताते हैं, पर डॉ० अतुल चन्द्र बनर्जी इसे पद पाठ के आधार पर अयुक्ति-संगत मानते हैं[7] ।

( तु० IE al – 'to burn', Lat, altāre, 'altar'

**अरिताः** < √ऋ ( गतौ ) + तृच् प्रत्यय, द्वित्व, अभ्यास को इत्व ( अर्तिपिपर्त्योश्च, पा० ७. ४. ७७ ) । सायण ने प्रत्यय का संकेत नहीं किया है[8] ।

**अरित्रम्** < √ऋ (गतौ) + इत्र प्रत्यय (अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः, पा० ३. २. १८४), प्रत्ययस्वर[9] ।

**अरिषण्यन्** < न + रिषण्यन् < रिष्ट + क्यच् प्रत्यय, (दुरस्युर्द्रविण०, पा० ७. ४. ३६) से रिषण्भाव निपातित, नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[10] ।

---

१. सा० ऋ० १. २९. ४, ४३. ८, २. ७. २, द्र० सा० अ० १. २. २, १८. १, सा० सा० १.१.६, निरु० ३.२ अरातयः अदानकर्मणो अदानप्रज्ञा वा ।
२. एटि० यास्क पृ० ४० ।
३. सा० ऋ० १. ९९. १ ।
४. ,, ,, १. १४७. ४ ।
५. ,, ,, १. ३६. १५ ।
६. ,, ,, १, ४. ६, ९. १०, निरु० ५. ७. तथा वहीं दुर्ग०, द्र० औ० पदा० ४. ३९६, क्षीर० स्वा० ९९८ ।
७. स्टडीज इन दि ब्राह्मणाज् पृ० ७ ।
८. सा० ऋ० ९. ९५. २ ।
९. ,, ,, १. ४६. ८ ।
१०. ,, ,, १. ६३. ५ ।

**अरिष्ट** < √रिष् ( हिंसायाम् ) + क्त प्रत्यय = रिष्ट, न + रिष्ट = अरिष्ट, इट् प्रतिषेध ( एकाचः०, पा० ७. २. १० ), षत्व ( व्रश्चभ्रस्ज०, पा० ८. २. ३६ ), नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[1]।

( तु० Av. iriš – raēša, NPers. reš )

**अरिष्टताति**—अरिष्ट + तातिल् प्रत्यय स्वार्थिक, ( अथवा शिवशमरिष्टस्य करे, पा० ४. ४. १४३), प्रत्यय से पूर्व को उदात्त (लिति, पा० ६. १. १९३)[2]।

**अरुणप्सु** < √प्सा ( भक्षणे ) + कु प्रत्यय ( औणादिक ), आकार लोप ( आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४ ) प्सान्ति भक्षयन्ति स्तनं पिबन्ति इति प्सवो वत्साः। अरुण + प्सु > अरुणप्सु – अरुणा प्सवो यासां तास्तथोक्ताः। अरुण < √ऋ + उनन् प्रत्यय ( अर्तेश्च, उ० सू० ३, ५८), चित् (तृणाख्यायां चित्, उ० सू० ३. ५७) की अनुवृत्ति कर अन्तोदात्त, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर से वही शेष रहता है (बहुव्रीहौ प्रकृत्या०, पा० ६. २. १)[3]। यास्क ने अरुण का निर्वचन आ + √रुच् से किया है[4]।

( तु० IE elu, 'yellow'; OHG. elo, yellow )[5] Av. asūr, litt. Period of day, untill morning, Sūr – morning.)[6]

**अरुणी** < अरुण + ङीष् स्त्री प्रत्यय ( षिद्गौरादिभ्यश्च, पा० ४. १. ४१ ), एकादेशस्वर[7]।

**अरुशहा** < √ऋ ( गतौ ) + उशन् प्रत्यय ( औणादिक ) = अरुश + √हन् + क्विप् = अरुशहन्, प्र० एक० में अरुशहा[8]।

वेंकट० ने आ + √ रिश् ( हिंसार्थ ) = आरिश्, उकार उपजन तथा उपसर्ग को ह्रस्व > अरुश् व्युत्पत्ति दी है[9]।

**अरुष** < (क)—√रिष् ( हिंसायाम् ) + क प्रत्यय ( इगुपध०, पा० ३. १. १३५/ घञर्थे कविधानम्, वा० पा० ३. ३. ५८ ) प्रत्यय स्वर से उदात्त।

---

१. सा० ऋ० १. ४१. २, ११२. २५, द्र० ता० म० ब्रा० १२. ५. २३ अनेन अरिषामेति तद् अरिष्टस्य अरिष्टत्वम्।

२. „ „ १०. ६०. ८, १३७. ४, सा० अ० ३. ५. ५, ४. १३. ५, ६. ८०. २।

३. „ „ अरुणप्सवः १. ४९. १। द्र० स्क० वहीं, वोबू० पृ० १०८।

४. निरु० ५. २१, अरुण आरोचनः।

५. एटि० यास्क पृ० ७३।

६. डी० एस्० एस्० पृ० ९९४।

७. सा० ऋ० ४. १. १६, २. १६।

८. सा० ऋ० १०. ११६. ४।

९. वे० भा० ऋ० वहीं।

रिष् > रुष, न + रुष अरुष, न सन्ति रुषो अस्य असौ अरुषः, उत्तरपदान्तोदात्त ( नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२ )[1]।

(ख)—√ऋ ( गतौ ) + उषन् प्रत्यय ( उ० सू० ४. ७५ ), धातु को गुण, रपर > अरुष[2]।

(ग)—√ऋ + उषच् प्रत्यय ( उ० सू० ४. ७५ )[3]। सायण ने अन्यत्र आ + √ रुच् + उषच् ( बाहुलक, टिलोप आङ् को ह्रस्व ) कर व्युत्पन्न किया है[4]।

स्कन्द ने आ + √ रुच्, आ + √ रुश् ( दीप्त्यर्थक गत्यर्थक ), √ ऋष् ( दीप्तिकर्मा ) अथवा √ अरुष् ( गतिकर्मा, तु० नि० २. १४ ) से व्युत्पन्न माना है[5]। देवराज० ने ऋ तथा आ + √ रुच् से व्युत्पत्ति दी है[6]।

उणादिवृत्तिकारों में उज्ज्वलदत्त, श्वेतवनवासी तथा भोज ने उषन् प्रत्यय माना है। वेद में 'अरुष' शब्द अन्तोदात्त है, तथा इसी के समान व्युत्पन्न 'नहुष' शब्द आद्युदात्त। सायण ने कहीं उषन् किया है, कहीं उषच्। दोनों ही पाठ उपयुक्त है, स्वर का समाधान व्यत्यय से सम्भव है[7]।

( तु० Av. auruša )

**अरुषस्तूपः** < अरुष + √स्तु (स्तुतौ) + प तथा धातु को दीर्घ (स्त्यः सम्प्रसारणमुश्च, उ० सू० ३. २५ ) स्तूयते इति स्तूयस्तेजः संघः। अरुषः स्तूपः यस्य, बहुव्रीहि समास, पूर्वपदस्वर[8]।

**अरुषीः** < (क)—अरुष + ङीष्, स्त्री प्रत्यय (अन्यतो ङीष्, पा० ४. १. ४०) आद्युदात्त (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)।

(ख)—अरुष + ई प्रत्यय, मत्वर्थीय (छन्दसीवनिपौ, वा० पा० ५. २. १२२), अरुषी + शस् (द्वि० बहु०) पूर्वसवर्णदीर्घ (प्रथमयोः पूर्वसवर्णः, पा० ६. १. १०२)[9]। क्षितीश चन्द्र चटर्जी – अरुष (अच् प्रत्ययान्त) + ङीन् स्त्री प्रत्यय (शाङ्गर्रवाद्यो ङीन्, पा० ४. १. ७०) आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७), अथवा (स्त्रीविषयवर्णाक्षुपूर्वाणाम्, फि० सू० २. २०) से आद्युदात्त[10]।

---

१. सा० ऋ० १. ६. १, ३६. ९, ३. ७. ५, २९. २।
२. ,, ,, अरुषीः १. १४. १२।
३. ,, ,, अरुषीम् १. ७१, १, अरुषीः १. ७२. १०।
४. सा० अ० ३. ३. २, २०. २५. ५, निरु० १२. ७।
५. स्क० ऋ० १. ६. १, १४. १२, ७१. १, ७२. १०, ११४. ५।
६. देव० नि० १. ८. १३।
७. डी० एस्० एस्० पृ० १०५४।
८. सा० ऋ० ३. २९. ३।
९. ,, ,, १. १४. १२, ७१. १, ७२. १०, द्र० सा० अ० २०. २२. ५।
१०. मंजूषा—दिसम्बर १९५९, पृ० १०१-१०२।

( तु० अवे० अउरुश = 'शुभ्र' )

**अर्क** < (क)—√अर्च् ( पूजायाम् ) + घ प्रत्यय करण में ( पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण, पा० ३. ३. ११८ ), कुत्व ( चजोः कु घिण्ण्यतोः, पा० ७. ३. ५२ ), प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त । अर्च्यते एभिः इति अर्का मंत्राः[1] ।

(ख)—√ऋच् ( स्तुतौ ) + घ प्रत्यय, कुत्व, लघूपधगुण, प्रत्ययस्वर । ऋच्यते स्तूयतेऽनेनेति अर्को मन्त्रः[2] । ऋ० सं० में इसकी व्युत्पत्ति √ अर्च् से संकेतित है[3] । याज्ञवल्क्य ने √ अर्च् + क ( = उदक ) > अर्क्क > अर्क निर्वचन किया है[4] । यास्क ने √ अर्च् से व्युत्पन्न माना है, तथा देव, मन्त्र, अन्न और वृक्ष अर्थ बताया है[5] ।

( तु० IE erk – to sound clearly, Arm, erg. 'song' )[6]

**अर्किणः** < अर्क + इनि प्रत्यय ( अत इनिठनौ, पा० ५. २. ११५ ), अर्कोऽस्यास्तीति अर्की[7] ।

**अर्जुन** < √अर्ज (अर्जने) + उनन् प्रत्यय (अर्जेर्णिलुक् च, उ० सू० ३. ५६) आद्युदात्त ( ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७ ) अर्जयतीति अर्जुनः[8] । किन्तु तृणवाचक अर्जुन शब्द अन्तोदात्त होता है ( अर्जुनस्य तृणाख्या चेत्, फि० सू० १६ )[9] । वेलणकर √ ऋज् से व्युत्पन्न मानते हैं[10] ।

( तु० Gr. âpros )[11] ।

**अर्णः** < (क)— √ऋ (गतौ) + असुन् प्रत्यय तथा नुट् का आगम ( उदके नुट् च, उ० सू० ४. २०२), अर्यते प्रार्थ्यते तत्पिपासुभिरित्यर्णः[12] ।

---

१. सा० ऋ० १. ७. १, १०. १, १६. ४, ६२. १, ३. २६. ८, ८. ८८. ४, द्र० सा० अ० ७. २५. १ ।

२. „ „ १. ४७. १०, ६१. ५, द्र० अर्किणम् १. ३८. १५ ।

३. ऋ० सं० १. १०. १—गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः । द्र० १. ८५. २, १६६. ७, ८. ६२. १६, १. १९. ४, ५. ३०. ६ इत्यादि ।

४. श० ब्रा० १०. ६. ५. १—सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्त । अर्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम् ।

५. निरु० ५. ४, पा० म० १. १. ५८, द्र० देव० नि० ४. २. २४ ।

६. एटि० यास्क पृ० १७ ।

७. सा० ऋ० १. १०. १, ३८ १५ ।

८. „ „ ३. ३६. २, ४४. ५, द्र० देव० नि० १. ८, वोबू ११२ ।

९. उ० बृ० श्वे० ३. ५७, दश० ५. ५८, सरस्व० २. २. २०३, औ० प० ३. १६४ तथा इ. ई, ज० ४, ६४-६५ ।

१०. ऋ० म० ७ पृ० २३९ ।

११. डी० एस्० एस्० पृ० १०५४ ।

१२. सा० ऋ० १. ३. १२, २. १९. ३ ।

(ख)— √ऋ + न प्रत्यय[1]। देवराज० – √ऋ[2]।

( तु० Hittite – arunas – root harg = to have )[3]

**अर्णम्** < = अर्णसम्, सकारलोप छान्दस[4]।

**अर्णव** < अर्णस् + व प्रत्यय, मत्वर्थीय, तथा सलोप ( अर्णसो लोपश्च, वा० पा० ५. २. १०६, तथा 'व' प्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, वा० पा० ५. २. १०६ ) प्रत्ययस्वर[5]।

**अर्णसातौ** <(क)—अर्ण + √ सन् ( दाने ) + क्तिन् प्रत्यय भाव में, अनुनासिक को आत्व ( जनसनखनाम्०, पा० ६. ४. ४२ ), बहुव्रीहि समास, पूर्वपदप्रकृतिस्वर (बहुव्रीहौ प्रकृत्या०, पा० ६. २ १.)।

(ख)—अर्णस् + सन् + क्तिन्, सलोप (परिवोपवसनादीनां छन्दसि लोपो वक्तव्यः, वा० पा० ६. ३. १०६) स्वर पूर्ववत्[6]।

**अर्थम्** < √ऋ (गतिप्रापणयोः) + थन् प्रत्यय (उषिकुषिगर्तिभ्यस्थन्, उ० सू० २. ४) आद्युदात्त, (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)[7]।

यास्क ने √ ऋ तथा अरण + स्था से निर्वचन किया है[8]।

( तु० अर्थ IE. er 'to be set in motion, Gr. erethizdo' 'I excite' Av. erba 'affair', concern )[9]।

**अर्धम्** < √ ऋध् (हिंसाकर्मा) + अच् प्रत्यय, अन्तोदात्त[10]। यास्क ने – √हृ, √धृ >√धारय् तथा √ऋध् – से निर्वचन किया है[11]।

---

१. सा० ऋ० १. ६३. ६।
२. देव० नि० १. १२. १. द्र० क्षीर० स्वा० ६६८, मा० धा० ६५७।
३ बी० पी० एस्० सी० ७. १९६६, ३७-४० में सत्यस्वरूप का लेख—हित्ताइट अरुन का निर्वचन।
४. सा० ऋ० ३. २२. २।
५. „ „ १. ५१. १, ५५. २, ८५. ६, ३. २२. २, ५१. २, १०. ६५. ३, १११. ४, ११५. ३, १९०. १, द्र० सा० अ० १. १०. ४, ७. ८६. १, ११. १०. २, निरु० समु० मं० ८९, पृ० ८८।
६. „ „ १. ६३. ६, द्र० वोब्र०, पृ० ११३।
७. „ „ १. १० २, ३८. २, १३०. ५, २. ३६. १, ३. ११. ३, ५३. ५, ६१. ३, १०. १८. ४, द्र० स्क० ऋ० १. ३८. २, उ० वृ० श्वे० २. ४, उ० म० दी० २. ४।
८. नि० १. १८ अर्थोऽर्त्तेररणस्थो वा, द्र० दुर्ग० वहीं।
९. एटि० यास्क पृ० ४०, डी० एस्० एस्० ६३६।
१०. सा० ऋ० ७. १८. १६।
११. निरु० ३. २०—अर्द्धं हरतेर्विपरीताद् धारयतेर्वा स्यादुद्धृतं भवत्यृध्नोतेर्वा स्याद् ऋद्धतमो विभागः।

( तु० IE er – 'to separate' with 'd' extension, Lith. ardyti 'divide' 'splite')[१].

**अर्बुदम्** < अम्बु + √दा (+क प्रत्यय), अनुस्वार को रेफ, छान्दस, = अर्बुद[२]। यास्क – अरण + √दा, अम्बु + √भा, अम्बु + √भू[३]। भोज – √ऋ + उदन् तथा बुक् का आगम[४]। यह आद्युदात्त और अनुदात्त – दोनों ही मिलता है। व्युत्पत्ति पक्ष में आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७) तथा नाम मानने पर अन्तोदात्त (फिषोऽन्त उदात्तः, फि० सू० १)।

**अर्भ** <√ऋ ( गतौ ) + भन् प्रत्यय (अर्तिगॄभ्यां भन्, उ० सू० ३. १४६) आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[५]।

**अर्भगाय** < (क)—अर्भ + कन् प्रत्यय स्वार्थिक (संज्ञायां कन्, पा० ५. ३. ८७) छान्दस गकार > अर्भग > अर्भगाय (च० एक०)।

(ख)—अर्भ + √गै ( शब्दे ) + टक् प्रत्यय (गापोष्टक्, पा० ३. २. ८); आलोप ( आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४ )[६]। यास्क ने अव + √हृ से निर्वचन किया है[७]।

श्वे० – √ अर्ह् ( पूजायाम् ) + अकन्, ह् > भ् = अर्भक,

दश० उ०—√ ऋच्छ् अथवा √ ऋ + अक् प्रत्यय, भुक् का आगम,

भोज—√ ऋ + वुन् प्रत्यय तथा भुक् का आगम,

दुर्ग—√ अर्ह् + क प्रत्यय[८]।

( तु० IE orbo 'orphaned' Gr. orphanōs 'orphan' )[९]।

**अर्यः** < (क)—√ ऋ ( गतौ ) + यत् प्रत्यय निपातित ( अर्यः स्वामिवैश्ययोः, पा० ३. १. १०३ ), अन्तोदात्त (अर्यस्य स्वाम्याख्या चेत्, फि० सू० १७)[१०]।

---

१. एटि० यास्क पृ० ७३, १२६, डी० एस्० एस्० पृ० ९३६।

२. सा० ऋ० २. ११. २०।

३. निरु० ३. १०—अर्बुदो मेघो भवति अरणमम्बु तद्दोऽम्बुदोऽम्बुद्भातीति वा। वाम्बुमद्भवतीति वा।

४. सरस्व० २. २. १७२।

५. सा० ऋ० अर्भे—१. ७. ५, ४०. ८, ११६. १, द्र० सा० सा० २. ४. ७।

६. " " १. ११६. १, द्र० सा० अ० १. २७. ३।

७. निरु० ३. २०—अर्भकमवहृतं भवति। द्र० देव० नि० २. २२. २।

८. उ० वृ० श्वे० ५.५६, दश० उ० ३.५०, सरस्व० २.२.११, उ० वृ० दुर्ग० २.५८।

९. एटि० यास्क पृ० ८६।

१०. सा० ऋ० १.३३.३, १२१.२५, ३.४३.२, ४.१.७, ४.६, १०.१९१.१।

(ख)—√ ऋ + यत् प्रत्यय ( अघ्न्यादयश्च, उ० सू० ४. १२० ), व्यत्यय से अन्तोदात्त[1]। देवराज० सायण की पहली व्युत्पत्ति से सहमत हैं[2]।

**अर्यमा** < (क)—अर्य + √ मा ( माने ) + कनिन् प्रत्यय, निपातित (श्वन्नुक्षन्० उ० सू० १. १४६ )।

(ख)—√ ईर् ( गतौ ) + मन् प्रत्यय[3]। अन्यत्र सायण ने अरि + √ यम् से व्युत्पत्ति दी है[4]। पॉल थीमे ने इसे अरि से सम्बद्ध बताया है[5]।

( तु० G. irmin )

**अर्यम्यम्** < अर्यमन् + यत् प्रत्यय स्वार्थ में, अर्यमैव अर्यम्यः[6]।

**अर्वत्** < (क)— √ ऋ ( गतौ ) + वनिप् प्रत्यय ( अन्येभ्योऽपि दृश्यते, पा० ३.२.७५ )[7]।

(ख)—√ अर्व् ( गतौ ) + वनिप्, वकार लोप ( लोपो व्योर्वलि, पा० ७.२.८ ), धातु स्वर[8]। वैयाकरण तथा देवराज० √ ऋ से ही व्युत्पत्ति देते हैं।[9]

( तु० √ ऋ IE er—'to be set in motion' Gr. $\bar{e}rs\bar{e}$ )[10]।

**अर्वाचीन** < अर्वन् + √ अञ्च् ( गतौ ) + ख प्रत्यय ( विभाषाञ्चेरदिक्०, पा० ५.४.८ ), ख>इन[11]।

**अर्वाञ्चम्** < अर्वन् + √ अञ्च् + क्विन् प्रत्यय + अम् ( द्वि० एक० ) नुम् का आगम (उगिदचाम्०, पा० ७. १. ७०)[12]।

**अर्शसानम्** < √ऋ + असानच् प्रत्यय, गुण तथा शुट् का आगम (अर्त्तेर्गुणः शुट् च, उ० सू० २. ८८)। यहाँ √ऋ को आङ्पूर्वक समझना चाहिए। अर्थ है—बाधन, जैसे 'आर्तिमार्तोः, श० ब्रा० १३. १. २. ४)[13]।

---

१. सा० ऋ० १.११६.६।
२. देव नि० २.२२.२।
३. सा० ऋ० १.३६.४, ३.५४.१८ द्र० अर्यम्यम् ५.८५.७, सा०अ० २.१.४,१९.६.६।
४. सा० अ० ३.५.५, द्र० निरु० ११.२३—अर्यमा आदित्योऽरीन्नियच्छति।
५. मित्र एण्ड अर्यमन् पृ० ९६।
६. सा० ऋ० ५.८५.७।
७. ,, ,, अर्वद्भिः १.२७.९, अर्वते—१.४३.६, ६३.५।
८. ,, ,, अर्वता १.८.२, द्र० स्क० वहीं०।
९. उ० वृ० श्वे० ४.१२१, देव० नि० १.१४.३।
१०. एटि० यास्क पृ० ११५।
११. सा० ऋ० ३.३७.२, ४.३.?, १०.११६.२।
१२. सा० ऋ० ३. ४१. ९।
१३. ,, ,, ८. १२. ९।

**अर्हते** < ✓अर्ह (पूजायाम्) + शतृ प्रत्यय, शप् अनुदात्त, शतृ के ल सार्वधातुकस्वर होने से, धातुस्वर शेष रहता है[1]।

**अर्हणा** < ✓अर्हन् + सु ( प्र० एक० ), विभक्ति को आकार ( सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९), छान्दस प्रत्यय को आद्युदात्त[2]।

**अर्हरिष्वणिः** < ✓ऋ + विच् = अर् + हरि > अर्हरि + ✓ स्वन् (शब्दे) + णिच् + इन् प्रत्यय (औणादिक), णिलोप (णेरनिटि, पा० ६. ४. ५१), ह्रस्व (मितां ह्रस्वः, पा० ६. ४. ९२), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[3]।

**अलातृणः** < अलम् + ✓तृह् (हिंसायाम्) + क प्रत्यय, कर्म में (घञर्थे कविधानम्, वा० पा० ३. ३. ५८ ), अलम्>अला + तृण = अलातृणः, समासस्वर[4]। यास्क ने अलम् + आ + ✓तृद् से व्युत्पन्न माना है[5]। देवराज० अलम् + ✓तृद् (हिंसा) + ण प्रत्यय (वीणास्थूणाहूणभ्रूणक्षूणतूणतृणघृणादयः, सरस्व० २.२.१२३), दकार लोप, गुणाभाव – पृषोदरादि (पा० ६.३.१०९) अथवा – अलम् + ✓तृद् + ल्युट् प्रत्यय, शेष पूर्ववत्[6]। राँथ ने अ + ला (= ✓रा) से व्युत्पत्ति दी है[7]।

**अलाय्य** < ✓ऋ + आय्य प्रत्यय (औणादिक), गुण, लत्व[8]।

**अवखादः** < अव + ✓ खाद् ( भक्षणे ) + घञ् प्रत्यय। अवमतः खादो अवखादः उत्तरपदान्तोदात्त (थाथघञ्०, पा० ६. २. १४४)[9]।

**अवतम्** <✓अव् (रक्षणे) + अतच् प्रत्यय (औणादिक), अन्तोदात्त[10]। यास्क – अव + ✓अत्[11]। ग्रासमान ✓ अव[12]। राजवाडे ने अव + त = अवत, संभावना व्यक्त की है[13]।

---

१. सा० ऋ० १. ९४. १।
२. ,, ,, १. १२७. ६।
३. ,, ,, १. ५६. ४।
४. ,, ,, १. १६६. ७, ३. ३०. १०।
५. निरु० ६. २, द्र० स्क० तथा दुर्ग० वहीं।
६. देव० नि० ४. ३. ५।
७. एटि० यास्क, पृ० १६०।
८. सा० ऋ० ९. ६७. ३०।
९. ,, ,, १. ४१. ४।
१०. ,, ,, ३. ४६. ४।
११. निरु० ५. २६—अवतोऽवातितो महान् भवति। द्र० देव० नि० ३. २३।
१२. वोबु पृ० १२५
१३. निरु० पृ० ४०८-९।

( तु० IE au̯e—'to wet', Lett. avuots 'a source, a spring'.[१] ।

**अवद्य** < अ + वद्य < √ वद् ( व्यक्तायां वाचि ) + यत् प्रत्यय निपातित ( अवद्य-पण्यवर्या०, पा० ३.१.१०१), अन्तोदात्त (ययतोश्चातदर्थे, पा० ६.२.१५६)[२] ।

**अवद्यगोहना** < अवद्य + √ गुह ( संवरणे ) + ल्युट् प्रत्यय ( नन्दिग्रहि० पा० ३. १. १३४ ), ऊत्व का अभाव ( ऊदुपधाया गोहः, पा० ६. ४. ८९) छान्दस[३] ।

**अवनद्धम्** < अव + √ नह् ( बन्धने ) + क्त प्रत्यय, ह् को ध्कार ( नहो धः, पा० ८. २. ३४ ), निष्ठा तकार को धकार ( झषस्तथोर्धोधः, पा० ८. ४. २० ) = अवनद्ध, गतिस्वर ( गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४९ )[४] ।

**अवनि** < √ अव् ( रक्षणगति० ) + अनि प्रत्यय ( अर्तिसृधृधम्यम्यपथ्यवितॄभ्योऽनिः उ० सू० २. १०३ ), प्रत्यय आद्युदात्त ( आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३ )[५] ।

( तु० IE Prototype—au̯e, 'to wet', Lett. avuots, 'source' ,[६]

**अवपान** < अव + √ पा ( पाने ) + ल्युट् प्रत्यय, अधिकरण में । पानमेव अवपानम्[७] ।

**अवयाताम्** < अव + √ या ( प्रापणे ) + शतृ + आम् ( ष० बहु० ) विभक्ति को उदात्त ( शतुरनुमो० पा० ६. १. १७३)[८] ।

**अवसम्** < √ अव + असच् प्रत्यय, ( अत्यविचमित ०, उ० सू० ३. ५१, दश० ९. ४४)[९] ।

**अवसाय** < अव + षो ( अन्तकर्मणि ), धातु को आत्व ( आदेच उपदे०, पा० ६. १. ४५ ) = अव + √ सा + ल्यप् (समासेऽनञ्०, पा० ७. १. ३७)[१०]

---

१. एटि० यास्क पृ० ७४ १६० ।

२. सा० ऋ० ३.३१.८, ४.४.१५,० भिया १०.१०७.३ सा० अ० २.१०.६, ऋ० ग्ला० पृ० १७, वोबू० पृ० १२५ ।

३. ,, ,, १.३४.३ ।

४. ,, ,, १.११६.२४ ।

५. ,, ,, १.४.१०, अवनीः १. ६१. १०, ६२. १०, द्र० स्क० वहीं, निरु० ३.९, देव० नि० १.१ ।

६. एटि० यास्क पृ० ९ ।

७. सा० ऋ० १०. १०६. २ ।

८. ,, ,, १. ६४. १२ ।

९. ,, ,, १. ९३. ४, ११९. ६, द्र० औ० प० पृ० १५३, वोबु० पृ० १२७ ।

१०. ,, ,, १. १०४. १ ।

स्कन्द ने स्यतिर्विमोचने से व्युत्पन्न माना है[१]। यास्क – √ अव्, अव + √ सो[२]। ग्रासमान— अव + √ सा[३]।

( तु० IE Sēi 'to Let Loose' Goth seithus. 'Late' )

**अवस्** < (क)—√ अव् + असुन् प्रत्यय भाव में, आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ )।
(ख)—अवर + असि तथा अवर को अवादेश ( पूर्वाधरावराणामसि-पुरधवश्चैषाम्, पा० ५. ३. ३९ )[४]।

**अवसे**< √ अव् (रक्षणे) + असेन् प्रत्यय (तुमर्थे०, पा० ३.४.९) आद्युदात्त (ञ्नित्यादि०, पा० ६. १. १९७)[५]।

**अवसै** < अव + √षो (अन्तकर्मणि) + क्विप् = अवसा + ङे (च० एक०) छान्दस आतोलोप का अभाव, वृद्धि, एकादेशस्वर[६]।

**अवस्तात्** <अवर + अस्तातिॅ प्रत्यय ( दिक्छब्देभ्यः०, पा० ५. ३. २७ ), अवर को अवादेश (बिभाषा परावराभ्याम्, पा० ५. ३. २९)[७]।

**अवस्यते** <अवस + क्यच् ( सुप आत्मनः क्यच् पा० ३. १. ८ ) (च० एक०) विभक्ति को उदात्त (शतुरनुमो०, पा० ६. १. १७३)[८]।

**अवस्यु** < (क)— √अव् + क्यच् (सुप आत्मनः क्यच्, पा० ३. १. ८) ईत्व (क्यचि च, पा० ७. ४. ३३) का अभाव (नच्छन्दस्यपुत्रस्य, पा० ७. ४. ३५), सुक् का आगम ( सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायां सुग्वक्तव्यः, वा० पा० ७.१.५१) = अवस्य + उ (क्याच्छन्दसि, पा०३.२.१७०), अतो लोप, प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त[९]।
(ख) √ अव् + असुन् + क्यच् = अवस्यु[१०]।

**अवस्रस** : < अव + √ स्रंस् ( गतौ ) + क्विप् प्रत्यय भाव में ( संपदादिभ्यः क्विप्, वा० पा० ३. ३. ९४ )[११]।

---

१. स्क० ऋ० वहीं।
२. निरु० १. १७।
३. वो० बू० पृ० १२८।
४. सा० ऋ० १. १७. २, ६, २२. ११, ८३. २, १३३. ६, ३. १७. ३ द्र० देव० नि० २. ७. ९।
५. सा० ऋ० १. १७. २, २२. ६, द्र० स्क० भा० ऋ० सं० १. ५२. १२।
६. „ „ ३. ५३. २०।
७. „ „ ३. २२. ३, १०. १.९. ५।
८. „ „ १. ११६. २३।
९. „ „ १. १४. ५, २५. १९ ३. ३३. ५, ४. १६. ११।
१०. सा० ऋ० १. १०१. १, ११४. ११, ३. ४२. ९, सा० अ० ३. २६. २, सा० सा० ४. ४. ११, द्र० स्क० निरु० २. २५, निरु० समु० मं० ३८, पृ० ३९।
११. „ „ २. १७. ५।

**अवाता** : < √ वा ( गतिगन्धनयोः ) + तन् प्रत्यय भाव में ( पा० ३. ३. ११४ ), अ + वात = अवात, अविद्यमानं वातं गमनं यस्मिन् सोऽवातः । उत्तर-पदान्तोदात्त ( नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२ )[1] ।

**अवाशय** : < √ वाशृ ( शब्दे ) । सायण ने प्रत्यय संकेतित नहीं किया है ।[2]

**अविथुरा** : < अ + √ व्यथ् ( भयचलनयोः ) + उरच् प्रत्यय ( व्यथेः सम्प्रसारणं धः किच्च, उ० सू० १. ३६ ) तथा 'ध' अन्तादेश कित्, यहाँ बाहुलक 'ध' का अभाव, सम्प्रसारण, व्यथ्यन्तेऽस्मात् प्राणिन इति विथुरः, न + विथुरः = अविथुरः, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर ।[3]

**अविद्रियामभिः** < अ + वि + √ द्रा ( गति - कुत्सा ) + कि प्रत्यय, भाव में ( औणादिक ) आकारलोप (आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४) = विद्रिः = निद्रा, तद्विरोधिनी - अविद्रि = स्तुति, अविद्रि + √ या ( प्रापणे ) + विच् ( अन्येभ्योऽपि दृश्यते, पा० ३. २. ७५ ) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[4] । स्कन्द √ दृ ( विदारणे ) से व्युत्पन्न मानते हैं ।[5]

**अविवेनम्** < अ + विवेन < √ वेन् ( कान्तिकर्मा ), विवेनः = विगतेच्छः, तदन्योऽविवेनः ।[6]

**अवीरता** < वीर + अच् ( अर्श आदिभ्योऽच्, पा० ५. २. १२७ ), वीरा अस्य सन्तीति वीरः, तस्य भावो वीरता < वीर + तल् प्रत्यय ( तस्य भावस्त्वतलौ, पा० ५. १. ११९ ) । न + वीरता = अवीरता । उत्तरपदाद्युदात्त (परादिश्छन्दसि बहुलम्, पा० ६. २. १९९ )[7]

**अवीरहा** < वीर + √ हन् + क्विप् = वीरहा, न + वीरहा = अवीरहा । वीर्याज्जायन्त इति वीराः पुत्राः, तेषां हन्ता वीरहा[8] ।

**अवु** < √ अव् + उ प्रत्यय ( औणादिक ) ।[9]

**अवृक्** < अ + वृक् < √ वृ ( वरणे ) + कन् प्रत्यय ( सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कित्, उ० सू० ३. ४१ ), नास्ति वृकोऽस्मिन्, बहुव्रीहि, उत्तरपदान्तोदात्त (नञ्सुभ्याम्,

---

१. सा० ऋ० १. ६२. १०, ६ ६४. ४, द्र० स्क० ऋ० १. ६२. १० ।
२. ,, ,, १. ३१, ४ ।
३. ,, ,, १. ८७. १ ।
४. सा० ऋ० १. ४६. १५ ।
५. स्क० ऋ० वहीं० ।
६. सा० ऋ० ४. २४. ६ ।
७. ,, ,, तार्य० ३. १६. ५ ।
८. ,, ,, १. ९१. १९, सा० अ० १. १६. ४ ।
९. ,, ,, अवोः — १०. १३२, ५ ।

पा० ६. २. १७२ )[१] । स्कन्द – √ व्रश्च ( छेदने ) । √ वृक् ( आदाने ) + घञ् भाव में, वृको हिंस्रप्राणी, तत्स्वभावरहितः[२] ।

( तु० √ वृ Goth. warjan, Gr. wehr, Eng. 'Weir',

वृक—Gr. Lukos, Lat. Lukus Sl. vluku, lith. vilkas, Goth, wulfs, G. Eng. Wolf)

**अवृजिनाः** : < अ + √ वृज् ( वर्जने )[३] ।

**अव्यया** < = अविमयानि, मकारलोप[४] ।

**अशनिम्** < √ अश् ( व्याप्तौ ) + अनि प्रत्यय ( अर्तिसृवृ० उ० सू० २. १०३ ) अश्नुते इति अशनिः । प्रत्यय स्वर[५] ।

**अशस्** < √ अश् ( भोजने ) + असि प्रत्यय ( औणादिक )[६] ।

**अशिश्वी** : < (क)—अ + शिशु + ङीष् स्त्री प्रत्यय, उकार को यण्, न विद्यते शिशुर्यस्याः सा अशिश्वी, निपातित ( सख्यशिश्वती भाषायाम्, पा० ४. १. ६२) ।

(ख)—शिशु + ई प्रत्यय, मत्वर्थीय (छन्दसीवनिपौ, वा० पा० ५.२.१२२) = शिश्वी, न + शिश्वी = अशिश्वी, शिशुः अस्यास्तीति शिश्वी, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर ।

(ग)—√शी ( स्वप्ने ) + कि प्रत्यय ( छान्दस ), द्वित्व, ह्रस्व, यण् ( एरनेकाचः० पा० ६. ४. ८२ ), छान्दस वकार, पूर्ववत् समासस्वर[७] ।

**अशुषम्** <अ + √शुष् ( शोषणे ) + क प्रत्यय ( इगुपध० पा० ३. १. १३५ ) शुषाः शोषका न सन्त्यस्येति अशुषः, उत्तरपदाद्युदात्त (परादिश्छन्दसि बहुलम, पा० ६. २. १९९)[८] ।

अथवा—अ + शूष (सुखनाम); दीर्घ का अभाव[९] ।

**अश्नुवन्** <√अश् (व्याप्तौ) + शतृ व्यत्यय, प्र० एक०[१०] ।

---

१. सा० ऋ० १. ४८. १५, ५५. ६ ।

२. स्क० ऋ० १. ३१. १३, ५५, ६, द्र० जु० ऋग्वेद, ७, ८८, ६, सी. उण्ड ५ बी ( अबृक् ) ।—। ज ८ ( ३ ) १९६५, पृ० १६५-७० ।

३. सा० ऋ० २. २७, २ ।

४. ,, ,, १, १३५. ६ ।

५. ,, ,, ३. ३०. १६ ।

६. ,, ,, अशसः २. ३४. ९ ।

७. सा० ऋ० १. १२०. ८, द्र० वा० म० तथा त० बो०, पा० ४. १. ६२ ।

८. ,, ,, १. १०१. २ ।

९. ,, ,, ४. १६. १२ ।

१०. ,, ,, १. ११६. २५ ।

**अश्मन्** < √अश् (व्याप्तौ) + मनिन् प्रत्यय (अन्येभ्योऽपि दृश्यते, पा० ३. २. ७५)[1]। वैयाकरण – √अश् मनिन् (अशिशकिभ्यां छन्दसि, उ० सू० ४. १५८, दश० ६. ७५)। उज्ज्वलदत्त के अनुसार भाषा में भी अश्मा का प्रयोग होता है,[2] पर पेरुसूरि इसे छान्दस ही मानते हैं[3]। (तु० अवे० असन् (पत्थर), अस्मन् (आकाश)।

**अश्मनमयी** <अश्मन् + मयट् + ङीप् नकारोपजन छान्दस[4]।

**अश्रीरः** < अ + श्री + र प्रत्यय (मत्वर्थीय) न + श्रीः, अश्रीः, अश्रीः यस्यास्तीति अश्रीरः[5]।

**अश्व** < √अश् (व्याप्तौ) + क्वन् प्रत्यय (अशिप्रुषि० उ० सू० १. १३७) अश्नुते गन्तव्यमाशु व्याप्नोतीति अश्वः। आद्युदात्त (ञ्नित्यादि०, पा० ६.१. १९७)[6]। ब्राह्मणों में √श्वि, √अश्, अश्रु तथा आशु से निर्वचन मिलता है[7]। यास्क ने √अश् (व्याप्तौ – भोजने) से व्युत्पन्न माना है[8]।

(तु० IE ekuo – 'horse' lat. equus Gr. hippos, lith. aszwa' (= Aswa) Av. and opers. aspa-)[9]

**अश्वयु** <अश्व + क्यच् (छन्दसि परेच्छायाम्, वा० पा० ३. १. ८) = अश्वय + उ (क्याच्छन्दसि, पा० ३. २. १७०), ईत्व तथा दीर्घ का निषेध (न छन्दस्यपुत्रस्य, पा० ७. ४. ३५), आत्व (अश्वाघस्यात्, पा० ७. ४. ३७) का छान्दस अभाव[10]।

---

१. सा० ऋ० अश्मानम्—१. १२१. ९, निरु० १०. १३, क्षीर० स्वा० २१।

२. उ० वृ० उज्ज्व० ४. १५८ - भाषायामपि दृश्यते। अश्मानं दृषदं मन्ये—इति जिनेन्द्रबुद्धिः। द्र० देव० नि० १. १०. ८।

३. औ० प० ४. २६, ४. ४२५।

४. सा० ऋ० १०. १०१. १०।

५. ,, ,, ८. २. २०।

६. ,, ,, १. १६. ९, २९. १, ३०. २१, ८८. १, ११५. ३, २. ३४. ३, ३. ७. २, ५. १०. ४, द्र० स्क० ऋ० १. ११८. ५, मा० भा० स्वा० १९, क्षीर० स्वा० २१।

७. श० ब्रा० १३. ३. १. १ — प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्। तत्परापतत्ततोऽश्वः समभवद्यदश्वयत् तदश्वस्याश्वत्वम्। तै० सं० १. १. ५. ४, ता० म० ब्रा० २१. ४. २, श० ब्रा० ४. २. १. ११, ऐ० ब्रा० ५. १, तै० सं० ३. ८. १३. २, श० ब्रा० ६. १. १. ११, ६. ३. १. २८।

८. निरु० १. १२, २. २६—अश्वः कस्मात्? अश्नुतेऽध्वानम्, महाशनो भवतीति वा।

९. डी० एस्० एस्० पृ० १६७।

१०. सा० ऋ० १. ५१. १४।

**अश्वराधसः** <अश्व + √राध् ( संसिद्धौ ) + असुन् प्रत्यय = अश्वराधस् राध्नुवन्ति साधयन्त्यनेन धर्मादीनीति राधो धनम्, राध्यतेऽनेन धर्मादिरिति[1] ।

**अश्वहयः** <अश्व + हयः<√हय् (गतिकर्मा) ।[2]

**अश्वाजनी** <अश्व + √अज् ( गतौ ) + ल्युट् प्रत्यय = अश्वाजन + ङीप् स्त्री प्रत्यय, अश्वा व्यापनशीला मेघाः, तान् अजति गच्छतीत्य श्वाजनी विद्युत्[3] ।

**अश्विना** < अश्व + इनि प्रत्यय ( मत्वर्थीय ) > अश्विन् + औ ( प्र० द्वि० ) विभक्ति को आकार ( सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९ )[4] । यास्क ने √ अश् से निर्वचन किया है[5] । और्णवाभ ने √ अश्व से ही निर्वचन किया है[6] । अश्विना ( = अश्विनौ ) युग्म देवता है ।

**अश्व्य** < अश्व + यत् प्रत्यय ( भवे छन्दसि, पा० ४. ४. ११० ), आद्युदात्त ( यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३ ), अश्वे भवः अश्व्यः, अथवा अश्वकुशलोऽश्व्यः, अथवा स्वार्थिक यत् प्रत्यय[7] । स्कन्द के अनुसार समूहार्थ में यत् प्रत्यय है ।[8]

**अषाळ्हः** < √ सह् ( मर्षणे ) + क्त प्रत्यय, ह् को ढ्, ( होढः, पा० ८. २. ३१ ) निष्ठा को धकार ( झषस्तथोर्धोऽधः, पा० ८. २. ४० ) ष्टुत्व > असढ्ढ, ढलोप ( ढो ढे लोपः, पा० ८. ३. १३ ) दीर्घ ( ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः, पा० ६. ३. १११ ) आत्व ( सहिवहोरोदवर्णस्य, पा० ६. ३. ११२ ) का अभाव छान्दस, मूर्धन्यादेश ( सहे साडः सः, पा० ८. ३. ५६ ) अव्यय-पूर्वपदप्रकृतिस्वर[9] ।

**अष्टकर्ण्यः** <अष्ट + कर्ण्यः, अष्ट<√अश् (व्याप्तौ) + क्त प्रत्यय[10] ।

**अष्टा** <√अश् (व्याप्ति – भोजन) + तृच् प्रत्यय, आगमानुशासन के अनित्य होने से इट् आगम का अभाव[11] ।

---

१. सा० ऋ० ५. १०. ४, द्र० देव० नि० २. १०. १७ ।

२. ,, ,, १०. २६. ५ ।

३. ,, ,, ५. ६२. ७, द्र० देव० नि० ५. ३. १५ ।

४. ,, ,, १. ५३. ४, द्र० स्क० वहीं तथा वे० ८. ५. ३१ ।

५. निरु० १२. १—अश्विनौ यद्व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्यो० । द्र० श० ब्रा० ४. १. ५. १६ ।

६. निरु० १२. १—अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः ।

७. सा० ऋ० १. ३२. १२, ११९. ९, ८. ६६. ३ ।

८. स्क० ऋ० १. ११२. १० ।

९. सा० ऋ० १. ५५. ८, ६१. २१, २. २१. २, ३. १५. ४, द्र० ऋ० ग्ला० १९, वो० बू० पृ० १४४ ।

१०. सा० ऋ० १०. ६२. ७ ।

११. ,, ,, १. १२१. ८, अष्टकर्ण्यः — १०. ६२. ७ ।

**असंदितः** <अ + सम् + √दो (अवखण्डने) + क्त प्रत्यय कर्म में, इत्व (द्यतिस्यति॰ पा॰ ७. ४. ४०), नञ्समास, नञ्स्वर[१]।

**असने** <√अस् (क्षेपणे) + ल्युट् प्रत्यय (करणाधिकरणयोश्च, पा॰ ३. ३. ११७)[२]।

**असमष्टकाव्यः** <असमष्ट + काव्य, असमष्ट<√अश् (व्याप्तौ) + क्त प्रत्यय कर्म में, इट् का विकल्प से अभाव, नञ्समास[३]।

**असश्चतः** <अ + √सस्ज् (गतौ), धातु के ज् को च् व्यत्यय से = अ + √सश्च + शतृ + शस् (द्वि॰ बहु॰)[४]।

**असश्चन्ती** <असश्चत् + ङीप् स्त्री प्रत्यय ( उगितश्च, पा॰ ४. १. ६ ), नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[५]।

**असामि** – न + सामि ( = अर्ध) अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर (अव्यये नञ्कुनिपातानाम्, वा॰ पा॰ ६. २. २)[६]।

**असुर** <(क)—√अस् (क्षेपणे) + उरन् प्रत्यय (असेरुरन्, उ॰ सू॰ १. ४२), आद्युदात्त (ञ्नित्यादि॰, पा॰ ६. १. १९७)। अस्यति शत्रून् इति असुरः।

(ख)—असु + √रा (दाने) + क प्रत्यय (आतोऽनुपसर्गे कः, पा॰ ३. २. ३)।

(ग)—असु + र प्रत्यय ( मत्वर्थीय )। = शक्तिशाली[७]।

सायण की अन्तिम व्युत्पत्ति का आधार तै॰ ब्रा॰ है[८]। जै॰ उ॰ ब्रा॰ में √अस् + रम (<√रम्) = असुर निर्वचन मिलता है[९]। यास्क – अ + सु + √रम्, √अस, असु + √रा[१०]। स्कन्द माहेश्वर असु + र मत्वर्थीय[११]। देवराज॰—

१—√अस् (भुवि) + उ = असु + √रा + क प्रत्यय (पा॰ ३. २. ३) अस्ति तिष्ठति असुः प्राणः तद्राति असुरः।

२—असु + र प्रत्यय (मत्वर्थीय)।

३—√अस् ( क्षेपणे ) + उरन् प्रत्यय, अस्यति क्षिपति भूमौ जलम्, यद्वा अस्यते क्षिप्यते स्थाने इन्द्रेण वर्षार्थम्।

---

१. सा॰ ऋ॰ ४. ४. २, द्र॰ ऋ॰ ग्ला पृ॰ २०।
२. ,, ,, १. ११२. २१, सा॰ अ॰ १. १३. ४, द्र॰ वो॰ बू॰ पृ॰ १५३।
३. ,, ,, २. २१. ४।
४. ,, ,, १. १३. ६, द्र॰ स्क॰ ऋ॰ वहीं तथा १. ११२. २।
५. ,, ,, ३. ५७. ६, द्र॰ देव॰ नि॰ ४. २. ७।
६. ,, ,, १. २५. १५, ३९. ९।
७. ,, ,, १. २४. १४, ३५. ७, ५४. ३, १०८. ६, २. ३३. ९, १०. ९६. ११, सा॰ अ॰ २. ३. ३, ४. ८. ३, निरु॰ समु॰ म॰ १२, पृ॰ १४।
८. तै॰ ब्रा॰ २. ३. ८. २—तेनासुनासुरानसृजत। तदसुराणामसुरत्वम्।
९. जै॰ उ॰ ब्रा॰ ३. ३५. ३—मनो वा असुरम्। तद्ध्यसुषु रमते।
१०. निरु॰ ३. ८।
११. स्क॰ नि॰ ५. २।

४—√अस् (गतिदीप्त्यादानेषु) + उरन्, असति गच्छति अन्तरिक्षे दीप्यते स्वयम्, आदत्ते वा जलं वर्षितुम् ।

५—√सुर् (ऐश्वर्ये) + क प्रत्यय (पा० ३. १. १३६) >सुर, सुरतीति सुरः ईश्वरः स्वतन्त्र इत्यर्थः, असुरः अनीश्वरः इन्द्रादिपरतन्त्र इत्यर्थः[१] । रामचन्द्र जैन ने इसका सुरा न पीने वाला अर्थ किया है : अ + सुरा = असुर[२] । वेद में 'असुर' शब्द आद्युदात्त तथा अन्तोदात्त दोनों ही प्रयुक्त है । आद्युदात्त हीनार्थक तथा अन्तोदात्त बलवान् सूचक है । अन्तोदात्त 'असुर' शब्द अवेस्ता में 'अहुर' रूप से परिणत हो गया है ।

(तु० असु Av. ahū, 'Lord' < ahūm mбıбnсō).

**असुर्य** <असुर् + यत् प्रत्यय ( भवे छन्दसि, पा० ४. ४. ११० ), असुरे भवः, असुरे साधुर्वा । तित्स्वरित (तित्स्वरितम्, पा० ६. १. १८५)[३] ।

**असेन्या** <अ + सेना + यत् (छन्दसि च, पा० ५. १. ६७), नञ्समास, सेनार्हाणि न भवन्ति, उत्तरपदान्तोदात्त (ययतोश्चातदर्थे, पा० ६. २. १५६)[४] ।

**अस्तम्** < √अस् + तन् प्रत्यय ( असिहसि, उ० सू० ), इट् प्रतिषेध ( तितुत्र० पा० ७. २. ९.) । आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[५] । √अस् (क्षेपणे) + क्त प्रत्यय (क्तोऽधिकरणे च०, पा० ३. ४. ७६) >अस्त व्युत्पत्ति उपयुक्त है ।

**अस्तृ** <√अस् ( क्षेपणे ) + तृन्, प्रत्यय ( तृन्, पा० ३. २, १३५ ) इट् का अभाव विकल्पनात् (रधादिभ्यश्च, पा० ७. २. ४५)[६] ।

**अस्तृत** <अ + स्तृत < √ स्तृ (हिंसायाम्) + क्त प्रत्यय, न स्तृतोऽस्तृतः । नञ्तत्पुरुष, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर (पा० ६. २. २)[७] ।

**अस्थेयस्** <अ + स्थिर + ईयसुन् ( प्रियस्थिर०, पा० ६. ४. १५७ ) स्थिर को स्था = अस्थेयस् ।[८]

---

१. देव० नि० १. १०. २९ ।

२. दि असुर प्रॉबलम्—ए० आई० ओ० सी० १९६५, २२३, २२४ ।

३. सा० ऋ० असुर्यम् ३. ३८. ७ ।

४. सा० ऋ० १०. १०८. ६ ।

५. „ „ १.११६.५, ६६. ९-१०, ३. ५३. ४ ।

६. „ „ अस्तृभिः १. ८. ४, अस्ता १. ६१. ७, १०. १३३. ३, अस्तारः—१, ६४ १, सा० अ० १९. १३. ४ ।

७. „ „ १. ४. ४, १५. ५, ४१. ६, सा० अ० १. २०. ४ ।

८. „ „ अस्थेयसाम् १०. १५९. ५ ।

**अस्मत्** < ✓ अस् ( क्षेपणे ) + मदिक् प्रत्यय ( युष्यसिभ्यां मदिक्, उ० सू० ३. १५५ )[१]।

**अस्मद्र्यक्** < अस्मत् + ✓ अञ्च् + क्विन्, अस्मत् के अत् को अद्र्यादेश अन्तोदात्त निपातित ( विष्वग्देवयोश्च टेः, पा० ६. ३. ९२ ), विभक्ति लुक् ( सुपां सुलुक् ०, पा० ७. १. ३९ ), यणादेश करने पर यण् को स्वरित ( उदात्तस्वरितयोः०, पा० ८. २. ४ )[२]।

**अस्मध्रुक्** < अस्मत् + ✓ द्रुह् ( जिघांसायाम् ) + क्विप् ( सत्सूद्विष०, पा० ३. २. ६१ ) ह् को धकार ( वा द्रुहमुह०, पा० ८. २. ३३ ) भष्भाव[३]।

**अस्मयु** < अस्मत् + क्यच् (सुप आत्मनः क्यच्, पा० ३. १. ८) उत्व (क्याच्छन्दसि, पा० ३. २. १७० ), छान्दस दकारलोप, = अस्मयु, अस्मान् कामयमानः। प्रत्ययस्वर[४]।

**अस्माकासः** < अस्मत् + अण् प्रत्यय तथा अस्माकादेश ( तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ, पा० ४. ३. २ ) छान्दस अण् का लोप, वृद्धि का अभाव ( संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः ) = अस्माक + जस् ( प्र० बहु० ), असुक् का आगम ( आज्जसेरसुक्, पा० ७. १. ५० )। यहाँ 'अस्माक' आदेश मध्योदात्त होता है।[५] अस्माकेभिः – ( अस्माक + भिस् ( तृ० बहु० ), भिस् को ऐस् का अभाव बाहुलक ( बहुलं छन्दसि, पा० ७. १. १० )[६]।

**अस्मेहितिः** अस्मे + हिति ( ✓ धा अथवा ✓ हि + क्तिन् प्रत्यय )[७]।

**अस्रिधः** < ✓ स्रिध् ( क्षय – हिंसा – शोषण ) + क्विप् भाव में ( संपदादिभ्यः, क्विप्, वा० पा० ३. ३. ९४ ) = स्रिध्, न + स्रिध् = अस्रिध्, नञ् के साथ बहुव्रीहि, उत्तरपदान्तोदात्त ( नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२ )[८]।

**अस्रेधता** < अ + ✓ स्रिध् + क्त प्रत्यय, नञ्स्वर। अस्रेधत + टा (तृ० एक०) विभक्ति को आकार[९]।

---

१. सा० ऋ० अस्मान् १. १७. ७, अस्मे—१. ९. ७, ८ इत्यादि
अस्मभ्यम्—१. ७. ६, १७. ८, अस्माकम् १. ७. १०, १३. १०।
२. ,, ,, ३. ५४. २२, १०. ११६. ६।
३. ,, ,, १. ३६. १६।
४. ,, ,, १. १३५. २, ७. १५. ८।
५. ,, ,, १. ९७. ३, ५. १०. ६।
६. ,, ,, १. १००. ६।
७. ,, ,, १०. १०८. १।
८. ,, ,, १. ३. ९, ८९. ३, स्क० ऋ० वहीं, वो० बू० पृ० १६०।
९. ,, ,, ३. १४. ५।

**अस्रेमाणम्** < √ स्रिव् ( गति – शोषण ) + मनिन् प्रत्यय भाव में, लघूपधगुण, वलोप ( लोपो व्योर्वलि, पा० ६. १. ६६ ), बहुव्रीहिसमास, उत्तरपदान्तोदात्त (नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२ )[१]।

**अस्वप्नजः** < √ स्वप् + नजिङ् प्रत्यय ( स्वपितृषोर्नजिङ्, पा० ३. २. १७२ ), न + स्वप्नजः, अस्वप्नजः। सायण के अनुसार यह व्युत्पत्ति पदकार को अभीष्ट है, पर जो लोग अस्वप्नजः, अस्वपन्तः = विगतनिद्राः अर्थ करते हैं, उनके मत में पद पाठ में अवग्रह का अभाव छान्दस समझना चाहिए[२]।

**अस्वम्** < √ सू ( प्राणिगर्भविमोचने ) + क्विप्, सवनं सूः, नास्ति सूः यस्याम् इति असूः, उत्तरपदान्तोदात्त (नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२ )। असू + अम् ( द्वि० ए० ) यणादेश ( ओः सुपि, पा० ६. ४. ८३ ), स्वरित (उदात्तस्वरितयोर्यणः, पा० ८. २. ४ )[३]।

**अहिम्** < आ + √ हन् + इ प्रत्यय ( आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च उ० सू० ४. १४७ ) आङ् को ह्रस्व तथा पूर्वपद को उदात्त अथवा ( वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३ )[४]। ऋग्वेद में √ हन् के साथ अहि का प्रयोग कई स्थान पर किया गया है[५]। यास्क ने √ इ, तथा आ + √ हन् से निर्वचन किया है[६]। देवराज० √ इण् गतौ, √ अहि गतौ, √ अह व्याप्तौ, आ + √ हन् तथा √ हन्[७]। अहि शब्द असुर वाचक आद्युदात्त तथा नदी वाचक अन्तोदात्त है।

(तु० IE angu̯ (h) i 'serpent' Lith angís 'a snake' Gr. ekhis, Lat. angui-s, Av. aži-š, and aži Dahāka (Ahi Danshak).

**अहिगोपाः** < अहि + √ गुप् ( रक्षणे ) + आय प्रत्यय ( आयादयः आर्धधातुके वा, पा० ३. १. ३१ ) + क्विप्, अतो लोप, यकारलोप (पा० ६. १. ६६) वकारलोप ( पा० ६. १. ६७ ) गोपायतीति गोपाः, अहिर्गोपा यासाम् पूर्वपदप्रकृतिस्वर[८]।

---

१. सा० ऋ० ३. २९. १३।
२. ,, ,, २. २७. ६, ४. ४. १२।
३. ,, ,, १. ११२. ३।
४. ,, ,, १. ३२. १, ३. ३२. ११, सा० अ० २. ५. ५।
५. ऋ० सं० २. ११. ५, १२. ३, ११, ४. २८. १, ८. ९६. ५, १०. १३३. २।
६. निरु० २. १ —अहिरयनादेत्यन्तरिक्षे। अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव। निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति वा। द्र० बृ० दे० ५. ११६।
७. देव० नि० १. १०. २१, एस० एन० शुक्ल का लेख 'वैदिक अहि और अवेस्ता अजि' शब्दपत्रिका, २१ (४) १९७०, १—२६।
८. सा० ऋ० १. ३२. ११।

**अहिहत्याय** < अहि + √ हन् + क्यप् तथा तकार अन्तादेश ( हनस्त च, पा० ३. १. १०८ ), कृदुत्तरपदस्वर[1]।

**अहेळमानः** < √ हेड् (अनादरे ) + शानच् प्रत्यय ( लटः शतृशानचौ०, पा० ३. २. १२४ ), मुक् का आगम ( आने मुक्, पा० ७. २. ८२ ) = हेडमान, न + हेडमान = अहेडमान, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[2]। दो स्वरों के बीच में आने वाला 'ड' का उच्चारण 'ळ' होता है।

**अह्यः** <(क)—अहि + यत् प्रत्यय, अहेर्वृत्रस्य वर्तनिः वर्तयिता प्रेरयिता।
(ख)—√अह् (गतौ) - अह्यो गन्तव्यो वर्तनिर्मार्गभूतः[3]। सायण ने अन्यत्र √अहि गतौ तथा √अहन् + यत् (अहनि भवः) से व्युत्पत्ति दी है[4]।

**अह्यर्षु** <अहि + √ऋष् (गतौ) ( + उ प्रत्यय) अहिमाहन्तारं शत्रुमर्षन्त्यभिगच्छन्तीत्यह्यर्षवः[5]। ग्रासमान अहि + अर्षु, गेल्डनर - अहि + √ऋष्[6]।

**अह्रयः** <√ह्री (लज्जायाम्) ( +अप् प्रत्यय) जिह्रेतीति ह्रयः, न ह्रयः अह्रयः। अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[7]।

**अह्रयाणम्**<√ह्री (लज्जायाम्) + शानच् व्यत्यय से, मुक् का अभाव - छान्दस, नञ्समास, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[8]।

**अह्रुतप्सवः**<√ह्वृ (कौटिल्ये) + क्त प्रत्यय, ह्वृ को ह्रु आदेश (ह्रु ह्वरेश्छन्दसि, पा० ७. २. ३१)। ह्रुत + √प्सा ( भक्षणे ) + डु प्रत्यय ( औणादिक ) ह्रुतप्सु, न + ह्रुतप्सु = अह्रुतप्सु। अह्रुतप्सवः, प्र० बहु०[9]।

## आ

**आकरे**<आ + √कृ (विक्षेपे) + अप् प्रत्यय अधिकरण में (ऋदोरप् पा० ३. ३. ५७), अन्तोदात्त (थाथघञ्०, पा० ६. २. १४४)[10]।

**आक्षित्**<आ + √क्षि ( निवासगत्योः ) + क्विप्, तुक् का आगम ( ह्रस्वस्य पिति०, पा० ६. १. ७१)[11]।

---

१. सा० ऋ० १. १३०. ४, ०हत्ये ३. ३२. १२, ४७. ४।
२. ,, ,, १. २४. ११।
३. ,, ,, १०. १४४. ४।
४. सा० अ० ४. १, २।
५. सा० ऋ० २. ३८, ३।
६. ऋ० ग्ला० २२. वो० बू०, पृ० १६८।
७. सा० ऋ० १. ७४. ८।
८. ,, ,, १. ६२. १०. निरु० ५. १५ अह्रयाणोऽह्रीतयानः। देव० नि० ४.२.५५।
९. ,, ,, १. ५२. ४, द्र० वो० बू०, १६८।
१०. ,, ,, ३. ५१. ३, वो०बू० पृ० १७१, तु० को० टर्नर पृ० ४५।
११. ,, ,, ३. ५५. ५।

**आगत्य**<आ + √गम् + ल्यप्, लित्स्वर (लिति, पा० ६. १. १९३)[१]।

**आगधिता**<आ + √गध् (मिश्रीभावकर्मा) + क्त प्रत्यय, इट् का आगम = आगधित + टाप्, स्त्री प्रत्यय>आगधिता[२]।

**आघृणे** < आ + √घृ (क्षरणदीप्त्योः) + नि प्रत्यय तथा गुण का अभाव निपातन से (घृणिपृश्नि०, उ० सू० ४. ५४), णत्व (ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम्, वा० पा०), जिघर्ति दीप्यते इति घृणिः, प्रादिसमास, आमन्त्रित आद्युदात्त[३]। यास्क ने आगत + हृणि से निर्वचन किया है[४]। देवराज० √घृ ( क्षरणदीप्त्योः ), √घृणु (दीप्तौ)[५]। सायण ने अन्यत्र घृणि की व्युत्पत्ति √घृणु (दीप्तौ + इन् औणादिक) से दी है[६]। माधवीय धातुवृत्ति में इसे (√घृ) छान्दस धातु माना गया है[७]। भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी √घृणु को √घृ का विकसित रूप मानते हैं, तथा घृणि की व्युत्पत्ति √घृण् से देते हैं[८]। खोंदा के अनुसार सम्भवतः ऋषि भी इसके मूल अर्थ से परिचित नहीं थे[९]।
( तु० IE G u̯ hr̥n. 'hot', lat. forunus )

**आङ्गूष**<(क)—आङ् + √घुष् + घञ् प्रत्यय कर्म में, आघुष्यत इति आघोषः। घो को गू आदेश (पृषोदरादीनि० पा० ६. ३. १०९), अनुनासिक व्यत्यय से (आङोऽनुनासिकश्छन्दसि, पा० ६. १. १२६) उत्तरपदान्तोदात्त (थाथघञ्०, पा० ६. २. १४४)[१०]।

(ख)—आङ् + √घुष + अच् प्रत्यय ( नन्दिग्रहि०, पा० ३. १. १३४ ) आन्तोदात्त (चितः, पा० ६, १. १६३), कुदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[११]।

(ग)—√अग् (गतौ) + उषच् प्रत्यय निपातित (अङ्गूषः, उ० सू० ४. ८२) अङ्गति गच्छति देवान् इत्यङ्गूषः स्तोत्रम्। अङ्गूष एव आङ्गूषः

---

१. सा० ऋ० ३. ३५. ८।
२. ,, ,, १. १२६. ६, निरु० ५. १५ गध्यं गृह्णातेः गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा।
३. ,, ,, १. २३. १३।
४. निरु० ५. ९—आघृणिरागतघृणिः।
५. देव० नि० १. १७. १०।
६. सा० अ० ७. ३. १।
७. मा० धा० ३. २४ पृ० ३९७, ३९९, क्षीर० ३. १५, पृ० १९४।
८. पा० धा० स० पृ० १८०।
९. एपिथेट्स् इन द ऋग्वेद पृ० १११।
१०. सा० ऋ० १. ६१. २, ६२. १, १०५. १९, ३. ५८. ५, द्र० आङ्गूष्यम्, ९. ९७. ८, द्र० देव० नि० ४. २. ४४।
११. ,, ,, १. ६२. १।

<अङ्गूष + अण् प्रत्यय ( प्रज्ञादि०, पा० ५. ४. ४८ ) प्रत्यय स्वर[1]। यास्क – आ + √घुष् >आघोष > आगूष >आङ्गूष[2]। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने इसे अंग से सम्बद्ध माना है[3]। प्रत्येक गत्यर्थक धातु तीन अर्थों को समेटती है—ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति। दयानन्द ने आङ्गूष का अर्थ प्राप्तविद्य किया है। अतः √अग् से व्युत्पत्ति अधिक संगत प्रतीत होती है[4]। वैयाकरणों ने भी √अग् + उषन् माना है।[5]

**आचरणेषु**<आ + √चर् (गतौ) + ल्युट् प्रत्यय (ल्युट् च, पा० ३. ३. ११५) प्रत्यय से पूर्व उदात्त (लिति, पा० ६. १. १९३) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[6]।

**आजानीः**<आ + √जन् (जनने। प्रादुर्भावे) + इण् प्रत्यय कर्ता में (जनिघसिभ्यामिण्, उ० सू० ४. १३९, दश० उ० १. ५८) उपधावृद्धि > आजानि + जस् (प्र० बहु०), पूर्वसवर्णदीर्घ (वा छन्दसि, पा० ६. १. १०६), जायते अस्यां गर्भ इति जानिः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[7]।

**आजि** < √अज् (गतिक्षेपणयोः) + इण् प्रत्यय (अज्यतिभ्यां च, उ० सू० ४. १४०), उपधावृद्धि, अजन्ति गच्छन्ति अस्मिन्निति आजिर्युद्धम्। प्रत्ययस्वर[8]। यास्क ने √अज् के अतिरिक्त 'आ + √ जू तथा आ + √जि से भी निर्वचन किया है[9]।

( तु० IE ag̃ 'to drive' MIrish. āg 'battle' )

**आजुह्वानः**<आ + √हु (दानादनयोः) + शानच् प्रत्यय, अभ्यस्तस्वर (अभ्यस्तानामादिः, पा० ६. १. १८९)[10]।

**आञ्जनगन्धिम्**<आञ्जन + गन्धि, आञ्जन<अञ्जन (√अञ्ज्) + अण् (तस्येदम्, पा० ४. ३. १२०) = आञ्जन – अञ्जनस्येदम्, आञ्जनस्य गन्ध इव गन्धो

---

१. सा० ऋ० ३. ५८. ५।
२. निरु० ५. ११—आङ्गूषः स्तोमः आघोषः, द्र० वहीं स्क० घोषशब्दस्य गूषशब्देन प्रत्यापत्तिः।
३. एटि० यास्क पृ० ३१, १६१।
४. सी० एस० आर० पृ० ७१, एस० पी०, २३, ए० आई०, ओ० सी० १६६, २३.२४।
५. दश० उ० वृ० ९. १९, उ० वृ० श्वे० ४. ८२, सरस्व० २. ३. १६६।
६. सा० ऋ० १. ४८. ३।
७. ,, ,, ३. १७. ३।
८. ,, ,,—आजौ—१. ५१. ३, ३. ३२. ६, सा० सा० ६. ५. ११, देव नि० २. १७. ८, मा० धा० ध्वा० १४२, क्षीर० ध्वा० १४३, वो० बू० पृ० १७३।
९. निरु० ९. २३—आजिराजवनात्, आजेराजयनस्य, आजेराजवनस्य।
१०. सा० ऋ० १०. ११०. ३।

यस्यास्तादृशी, आञ्जनगन्ध, गन्ध को इदन्तादेश ( उपमानाच्च, पा० ५. ४. १३७) = आञ्जनगन्धि[1]।

**आत**<√अत् (सातत्यगमने) + घञ् प्रत्यय, कर्म में (अकर्तरि च कारके पा० ३.३.१९), आद्युदात्त[2]। देवराज ने पूर्वोक्त व्युत्पत्ति के साथ आ + √ तन् + ड प्रत्यय बाहुलक (उपसर्गे च संज्ञायाम्, पा० ३. २. ९९) भी व्युत्पत्ति दी है[3]। ग्रासमान – 'आ + √ तन् – वोबू० १७५।

**आतता** < आ + √ तन् ( विस्तारे ) + क्त प्रत्यय कर्म में, इट् प्रतिषेध (यस्य विभाषा, पा० ७. २. १५ ), नलोप (अनुदात्तोपदेश०, ६. ४. ३७), कृदुत्तरपद-प्रकृतिस्वर का अभाव कर गति को उदात्त (गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४९)[4]।

**आतपः** < आ + √ तप् + अच् प्रत्यय ( नन्दिग्रहि०, पा० ३. १. १३४ ), उत्तरपदान्तोदात्त ( थाथघञ्०, पा० ६. २. १४४ )[5]।

**आतिथ्यम्** < अतिथि + ञ्य प्रत्यय ( अतिथेर्ञ्यः, पा० ५. ४. २६ ), प्रत्ययस्वर[6]। श० ब्रा० में आति + ( < एति < √ इ गतौ ) + थ्य > आतिथ्य निर्वचन मिलता है[7]।

**आत्मदाः** < आत्मन् + √ दैप् ( शोधने ) + विच्, ( आतो मनिन्० पा०, ३. २. ७४ )[8]। यास्क ने आत्मन् का निर्वचन √ अत् तथा √ आप् से किया है[9]। पर दुर्ग √ अत् से यास्क का निर्वचन नहीं मानते। उपनिषदों में √आप्, आ + √ दा, √ अद्, तथा √ अत् से निर्बचन मिलता है।[10] वररुचि √ अत् से व्युत्पन्न मानते हैं[11]।

( तु० If etmén 'breath', Ang Sa x. O ēdm, breath )

**आत्मन्वती** < आत्मन् √ मतुप्, म को वकार ( मादुपधायाः, पा० ८. २. ९ ), नुट्

---

१. सा० ऋ० १०. १४६. ६, द्र० ऋ० ग्ला० २३, वो० बू० पृ० १७३।

२. ,, ,, आताः ३. ४३. ६।

३. देव० नि० १. ६. १।

४. सा० ऋ० आततम् १. २२. २०, आतता १. १०५. ९, ऋग्गर्थसार १. २२. २०।

५. ,, ,, १. ५५. १, द्र० तु० को० टर्नर पृ० ५०।

६. ,, ,, ४. ४. १०।

७. श० ब्रा० ४. ४. ४. २।

८. सा० ऋ० १०. १२१. २ सा० अ० ४. २. १।

९. निरु० ३. १५, द्र० दुर्ग वहीं।

१०. शां० भा० का० उप० यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावो तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥ २. १. १, श्वे० उप० मं० १. १६।

११. निरु० समु० मं० ३६ पृ० ३७।

का आगम ( अनो नुट्, पा० ८. २. १६ ), नलोप, मतुप् उदात्त ( ह्रस्व-नुड्भ्यां मतुप्, पा० ६. १. १७६ )[१]।

**आथर्वणः** < अथर्वन् + अण्, अन् को प्रकृतिभाव होने से टि लोप का अभाव ( अन्, पा० ६. ४. १६७ ), अथर्वणः अपत्यं पुमान्[२]। अथर्वन् < √ थर्व् (चरति अर्थ में नैरुक्त धातु ), न थर्वणम् अथर्वणमगमनम्। अथवा √ थर्व् + कनिन् ( श्वन्नुक्षन्०, उ० सू० १. १५५ ) से निपातित[३]।

**आदारः** < आ + √ दृ ( दृङ् आदरे ) + घञ् प्रत्यय ( दारजारौ कर्तरि णिलुक् च, वा० पा० ३. ३. २७ ), उत्तरपदान्तोदात्त ( थाथघञ्०, पा० ६. २. १४४ )[४]। ग्रासमान – आ + √ दर् वोबू० पृ० १७६।

**आदित्य** < अदिति + ण्य प्रत्यय ( दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः, पा० ४. १. ८५ ) अतो लोप, यलोप, उपधावृद्धि, प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त[५]। ब्राह्मणों में आ + √ दा[६] तथा अदिति[७] से निर्वचन मिलता है। यास्क ने आ + √दा, आ + √ दीप् तथा अदितेः पुत्रः निर्वचन किया है[८]। सायण ने इसके विभक्त्यन्त रूपों की व्युत्पत्ति भी दी है – आदित्यासः प्र० बहु०[९], आदित्येभिः तृ० बहु०[१०]।

**आधिः** < आ + √ धा + कि प्रत्यय (उपसर्गे घोः किः, पा० ३. ३. ९२ ), आकारलोप ( आतो लोप इटि च पा० ६. ४. ६४ )[११]। सायण ने अन्यत्र आ + √ ध्यै ( चिन्तायाम् ) + क्विप् व्युत्पत्ति दी है[१२]। आध्यः<आधि + जस्

---

१. सा० ऋ० १. ११६. ३, द्र० सा० अ० ४. २५. १।
२. ,, ,, १. ११६. १२, द्र० सा० अ० ४. ३. ७, ६. १. १, सा० सा० २. ४. ३।
३. निरु० ११. ८, देव० नि० ५. ४. १३।
४. सा० ऋ० १. ४६. ५।
५. ,, ,, १. १४. ३, २०. ५, ४१. ४, ५०. १३, ३. ८. ८, ५४. २०, ५६. ४, सा० अ० १. ३०. १, पा० मा० १. १. ७२, ऋ० ग्ला० पृ० २३, वोबू० पृ० १७६।
६. श० ब्रा० १. १. २. १२, २. १. २. १८, ११. ८. ३. ११—तद् यद् आदत्ते तस्मादादित्यः। तै० ब्रा० ३. ९. २१. ७७, श० ब्रा० १४. ३. ९. ६, जै० ब्रा० २. २६, २. ७७, ३. ३५६, ३५८, वृ० उप० एते हीदम् सर्वम् आददाना यन्ति, ते यदिदं सर्वम् आददाना यन्ति तस्मादादित्या इति। पृ० ६४४।
७. श० ब्रा० ३. १. ३. ३, तै० ब्रा० १. ५. १०. ४७, १. ६. १०. ५।
८. निरु० २. १३।
९. सा० ऋ० ७. ५. १।
१०. ,, ,, १. २०. ५।
११. ,, ,, १. १०५. ७, १०. १०९. ३, ऋ० ग्ला० पृ० २३, वोबू० पृ० १७८।
१२. सा० अ० ६. १३१. १।

(प्र० बहु०), यणादेश (ऋ० सं० १. १०५. ७)।

**आधृषे** < (क) आ + √ धृष् प्रागल्भ्ये + क्विप्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[१]।
(ख) आ + √ धृष् + केन् प्रत्यय (कृत्यार्थे०, पा० ३. ४. १४)[२]।

**आध्र** < आ + ध्रे (तृप्तौ) + क प्रत्यय (आतश्चोपसर्गे, पा० ३. १. १६) धातु को आत्व (आदेच उपदेशे०, पा० ६. १. ४५)[३]। धातुपाठ में ध्रै (तृप्तौ) मिलता है[४]।

**आनम्** < = आननम्, वर्णलोप छान्दस, अथवा—
√ अन् (प्राणने) + घञ् करण में, अन्यते अनेनेति आनं घ्राणम्। अन्तोदात्त (कर्णत्वतः०, पा० ६. १. १५९)[५]।

**आनजाना** < √ अञ्ज् (व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति-गतिषु) + कानच्, नलोप (अनिदिताम्०, पा० ६. ४. २४) द्विर्भाव, अभ्यासदीर्घ (अत आदेः, पा० ७. ४. ७०), अद्विहल् होने पर भी व्यत्यय से नुट् का आगम (पा० ७. ४. ७१)[६]।

**आनुषक्** < (क) आ + अनु + √ सञ्ज (सङ्गे) + क्विप् (क्विप् च, पा० ३. २. ७६) नलोप (अनिदिताम्० पा० ६. ४. २४), गतिसमास, मूर्धन्यादेश (उपसर्गात्सुनोति०, पा० ८. ३. ६५), कृदुत्तरपद-प्रकृतिस्वर[७]।
(ख) अनु + √ सञ्ज + क्विप्, नकारलोप, कुत्व, छान्दस दीर्घ[८]। यास्क – अनु + √ सच् = आनुषक्[९]। ग्रासमान आनु + षक्[१०]।

(तु० IE Seg 'Tobe attached', Lith, Sėgti)

**आपः** < √आप् (व्याप्तौ) + क्विप् तथा ह्रस्व (आप्नोतेः क्विप् ह्रस्वश्च) = अप् + जस् (प्र० बहु०) > आपः[११]।

---

१. सा० ऋ० १. ३९. ४।
२. „ „ १. १३६. १।
३. „ „ आध्रस्य १. ३१. १४।
४. मा० धा० म्वा० ६३६, क्षीर म्वा० ६४६।
५. सा० ऋ० १. ५२. १५।
६. „ „ १. १०८. ४।
७. „ „ १. १३. ५, ३. ११. १, ४१. २।
८. „ „ ५. ९. १।
९. निरु० ६. १४. आनुषगिति नामानुपूर्व्यस्यानुषक्तं-भवति।
१०. वोबू० पृ० १७९।
११. सा० ऋ० १. २३. २०, ६३. ८, ३. ३०. ९, ४. ३. १२, १०. ६५. १३, द्र० श० ब्रा० ६ १. १. ९, गो० ब्रा० १. २, श० ब्रा० १. १. १. १४, २. १. १. ४, ४. ५. ७. ७। निरु० ९. २६ तु० को टर्नर् पृ० ५४।

( तु० IE āp, ab. 'water', lith. upe–Irish. abann Av. āp. ap, opers, āpi, pers, āb).[1]

**आपप्रिवान्**<√प्रा (पूरणे) + क्वसु प्रत्यय, इट् का आगम (वस्वेकाजाद्घसाम्, पा० ७. २. ६७), आकार लोप (आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४), द्विर्भाव (द्विर्वचनेऽचि, पा० १. १. ५९) आपप्रिवस् + सु (प्र० एक०)[2]।

**आपि**<√आप् + इ प्रत्यय, औणादिक[3]।

**आपूर्णः** < आ + √पॄ ( पालनपूरणयोः ) + क्त प्रत्यय, कर्म में, निष्ठा को नकार (रदाभ्याम्०, पा० ८. २. ४२), गतिस्वर (गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४९)[4]।

**आपृचे** < आ + √पृच् + केन प्रत्यय, अव्यय संज्ञा ( कृन्मेजन्तः, पा० १. १. ३९ ) विभक्ति लुक्[5]।

**आपृच्छ्यः / आपृच्छ्यम्** < आ + √प्रच्छ् (ज्ञीप्सायाम्) + क्यच्प्रत्यय निपातन से, सम्प्रसारण ( ग्रहिज्या०, पा० ६. १. १६ ), क्यप् अनुदात्त। कृदुत्तरपद-प्रकृतिस्वर[6]।

**आप्त्य**< √आप् + यत् प्रत्यय ( अघ्न्यादि०, उ० सू० ४. १०८ ), तुक् का आगम निपातन से[7]।

**आप्नानम्** < √ आप् (व्याप्तौ) + चानश् ( ताच्छीलिक ), व्यत्यय से विकरण का व्यत्यय[8]।

**आप्यम्**<(क)—√आप् (व्याप्तौ) + णिच् + इ प्रत्यय (अच इः, उ० सू० ४. १४८) + ष्यञ् (गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः ष्यञ्, पा० ५. १. १२४)।

(ख)—√आप् + यत् प्रत्यय छान्दस कर्म में (पोरदुपधात्, पा० ३. १. ९८) आद्युदात्त (यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३)[9]। यास्क √आप्[10]। गेल्डनर् तथा ग्रासमान आपी से व्युत्पन्न मानते हैं[11]।

---

१. डी० एस्० एस्० पृ० ३४।
२. सा० ऋ० १. ७३. ८, १०. १३९. २।
३. ,, ,, आपयः १. ११०. २, सा० सा० ३. ५. ७।
४. ,, ,, ३. ३२. १५।
५. ,, ,, ५. ५०. २।
६. ,, ,, १. ६०. २, ६४. १३।
७. ,, ,, १०. ८. ८, निरु० ११. २० आप्त्यमाप्नोतेः, देव० नि० ५. ५. १५।
८. ,, ,, १०. ११४. ७।
९. ,, ,, १. ३६. १२, १०५. १३।
१०. निरु० ६. १४।
११. ऋ० ग्ला० पृ० २३, वोब्रू० पृ० १८०।

**आप्र** < √आप् + र प्रत्यय ( औणादिक )[१]। ग्रासमान – आ + √प्री – वोबू० पृ० १८० ।

**आप्रुषायन्** < आ + √प्रुष् ( स्नेह-सेचन-पूरणेषु ) + शतृ, व्यत्यय से विकरण को शायजादेश[२] ।

**आभृतम्**<आ + √हृ + क्त प्रत्यय >आहृत >आभृत (हृग्रहोर्भश्छन्दसि), गतिस्वर (गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४९)[३] । टर्नर – √भृ[४] ।

**आभोगयम्**<(क)--आ + √भुज् + कि अथवा इ प्रत्यय>आभोजि, कुत्व = आभोगि + अम् (द्वि० ए०), व्यत्यय से गुण = आभोगयम् ।

(ख)—आ + भोग + य प्रत्यय अर्हार्थ में (छन्दसि च, पा० ५. १. ६७) अकारलोप का अभाव छान्दस, व्यत्यय से प्रत्यय का पूर्व उदात्त[५] । स्कन्द ने भी – आभोग एव आभोगयः, स्वार्थिक 'य' शब्दोपजन से व्युत्पत्ति दी है[६] । ग्रासमान – आ + √भुज् – वोबू० पृ० १८० ।

**आमिनाना**<आ + √मी (हिंसायाम्) + शानच्, धातु को ह्रस्व (प्वादीनां ह्रस्वः, पा० ७. ३. ८०), आन्तोदात्त[७] । आमिनाने – आमिनान + औ (प्र० द्वि०)[८] ।

**आमेम्याने**<आ + √मी (हिंसायाम्) + (यङ्लुक्) + शानच् व्यत्यय से, शप्, लुक् (अदादिवच्च) । यणादेश (एरनेकाचः०, पा० ६. ४. ८२), अभ्यास को आद्युदात्त (अभ्यस्तानामादिः, पा० ६. १. १८९), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[९] ।

**आयजी** <आ + <यज् + इ प्रत्यय करण में (औ०), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[१०] ।

**आयत्**<(क)—आ + √या (प्रापणे) + शतृ,

(ख)—√अय् (गतौ) + शतृ । व्युत्पत्ति के अनवधारण से शाकल्य ने अवगृहीत नहीं किया[११] ।

**आयती**<आ + √इ (गतौ) + शतृ, शप्, लुक् यणादेश (इणो यण्, पा० ६. ४. ८१), = आयत् + ङीप् स्त्रीप्रत्यय (उगितश्च, पा० ४. १. ६), ईकार को उदात्त

---

१. सा० ऋ० आप्रस्य १. १३२. २ ।
२. ,, ,, १०. ६८. ४ ।
३. ,, ,, १. २५. १७, द्र० सा० अ० २. ४. ५ ।
४. तु० को० टर्नर पृ० ५५ ।
५. सा० ऋ० १. ११०. २, ११३. ५ ।
६. स्क० ऋ० १ ११०. २ ।
७. सा० ऋ० १. ९२. १० ।
८. द्र० स्क० वहीं ।
९. सा० ऋ० १. ९६. ५, द्र० स्क० वहीं ।
१०. ,, ,, १. २८. ७, वोबू० पृ० १८१ ।
११. ,, ,, ३. ५५. ८ ।

(शतुरनुमो०, पा० ६. १. १७३)[१] । देवराज० आ + √यत् (प्रयत्ने) + इन्, (इन् सर्वधातुभ्यः उ० सू० ४. १४४), बाहुलक द्वित्व । यह सर्वत्र द्विवचनान्त होता है[२] । ग्रासमान – आ + √यम् । वोबू० पृ० १८१ ।

**आयु** < (क)— √इ ( गतौ ) + उण् प्रत्यय ( छन्दसीणः, उ० सू० १. २ ) वृद्धि, आयादेश, एति प्राप्नोति सर्वमित्यायुः[३] ।

(ख)— आयु < वायु, वकारलोप छान्दस[४] । ता० म० ब्रा० में आ + यु से निर्वचन मिलता है । यह एकाह यज्ञ में सोमयाग का नाम है[५] । वेद में अन्तोदात्त आयु शब्द मनुष्य का वाचक है[६] ।

**आयुस्** < √इ ( गतौ ) + उस् प्रत्यय नित् की अनुवृत्ति कर ( एतेर्णिच्च, उ० सू० २. १२० ) आद्युदात्त[७] । छन्द में आयुः, आयू, आयवः रूप बनते हैं, जबकि लोक में आयुः, आयुषी, आयूँसि[८] ।

**आयोयुवानः** < आ + √यु ( मिश्रणे ) + यङ्लुक् + शानच्, आद्युदात्त ( अभ्यस्तानामादिः, पा० ६. १. १८९ )[९] ।

**आरङ्गरेव** < अरम् + गर < √गृ ( शब्दे ) + अप् प्रत्यय भाव में ( ऋदोरप्, पा० ३. ३. ५७ ) > अरङ्गर + अण् ( तस्येदम्, पा० ४. ३. १२० ) अरम् अलं पर्याप्तम्, गरः शब्दनम् तस्य संबन्धिनौ[१०] । ग्रासमान – आरङ्ग + रा, जैसे पतङ्गरा – वोबू० पृ० १८४ ।

**आरणे** < आ + √ऋ + ल्युट् प्रत्यय[११] । गेल्डनर् – आ + अरण ( ऋ० ग्ला० २४ ) ।

**आरभ्** < आ + √रभ् ( राभस्ये ) + क्विप्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[१२] ।

---

१. सा० ऋ० १०. १२७. १ ।
२. देव० नि० २. ४. १ ।
३. सा० ऋ० १. ३१. २, ११, ५८. ३, ९६. २, ११४. ८, द्र० स्क० ऋ० १. १०४. ४, निरु० ९. ३, १०. ४१ ।
४. ,, ,, १. १६२. १ ।
५. ता० म० ब्रा० १६. ३. २ ।
६. देव० नि० २. ३. १७ ।
७. सा० ऋ० १. १०. ११, ३. ७. १, १०. १७. ४, द्र० स्क० ऋ० १. ३१. ११ ।
८. श्वे० उ० वृ० १. २, औ० प० १. ६२ ।
९. सा० ऋ० ४. १. ११ ।
१०. सा० ऋ० १०. १०६. १०, तु० को० टर्नर् पृ० ५८ ।
११. ,, ,, १. ११२. ६ ।
१२. ,, ,, आरभे—१. ३४. २ ।

**आरभम्** < आ + ✓ रभ् + कमुल् प्रत्यय तुमर्थ में ( शकिणमुल्कमुलौ, पा० ३. ४. १२ ), लित्स्वर से मध्योदात्त[१] ।

**आरभे** < आ + ✓ रभ् + केन् प्रत्यय (कृत्यार्थे तवैकेन्०, पा० ३. ४. १४ ), आद्युदात्त ( ञ्नित्यादि०, पा० ६. १. १९७ )[२] ।

**आरितः** < (क)—✓ ऋ ( गतौ ) + णिच् + क्त प्रत्यय ।

(ख)—✓ ऋ + यङ् ( सूचिसूत्रि०, वा० पा० ३. १. २२ ), यङ्लुक् ऋ को द्वित्व ( सन्यङोः, पा० ६. १. ९ ), उरदत्व, हलादिशेष, = अ ऋ + रुक् ( रुग्रिकौ च लुकि, पा० ७. ४. ९१ ) । अ ऋ + र् + क्त प्रत्यय, छान्दस इट् का आगम, ऋकार को यणादेश, अभ्यास रेफ का लोप ( रोरि, पा० ८. ३. १४ ), पूर्व अण् को दीर्घ ( ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः, पा० ६. ३. १११ )[३] । यास्क ने ✓ ऋ से ही निर्वचन किया है[४] ।

( तु० IE. ar 'to arrange' Gr. araniskō I set togather ).

**आरीः** < (क)—✓ ऋ ( गतौ ) + इण् बाहुलक ( जनिघसिभ्यामिण्, उ० सू० ४. १४८ ) = आरि + ङीष् ( कृदिकारादक्तिनः ) = आरी + जस् ( प्र० बहु० ) पूर्वसवर्णदीर्घ ( वाच्छन्दसि, पा० ६. १. १०६ ) व्यत्यय से आद्युदात्त ।

(ख)—✓ ऋ + यङ् ( सूचिसूत्रि०, वा० पा० ३. १. २२ ), यङ् का अनैमित्तिक लुक् ( यङोऽचि च, पा० २. ४. ७४ ), प्रत्यय लक्षण से द्विर्भाव, उरदत्व, हलादिशेष, अ ऋ + रुक् ( रुग्रिकौ च लुकि, पा० ७. ४. ९१ ) + कि प्रत्यय औणादिक, यणादेश, रेफलोप (रोरि, पा० ८. ३. १४ ) दीर्घ (पा० ६. ३. १११ ) = आरि + ङीष् स्त्री प्रत्यय > आरी + जस्[५] । स्कन्द ने ✓ ऋ तथा आ + ✓ रा ( दानार्थक ) से व्युत्पन्न माना है[६] ।

**आरुजः** < आ + ✓ रुज् ( भङ्गे ) + क प्रत्यय ( इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः, पा० ३. १. १३५ ), समास में उत्तरपदान्तोदात्त (थाथघञ्०, पा० ६. २. १४४)[७] ।

---

१. सा० ऋ० ६. ७३. ३, १०. ६२. ६ ।
२. ,, ,, १. २४. ५ ।
३. ,, ,, १. १०१. ४, द्र० स्क० वहीं, देव० नि० ४. २. ५७ ।
४. निरु० ५. १५—आरितः प्रत्यृतः सोमान् ।
५. सा० ऋ० १. ७७. ३, ९६. ३ ।
६. स्क० ऋ० वहीं ।
७. सा० ऋ० ३. ४५. २, द्र० वोबू० पृ० १८४ ।

**आरुजत्नु** < आ + √ रुज् ( भङ्गे ) + क्लुच् प्रत्यय, कित् होने से गुणाभाव, अन्तोदात्त ( चितः, पा० ६. १. १६३ ), समास में कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[१]।

**आरोधने** < आ + √ रुध् + ल्युट् करण में, आरुध्यते आव्रियते अनेनेति आरोधनम्[२]।

**आर्जुनेयम्** < अर्जुन + ढक् प्रत्यय ( शुभ्रादिभ्यश्च, पा० ४. १. १२३ )[३]।

**आर्तना** < √ ऋत् + युच् (ण्यासश्रन्थो युच्, पा० ३. ३. १०७) आद्युदात्त (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३ )। आर्तना स्त्री०, आर्तयन्ति आर्तनाः पृतनाः[४]।

**आर्त्नी** < √ ऋ ( गतौ ) + नि प्रत्यय तथा धातु को आर्तभाव बाहुलक ( चूर्यगिभ्यां निः, सरस्व० २. १. २०७ ) = आर्त्नि + ङीष्, स्त्री प्र०, ( कृदिकारादक्तिनः, पा० ४. १. ४५, द्र० उ० सू० ४. ५१ ) > आर्त्नी + औ ( प्र० द्वि० ) पूर्वसवर्णदीर्घ[५]। यास्क ने आ + √ ऋ, अ + √ रिष् तथा अरण्य से निर्वचन किया है[६]। स्कन्द ने √ ऋ ( गतौ ), √ कृती ( छेदने ), √ ऋष् ( गतौ ) तथा √ रिष् ( हिंसायाम ) से व्युत्पत्ति दी है[७]। देवराज० √ ऋ, √ रिष्[८]। ग्रासमान – आ + अर् – वोबू० पृ० १८५।

(तु० IE. elei, lei, 'to bend' Gr. ōlanē 'elbow')

**आर्त्विज्या** < ऋत्विज् + ष्यञ् ( गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः०, पा० ५. १. १२४ ), आद्युदात्त ( ञ्नित्यादि०, पा० ६. १. १९७ )[९]।

**आवयाः** < (क)— आ + √ वी (गत्यादिषु) + असुन् प्रत्यय (सर्वधातुभ्योऽसुन्, उ० सू० ४. ५६)।

(ख)— अव + √ यज् + ण्विन् ( अवे यजः, पा० ३. २. ७२ ) अकार का लोप ( अवाप्योरुपसर्गयोः, वा० पा० ) = वयाः, आ + वयाः > आवयाः। आभिमुख्येन अवयष्टा प्रतिप्रस्थाता उच्यते[१०]। देवराज० ने √वी से व्युत्पन्न माना है[११]।

---

१. सा० ऋ०—जत्नुभिः १. ६. ५।
२. ,, ,, १. १०५. ११।
३. ,, ,, १. ११२. २३।
४. ,, ,, १. १२७. ६।
५. ,, ,, ६. ७५. ४।
६. निरु० ९. ३९—आर्त्नी अर्तन्यौ, अरण्यौ वा, अरिषण्यौ वा।
७. स्क० निरु० वहीं ९. ३९)।
८. देव० नि० ५. ३. ३३।
९. सा० ऋ० १. ९४. ६।
१०. ,, ,, १. १६२. ५।
११. देव० नि० १. १२. ४६।

**आवहन्ती** < आ + √ वह् + शतृ + ङीप । शप् तथा शतृ अनुदात्त, समास में कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[1] ।

**आविदे** < आ + √ विद् + केन् प्रत्यय, कृत्यार्थ में[2] ।

**आविष्ट्यः** < आविस् + त्यप् ( आविसश्छन्दसि, वा० पा० ४. २. १०४ ), षत्व ( ह्रस्वात्तादौ तद्धिते, पा० ८. ३. १०१ )[3] । स्कन्द ने आविश् को प्रकाश-वचन माना है—आविरेव आविष्ट्यः, स्वार्थे त्यप्[4] ।

**आवृतम्** < आ + √ वृ ( वरणे ) + क्त प्रत्यय कर्म में, गतिस्वर ( गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४९ ) आव्रियते इति आवृतः[5] ।

**आशिन** < √ अश् ( व्याप्तौ ) + इनच् प्रत्यय ( बहुलमन्यत्रापि, उ० सू० २. ५१ ) अन्तोदात्त ( चितः, पा० ६. १. १६३ )[6] । वररुचि ने माहिनम् जैसे—आशिन < √ अश् + इनण् ( उ० सू० २. ५६ ) से व्युत्पन्न किया है[7] ।

**आशिरम्** < आ + √ श्री ( पाके, निष्ठायाम् ) + क्विप् धातु को शिर आदेश ( अपस्पृधेथाम्०, पा० ६. १. ३६ )[8] । यास्क – √ श्री, √ श्रथ[9] । देवराज०— √ श्री, √ शॄ, √ श्रप्[10] । आशिर क्षीरविकृति के लिए प्रयुक्त होता है[11] ।

( तु० Gr. Kerànnumi 'I mix' )

**आशिषः** <आ + √शास् (आङः शासु इच्छायाम्) + क्विप्, उपधा को इत्व (आशासः क्वावुपधाया इत्वं वाच्यम्, वा० पा० ८. ४. २०)[12] । यास्क – आ + √शॄ, आ + √श्रा, आ + √शास्[13] ।

( तु० IE K̂ǝs – 'to instruct, hint', Arm Sastem 'I scold' )

---

१. सा० ऋ० १. ४८. ९ ।
२. ,, ,, १०. ११३. ३ ।
३. सा० ऋ० १. ९५. ५ ।
४. स्क० ऋ० वहीं ।
५. सा० ऋ० १. ५१. २, द्र० ऋ० ग्ला० २४, वोबू० पृ० १८६ ।
६. ,, ,, आशिनेभ्यः १. २७. १३, द्र० ऋ० सा० वहीं ।
७. निरु० समु० मं० २० पृ० २१ ।
८. सा० ऋ० ३. ५३. १४, ऋ० ग्ला० २४, वोबू० १८७ ।
९. निरु० ६. ८ आशीराश्रयणाद्वा, आश्रपणाद्वा ।
१०. देव० नि० ४. ३. ३५ ।
११. औ० प० १. २९७ ।
१२. सा० ऋ० ३. ४३. २, द्र० सा० अ० ११. १०. २७, सा० सा० ३. ५. ६, ऋ० ग्ला० पृ० २४, वोबू० पृ० १८७ ।
१३. निरु० ६. ८—आशीराश्रयणाद्वाश्रपणाद्वाथेयमितराशीराशास्तेः ।

**आशीर्वन्तः**<आ + √श्री ( पाके ) + क्विप् तथा धातु को शिरादेश (अपस्पृधेथाम्० पा० ६. १. ३६) आशीर् + मतुप्, वत्व (छन्दसीरः, पा० ८. २. १५), आशीः एषामस्तीति आशीर्वन्तः[१]।

**आशु**<√अश् (व्याप्तौ) + उण् (कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य>उण्, उ० सू० १. १), उपधावृद्धि, अश्नुते अध्वानम्, प्रत्यय स्वर[२]। देवराज०√अश् (भोजने, व्याप्तौ)[३]। आशुया<आशु + जस् ( प्र० बहु० ) विभक्ति को याजादेश (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३६ ), चित् – स्वर ( पा० ४. ४. २ )। (तु० अवे० आसु)

**आशुशुक्षणिः**<(क)—आ + √शुच् (दीप्तौ) + सन्, छान्दस रूप।

(ख)—आशु + √शुच् + √सन्, आशु शीघ्रं शुच् दीप्तः सन् यतः संसेव्यत इति, आशुशुचं शोकं सनोति ददाति शत्रुभ्यो दाहादिना[४]। यास्क—

१—आ + शु + क्षणि ( <√क्षण् ), २—आशु + शुचा + √क्षण्, ३—आशु + शुचा + √सन्, ४—आ + √शुच्[५]।

वैयाकरण आ + √शुच् + सन् + अनि[६], तथा आ + √शुष् + सन् + अनि[७] व्युत्पत्ति देते हैं। यद्यपि यह एक छान्दस शब्द है, पर कवियों ने भाषा में भी प्रयोग किया है[८]—मन्त्रपूतानि हवींषि प्रतिगृह्णन्त्येतत् प्रीत्याशुशुक्षणयः[९]। पेरुसूरि इसे छान्दस ही स्वीकार करते हैं[१०]।

**आशुषाण**<(क)—√अश् + कानच्, व्यत्यय से उ प्रत्यय तथा सिच् (द्विविकरणता)।

(ख)—आ + √शुष् + शानच् छान्दस शप् का लुक्।

---

१. सा० ऋ० १. २३. १।

२. ,, ,, १. ४. ७, ३७. १४, ३. ९. ८, द्र० वोबू० पृ० १८७।

३. देव० नि० १. १४. १५।

४. सा० ऋ० २. १. १।

५. निरु० ६. १—आशु शुचा क्षणोतीति वा, सनोतीति वा, आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तात्, चिकीर्षितज उत्तरः, आशु शोचयिषुरिति।

६. उ० वृ० श्वे०, नारा० २. १०४, द्र० वोबू० पृ० १८८, द्र० जे० ओ० आइ० बी० १९ (४) जून ७०, पृ० ३१५. ३१८।

७. उ० वृ० दश० १. ३, उ० को० २. १०४, सरस्व० २. १. २१५, दुर्ग० उ० वृ० ५. १५।

८. श्वे० उ० वृ० २. १०४।

९. कादम्बरी पृ० ८८।

१०. औ० प० २. ३७४।

(ग)—आशु + √ सन् + अण् प्रत्यय कर्म में[1]।

**आशुहेमा**<आशु + √हि (गतौ) + मनिन् प्रत्यय (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५) आशु शीघ्रं हिन्वन्तीति गच्छन्तीति आशुहेमानः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[2]।

**आश्रुत्कर्ण**<आ + √श्रु + क्विप्, तुक् का आगम (ह्रस्वस्य पिति०, पा० ६. १. ७१) आ समन्तात् शृणुत इति आश्रुत्, तादृशौ कर्णौ यस्य। आश्रुत् + कर्ण, (यास्क – √कृन्त, √ऋ – निरु० १. ६)। आद्युदात्त (आमन्त्रितस्य च पा० ६. १. १६८)[3]।

**आश्वश्व्य**<आशु + अश्व = आश्वश्व + ष्यञ् प्रत्यय, आशवोऽश्वा यस्य भवन्ति स आश्वश्वः, तस्य भाव आश्वश्व्यम्[4]।

**आश्विनीः**<√अश् (व्याप्तौ) + विनि प्रत्यय (औणादिक) = अश्विन् + अण् = आश्विन + ङीप्, व्यत्यय से आद्युदात्त[5]।

**आसदे**<(क)—आ + √सद् ( विशरण० ) + क्विप् (संपदादिभ्यः क्विप्, वा० पा० ३. ३. १०८) प्रादिसमास, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर। च० एक०[6]।

(ख)—आ + √सद् + केन् प्रत्यय ( कृत्यार्थे तवै०, पा० ३. ४. १४ ) नित्स्वर (पा० ६. १. १९७), समास में कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[7]।

**आसिष्विदानाः**<आ + √स्विद् (गात्रप्रक्षणे) + कानच्[8]।

**आसीनाः**<√आस् (उपवेशने) + शानच्, ईकार (ईदासः, पा० ७. २. ८३)[9]।

**आसुरः**<असुर + अण् (तस्येदम्, पा० ४. ३. १२०), प्रत्ययस्वर[10]।

**आस्माकासः**अस्मद् + अण् प्रत्यय, अस्माकादेश (तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ, पा० ४. ३. २), प्रत्यय का लोप, वृद्धि का अभाव (संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः)। आस्माक + जस् ( प्र० बहु० ), असुक् का आगम ( आज्जसेरसुक्, पा० ७. १. ५०)। स्थानिवत् आदेश होने पर भी, मकार से पर आकार उदात्त।

---

१. सा० ऋ० १. १४७. १, २. १९. ७।
२. ,, ,, १. ११६. २, २. ३१. ६, ३५. १।
३. ,, ,, १. १०.९ द्र० वोबू० पृ० १८८।
४. ,, ,, ५. ६. १०।
५. ,, ,, ९. ८६. ४।
६. ,, ,, १. १३. ७।
७. ,, ,, ३. ४१. ९, १०. १८८. १।
८. ,, ,, १०. १०६. १०।
९. ,, ,, ३. ३१. १२, द्र० सा० अ० १८. ४. ४०।
१०. ,, ,, ३. २९. ११।

अथवा षष्ठी बहुवचन में 'अस्माकम्' शब्द मध्योदात्त मिलता है, अतः यहाँ भी वही अतिदिष्ट है[1]।

**आस्य**<√अस् (क्षेपणे) + ण्यत्, अधिकरण में (कृत्यल्युटो बहुलम्, पा० ३. ३. ११३), स्वरित (तित्स्वरितम्, पा० ६. १. १८५)[2]। यास्क ने √अस् आ + √स्यन्द से निर्वचन किया है[3]।

( तु० IE ōus, ǒus, mouth, lat. ōs 'mouth' )

[ आसा<आस्य + टा (तृ० एक०) ऋ० १. ७६. ४. २. १. १४, १०. ११५. ३। आसया—तृ० एक०, ऋ० सं० १. २०. १, आसभिः १. ३४. १०, आस्नः—१. ११६. १४, ११७. १६, आसन्—३. २६. ७ आसनि—१. ७५. १, ६. ६६. २ ]।

**आहवम्** < आ + √ह्वे (स्पर्द्धायाम्) + अप् प्रत्यय ( आङि युद्धे, पा० ३. ३. ७३ ), सम्प्रसारण ( बहुलं छन्दसि, पा० ६. १. ३४ )। आहूयतेऽत्र इति आहवो युद्धम्[4]। ग्रासमान – आ + √हु[5]।

**आहावाः**<आ + √ह्वे + अप्, निपातन से वृद्धि (निपानमाहावः, पा० ३. ३. ७४), उत्तरपदान्तोदात्त (थाथघञ्०, पा० ६.२.१४४)[6]। ग्रासमान – आ + √हु[7]।

**आहुतः** <आ + √हु (दानादनयोः) + क्त प्रत्यय, गति को प्रकृतिस्वर (गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४९)[8]।

**आहुतिम्**<आ + √हु ( दानादनयोः ) + क्तिन् प्रत्यय, गतिस्वर (तादौ च०, पा० ६. २. ५०)[9]। श० ब्रा० में[10] आ + √हु तथा आ + हिति<आ + √धा (धारणपोषणयोः) तथा ऐ० ब्रा० में आ + √ह्वे – निर्वचन मिलते हैं[11]।

---

१. सा० ऋ० १. ९७. ३।
२. „ „ १. ३८. १४, सा० अ० ७. ७०. २।
३. निरु० १. ९, आस्यम् अस्यतेः, आस्यन्दत एतदन्नमिति वा। पा० म० १. १. ४, द्र० कैयट वहीं।
४. सा० ऋ० २. २३. ११, द्र० ऋ० ग्ला० पृ० २५।
५. वोबू० पृ० १९१।
६. सा० ऋ० १. ३४. ८, १०. १०१. ५, ११२. ६, द्र० निरु० ५. २६।
७. वोबू० पृ० १९१।
८. सा० ऋ० १. ३६. ८, ३. २८. ३, ५२. ६, द्र० उद्० ऋ० १०. १६. ५।
९. „ „ १. ९३. ३, ३. २८. ६।
१०. श० ब्रा० ११. २. २. श० ब्रा० १०. ६. २. २।
११. ऐ० ब्रा० १. २—आहूतयो वै नामैता यदाहुतय, एताभिर्वै देवान्यजमानो ह्वयति। द्र० सायण वहीं—जुहोति—धातोरुत्पन्नः शब्दः पूर्वं प्रसिद्धः। अयं तु ह्वयतिधातोरुत्पन्नः॥

( तु० Gr. xěw ( cheō ) 'pour', chse. 'zūrati' sebro croation -zvati, Russ. Zvat, Lith. Žaveti, Av. žba-zav, 'to call')

**आहूर्यः** <आ + √ह्वे ( स्पर्धायाम् ) + यत् (अचो यत् पा० ३. १. ९७) सम्प्रसारण ( बहुलं छन्दसि, पा० ६. १. ३४ ), दीर्घ (हलः, पा० ६. ४. २), रेफोपजन छान्दस, आद्युदात्त ( यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३)[१]। स्कन्द – √ह्वृ (कौटिल्ये)[२]।

## इ

**इच्छन्तीः**<√इष् ( इच्छायाम् ) + शतृ, छत्व ( इषुगमियमां छः, पा० ७. ३. ७७ ) = इच्छत् + ङीप्, प्र० बहु०[३]।

**इच्छमानः**<√इष् ( इच्छायाम् ) + शानच्, व्यत्यय से आत्मनेपद, (तास्यनुदात्तेत्०, पा० ६. १. १८६) से अनुदात्तेत्, श प्रत्यय, प्रत्ययस्वर[४]।

**इळा**<(क)—√ईड् (स्तुतौ) + क्विप् (क्विप् च, पा० ३. २. ७६), छान्दस ह्रस्व = इड + टाप्, स्त्री प्रत्यय उपसंख्यान से (टाबृचि, पा० ४.१.९), धातुस्वर (धातोः, पा० ६. १. १६२)[५]।

(ख) —√ईड् + घ प्रत्यय (पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण, पा० ३. ३. ११८) प्रायिक वचन होने से), गुण का अभाव ( संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वम्, परि० ९४ ) ईड्यन्ते स्तूयन्तेऽस्यां च यजमानैः देवा इतीडा भूमिः, दो स्वरों के बीच में आने वाले 'ड' का परिवर्तन 'ळ' में हो जाता है (ऋ० प्रा० १. ५२)[६]। ब्राह्मणों में इसे इरा से सम्बद्ध बताया गया है[७]।

**इत्था**<(क)—इदम् + था प्रत्यय, व्यत्यय से (था हेतौ च छन्दसि, पा० ५. ३. २६) इदम् को इश् आदेश (इदम इश्, पा० ५. ३.३) तथा उसे इद्भाव (एतेतौ रथोः, पा० ५. ३. ४) = इत्था + टा (तु० ए०), विभक्ति को डादेश (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९), प्रत्ययस्वर।

(ख) —इदम् + थमु (इदमस्थमुः, पा० ५. ३. २४), विभक्ति को डादेश[८]।

---

१. सा० ऋ० १. ९९. २।
२. स्क० ऋ० वहीं, द्र० ऋ० ग्ला० पृ० २५, वोबू० पृ० १९२।
३. सा० ऋ० १. २५. १६।
४. ,, ,, १. ११०. ५, ३. १८. ३, ३३. ७, सा० अ० ३. १५. ३।
५. ,, ,, १. १३. ९, ३. ७५।
६. ,, ,, ३. २७. १०।
७. श० ब्रा० १. ५. ३. ११, १. ८. १. ११, शां० ब्रा० ३. ४।
८. सा० ऋ० १. २४. ४, ३९. १, ८४. १५, १२०. २, १५९. १, ३. ९. ५, २७. ६, ४२. ३, सा० अ० ४. १६, देव० नि० ४. २. २९।

**इदानीम्**<इदम् + दानीम् सप्तमी अर्थ में (दानीं च, पा० ५. ३. १८) इदम् को इश् आदेश, प्रत्यय का आदि उदात्त[1]।

**इधानः**<√इन्ध् (दीप्तौ) -। चानश्, ताच्छीलिक[2]।

**इध्मेन**<√इन्ध् (दीप्तौ) + मक् प्रत्यय करण में (इषियुधीन्धि०, उ० सू० १. १३१) कित् होने से अनुनासिक लोप, इध्यतेऽनेनेति इध्म। प्रत्ययस्वर[3]।

( तु० IE—aidh, Gr. 'aìthō', OHG. eit, Ang. sax, àd, Irish. admad, Av. aisma).

**इनक्षतः**<(क)—√नक्ष् (गतौ) + शतृ + ङस् (ष० ए०) इकारोपजन छान्दस।

(ख)—√इनक्ष् (गत्यर्थ) + शतृ[4]।

**इन्दु** < (क)—√उन्द् (क्लेदने) + उन् प्रत्यय तथा आदि अक्षर को इकारादेश (उन्देरिच्चादेः, उ० सू० १. १२), नित्स्वर।

(ख)—√इन्ध् + उ प्रत्यय (उ० सू० १. १२)[5]। यास्क[6] और वैयाकरण[7] भी इस व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हैं।

**इन्द्र** <√इद् (परमैश्वर्ये) + रन्, (ऋज्रेन्द्रा०, उ० सू० २. ३१), इन्दति परमेश्वरो भवतीति इन्द्रः। आद्युदात्त (ञ्नित्यादि०, पा० ६. १. १९७)[8]। अन्यत्र (तै० सं० १. १. २) सायण ने इसे वृषादि माना है जो उपयुक्त नहीं है। स्कन्द ने √इदि परमैश्वर्ये, इन् (√इन्ध्) + √द्रा अथवा √द्रप् से व्युत्पन्न

---

१. सा० ऋ० १. ३५. ७।

२. " " १. ७९. ५।

३. " " ३. १८. ३, श० ब्रा० १. ३. ५. १—इन्धे ह वा एतद् अध्वर्युरिध्मेनाग्निम् तस्माद् इध्मो नाम। निरु० ८. ४ इध्मः समिन्धनात्, देव० नि० ५. २. २।

४. " " १. ५१. ९, स्क० वहीं।

५. " " १. २. ४, १४. ४, २३. १५, ३. ३५. ६, ९. ६५. ८, १०. ११५. ३।

६. निरु० १०. ४१, इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा।

७. उज्ज्व० उ० सू० १. १३, उ० म० दी० १. १२।

८. सा० ऋ० १. २. ६, ४. ४, १०, ५. ९, ६. १०, ७. १०, ९. ६, १०, १०-३, ११, ११. ८, १३. १२, १५. १, १७. १, ३. १२. ३, ४०. १, ४. २. ४, सां० अ० १. २. ३, ७. ३, ९. २।

माना है[1]। ब्राह्मणों में √इन्ध[2] तथा इन्द्रिय[3] से निर्वचन किया गया है। यास्क ने निम्न निर्वचन दिए हैं : इरा + √दृ, इरा + √दा, इरा + √धा, इरा + √दारय्, इरा + √धारय्, इन्दु + √द्रु, इन्दु + √रम् √इन्ध्, इदम् + √कृ ( आग्रायण ) इदम् + √दृश् ( औपमन्यव ), √इन्द् (परमैश्वर्ये)[4]। यास्क की इदम् + √दृश् = इन्द्र, व्युत्पत्ति का आधार ऐ० आ० है[5]। रॉथ – √इन + द्र प्रत्यय[6]।

**इन्द्रवायू**< इन्द्र + वायू, इन्द्रश्च वायुश्च – द्वन्द्व समास। आनङ् का अभाव (उभयत्र वायोः प्रतिषेधो वक्तव्यः, वा० पा० ६. ३. २६), उभयपदप्रकृतिस्वर (पा० ६. २. १४१ ) का अभाव ( नोत्तरपदेऽनुदात्तादौ०, पा० ६. २. १४२ ), समासान्तोदात्त[7]।

**इन्द्रवाहा**< इन्द्र + √वह् + ण्वि, (वहश्च, पा० ३.२.६४) उपधावृद्धि (अत उपधायाः, पा० ७. २. ११६)। = इन्द्रवाह + औ ( प्र० द्वि० ), विभक्ति को आकार (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९)[8]।

**इन्द्राग्नी**< इन्द्र + अग्नि – इन्द्रश्च अग्निश्च, इन्द्र शब्द का पूर्वनिपात (अजाद्यदन्तम्, पा० २. २. ३३) अन्तोदात्त (समासस्य, पा० ६. १. २२३)[9]।

**इन्द्राणी**< इन्द्र + ङीष् तथा आनुक् का आगम (इन्द्रवरुण०, पा० ४. ४.४९) = इन्द्र की पत्नी, प्रत्ययस्वर[10]।

---

१. स्क० ऋ० १. ५. २, ६. ४७. ११।

२. श० ब्रा० ६. १. १. २—यदैन्द्ध तस्मादिन्ध इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्। (द्र० सा० भा० वहीं—"स्वबलप्रकाशेन स्वव्यापारसमर्थान् अकरोदित्यर्थः। तस्माद् इन्धनसम्बन्धात् इन्द्र इति उच्यते"।) तु० श० ब्रा० १४. ६. ११. २, बृ० उ० ४. २. २।

३. तै० ब्रा० २. २. १०. ४ अस्मिन्वा इदमिन्द्रियं प्रत्यस्थादिति। तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम्। द्र० सा० भा० वहीं—"तत्रेदम् इन्द्रियमित्यक्षरसाम्याद् इन्द्रनाम सम्पन्नम्।

४. निरु० १०. ८, द्र० देव० नि० ५. ४. ४।

५. ऐ० आ० २. ४. ३—स एतमेव पुरुषं ब्रह्म तमपश्यदिदमदर्शमितीं ३। तस्मादिन्द्रो हवै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। द्र० सा० भा० वहीं—यस्मादिदमदर्शमित्युक्तवांस्तस्मादिदम् इष्टमित्यनयैव व्युत्पत्त्या सोऽयमिदन्द्र इति नाम प्राप्तवान्।

६. एटि० यास्क० पृ० ७४।

७. सा० ऋ० १. १४. ३, २३. २, १०. १४१. ४, सा० अ० ३. २०. ६।

८. ,, ,, १. १११. १।

९. ,, ,, १. २१. १, ५, ६, ३. १२. १, ४, ५, सा० अ० १. ३५. ४।

१०. ,, ,, १. २२. १२, २. ३२. ८, सा० अ० १. २७. ४, ६. १३२. ३, ७. ५१. २।

**इन्द्रामरुतः**<इन्द्र + मरुत, पूर्वपद को आनङ् (देवताद्वन्द्वे च, पा० ६, ३. २६)[१] ।

**इन्द्रावरुण**<इन्द्र + वरुण, आनङ्, आदेश, उभयपदप्रकृतिस्वर (देवताद्वन्द्वे च, पा० ६. २. १४१)[२] ।

**इन्द्राविष्ण**<इन्द्र + विष्णु, पूर्वपद को आनङ्, उभयपदप्रकृतिस्वर[३] ।

**इन्द्रासोमा**<इन्द्र + सोम, पूर्वपद को आनङ्, उभयपदप्रकृतिस्वर[४] ।

**इन्द्रियम्** <इन्द्र + घच् प्रत्यय निपातन से ( इन्द्रियमिन्द्रलिङ्ग०, पा० ५. २. ९३ ) अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[५] ।

**इन्द्रेषिते** < इन्द्र + इषित < √ इष ( गतौ ) + क्त प्रत्यय कर्म में इट् का आगम (तीषसह०, पा० ७. २. ४८) आगम अनुदात्त (आगमा अनुदात्ताः, वा० पा० ३. १. ३.) समास में पूर्वपदस्वर – (तृतीया कर्मणि०, पा० ६. २. ४८)[६] ।

**इन्धन्वन्** < इन्धन + वनिप् ( छन्दसीवनिपौ०, वा० पा० ५. २. ११२ ) छान्दस् वर्णलोप[७] ।

**इन्धानाः**<√इन्ध् + शानच्, आद्युदात्त (विभाषा वेण्विन्धानयोः, पा० ६. १. २१५)[८] ।

**इयानः**<(क)—√ई (ईङ् गतौ) + कानच् (पा० ३. २. १०६), धातु को इयङ् आदेश, अन्तोदात्त (पा० ६. १. १६३) ।

(ख)—√ई + चानश्, ताच्छीलिक, विकरण का छान्दस लुक्[९] ।

**इरज्यन्**<√इरज् (ईर्ष्यायाम्, कण्ड्वादि) अथवा √इरज् (ऐश्वर्य कर्मा) + शतृ[१०] ।

**इरध्यै** <√ईर् (गतौ) + कध्यै प्रत्यय तुमर्थ में, छान्दस ह्रस्व[११] ।

**इर्या** < इरा + यत् प्रत्यय, भव अर्थ में[१२] ।

---

१. सा० ऋ० २. २६. ३ ।
२. „ „ १. १७. १, ३, ७-९ ।
३. „ „ ४. २. ४ ।
४. „ „ ७. १०४. १ ।
५. „ „ १. ५५. ४, ८५. २, १०३. १, ३. ३७. ९, १०. ११६. १, सा० अ० १. ३५. ३ ।
६. „ „ ३. ३३. २, इषित १. ३. ५, ३. १२. १ ।
७. „ „ इन्धन्वभिः २. ३४. ५ ।
८. „ „ १०. १२८. १ ।
९. „ „ १. ३०. १४, १०. १०४. १ ।
१०. „ „ १०. १४०. ४ ।
११. „ „ १. १३४. २ ।
१२. „ „ १०. १०६. ४ ।

**इषः** < √इष् गतौ, इच्छायाम्) + क प्रत्यय (इगुपध०, पा० ३. १. १३५) कित् होने से गुण का अभाव, प्रत्ययस्वर[1]।

**इष्** < √इष् (इच्छायाम्, गतौ) + क्विप् कर्म में, इष्यन्ति गच्छन्तीति इषो रश्मयः[2]। (इषः < √इष् + शस् (द्वि० ब०) सा० ऋ० १. ३. १, इषा - १. ३०. १७, इषे० १. ७१. ८)।

**इषयन्ता**<(क)—इट् + णिच् (तत्करोति तदाचष्टे ग० वा) + शतृ,

(ख)—√इष् + णिच् (हेतुमति च, पा० ३. १. २६) गुण का अभाव (संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वम्, परि० ९४) प्र० द्वि० इषयन्ता[3]।

**इषयन्तीः** √ इष् + णिच्, इष्ठवद्भाव, टिलोप (टेः, पा० ६. ४. १४३), सवर्ण-दीर्घ (वा छन्दसि, पा० ६. १. १०६), प्रत्ययस्वर[4]।

**इषयुः** < √ इष् (गतौ) + क प्रत्यय, (इगुपध०, पा० ३. १. १३५) = इष + यु > इषयुः[5]।

**इषिराम्** < √ इष् (गतौ) + किरच् प्रत्यय (इषिमदि०, उ० सू० १. ५०) कित् होने से गुणाभाव, चित्स्वर। स्त्री० इषिरा[6]।

**इषुम्** < √ इष् (गतौ) + उ प्रत्यय (इषेः किच्च, उ० सू० १. १३) उ० सू० १. ९ से नित् की अनुवृत्ति कर आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[7]। देवराज० √ इष् गत्यर्थक तथा वधार्थक - दोनों से व्युत्पन्न मानते हैं - गच्छति शत्रून् हन्ति वा तान्[8]।

**इषुधि**< इषु + √ धा + कि (कर्मण्यधिकरणे च, पा० ३. ३. ९३) इषवः एषु धीयन्ते इति इषुधयः, कृत्स्वर से अन्तोदात्त[9]।

**इष्टनिः**< √ यज् + अनिक् प्रत्यय तथा तुट् का आगम (औ०)[10]।

---

१. सा० ऋ० ३. ३०. ११।
२. ,, ,, १. ३६. ११, द्र० महो० शु० य० सं० १. १. १, दे० नि० २. ७. १४, ऋ० ग्ला० पृ० ३०।
३. ,, ,, ८. ५. ५।
४. ,, ,, ३. ३३. १२।
५. ,, ,, १. १२०. ५।
६. ,, ,, ३. ३०. ९, सा० अ० ६. ९२. १, ऋ० ग्ला० पृ० ३१।
७. ,, ,, १. ३९. १०।
८. देव० नि० ५. ३. १४।
९. सा० ऋ० १. ३३. ३, १२२. १, सा० अ० ३. २३. २, निरु० ९. १३ तथा स्क० भा० वहीं, देव० नि० ५. ३. ९।
१०. ,, ,, १. १२७. ६।

**इष्टि** < (क)— √ इष् ( गतौ ) + क्तिन् प्रत्यय, भाव में, इट् प्रतिषेध (तितुत्र०, पा० ७. २. ९ ) क्तिन् उदात्त ( मन्त्रे वृषेष०, पा० ३. ३. ९६ ) ।

(ख)— √ यज् + क्तिन्, सम्प्रसारण ( वचिस्वपि०, पा० ६. १. १५ ) षत्व ( व्रश्चभ्रस्ज०, पा० ८. २. ३६ ), ष्टुत्व, व्यत्यय से अन्तोदात्त[1] । सायण की व्युत्पत्ति के आधार ब्राह्मण हैं[2] ।

( तु० Av. yešti, opers. yad 'to worship' )

**इष्णानः** < √ इष् ( आभीक्ष्ण्ये, क्रै० ) + शानच्, अन्तोदात्त ( चितः, पा० ६. १. १६३ )[3] ।

**इष्मिणः** < √ इष् ( गतौ ) + मक् ( इषियुधीन्धि०, उ० सू० १. १३१ ) । गुणाभाव, = इष्म + इनि, मत्वर्थीय = इष्मिन् । देवराज० ने पूर्वोक्त व्युत्पत्ति के साथ √ इष् + मिन् ( औ० ) से भी व्युत्पन्न माना है[4] ।

**इष्यन्** < √ इष् + शतृ, श्यन् विकरण ( दिवादिभ्यः श्यन्, पा० ३. १. ६९ ), श्यन् आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ )[5] ।

**इह** < इदम् + ह, ( इदमो हः पा० ५. ३. ११ ), इदम् को इश्भाव, ( इदम इश्, पा० ५. ३. ३ ) = इह + ङि, ( स० एक० ), विभक्ति का लुक् ( अव्ययादाप्सुपः, पा० २. ४. ८२ ) अकार प्रत्यय स्वर से उदात्त[6] ।

## ई

**ईजानम्** < √ यज् + कानच् ( लिटः कानज्वा, पा० ३. २. १०६ ), सम्प्रसारण ( वचिस्वपि०, पा० ६. १. १५ ), द्विर्वचन ( लिटि धातोरनभ्यासस्य, पा० ६. १. ८ )[7] ।

**ईळितः** < √ ईड् ( स्तुतौ ) + क्त प्रत्यय ( निष्ठा, पा० ३. २. १०२ ), इडागम, आगम अनुदात्त ( आगमा अनुदात्ताः, वा० पा० ३. १. ३ ) प्रत्ययस्वर[8] ।

---

१. सा० ऋ० १. ३०. १२, ५७. २, ६२. ३, ४. ४. ७ ।
२. ऐ० ब्रा० १. २, तै० ब्रा० १. ५. ९. २, ३. १२. २. १, ३. १२. ४. १, ३. ९. १३. १, द्र० देव० नि० ३. १७. ९, ऋ० ग्ला० पृ० ३१, वो० ब्रू० पृ० २२८, तु० को० टर्नर पृ० ७२ ।
३. सा० ऋ० १, ६१. १३ ।
४. ,, ,, १. ८७. ६ ।
५. ,, ,, १. ६१. १२ ।
६. ,, ,, १. १. २, १२. १०. १३. ३, १४. ९, ३. ८. १ ।
७. ,, ,, १. ११३. २०, १०. १३२. १, सा० अ० १८. ४. १ ।
८. ,, ,, १. १३. ४ ।

दो स्वर के बीच में आने वाला डकार ळकार उच्चरित होता है – (ऋ० प्रा० १.५२)।

**ईळेन्य** < (क)— √ ईड् ( स्तुतौ ) + एन्य प्रत्यय ( औ० )

(ख)— √ ईड् + केन्य प्रत्यय ( कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः, पा० ३. ४. १४ ) प्रत्यय स्वर ( आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३ )[१]।

**ईड्यः** < √ ईड् ( स्तुतौ ) + ण्यत् ( ऋहलोर्ण्यत्, पा० ३. १. १२४ ), आद्युदात्त ( ईडवन्द०, पा० ६. १. १२४ )[२]।

( तु० IE. ais 'praise' with d extension, Goth. aistan 'to regard').[३]

**ईदृश** < इदम् + √ दृश् + कञ् ( त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च, पा० ३. २. ६० ) उत्तरपद का आदि उदात्त, उपपद-समास में कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर से वही शेष रहता है[४]।

**ईयिवांसम्**< √ इण् ( गतौ ) + क्वसु प्रत्यय, धातु को द्वित्व, इट् का आगम निपातित (उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च, पा० ३. २. १०९), प्रत्ययस्वर[५]।

**ईयुषीणाम्**< √ ई ( गतौ ) + क्वसु + ङीप् ( उगितश्च, पा० ४. १. ६ ), वस् को सम्प्रसारण ( वसोः सम्प्रसारणम्, पा० ६. ४. १३१ ) यण् ( इणो यण्, पा० ७. ४. ६९ ), अभ्यास को दीर्घ ( दीर्घ इणः किति, पा० ७. ४. ६९ ), षत्व ( शासिवसिघसीनां च, पा० ८. ३. ६० ), ङीप्, सुप् – अनुदात्त[६]।

**ईरयध्यै**< √ ईरय् + शध्यै तुमर्थ में, शित् होने से सार्वधातुकत्वात् णिलोप का अभाव[७]।

**ईर्मा** < √ ऋ + मन् ( अर्तिस्तु सु०, उ० सू० १. १३७ )। सायण ने प्रत्यय का संकेत नहीं किया है[८]। यास्क – √ ईर्[९]।

( तु० IE ar 'arm' Av arəm 'arm' )

---

१. सा० ऋ० १. ७९. ५, ३. २७. १३, द्र० श० ब्रा० १. ४. ३. ५, वाग्घीदं सर्वमीट्टे वाचेदं सर्वमीडितम्।

२. ,, ,, १. १. २, १२. ३, १४. ८, ७५. ४, ३. ९. ८, २७. ४, १०. ११०. ३, सा० अ० २. २. १, निरु० ८. ७, ऋ० ग्ला० पृ० ३१।

३. एटि० यास्क पृ० ७४।

४. सा० ऋ० १. १७. १।

५. ,, ,, ३. ९. ४, द्र० तत्त्वबोधिनी पा० ३. २. १०९।

६. ,, ,, १. ११३. १५।

७. ,, ,, ४. २. १।

८. ,, ,, ५. ७३. ३।

९. निरु० ४. १३ बाहुनाम समीरिततमो भवति। द्र० देव० नि० ४. १. १४।

**ईवत्** < ✓ ई ( गतौ ) + क्विप् + मतुप् ( पा० ५. २. ९४ ), मकार को वकारादेश ( छन्दसीरः, पा० ८ २. १५ )[1]

**ईशान**<(क)— ✓ईश् ( ऐश्वर्ये ) + शानच्, शप्, लुक् (अदिप्रभृतिभ्यः शपः, पा० २.४.७२), धातुस्वर, शानच्, अनुदात्त (तास्यनुदात्तेत्०, पा० ६.१.१८६)।

(ख)— ✓ ईश् + चानश् ( ताच्छील्यवयोवचन०, पा० ३. २. १२९ ) अन्तोदात्त ( चितः, पा० ६. १. १६३ )[2]। श० ब्रा० में ईशान के साथ इष्टे क्रिया का प्रयोग है। अतः ✓ ईश् से ईशान की व्युत्पत्ति संकेतित प्रतीत होती है[3]।

( तु० IE eikono; Goth. aigan, 'to have' OHG eigan, o wn, M g. eigen, Gr. osean, Ang. sax agen ).

## उ

**उक्थम्** < ✓ वच् ( परिभाषणे ) + थक् प्रत्यय कर्म में ( पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्, उ० सू० २. ६ ), सम्प्रसारण ( वचिस्वपि०, पा० ६. १. १५ ), प्रत्ययस्वर ( आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३ )[4]। ऋ० पं० में ✓ वच् से ही उक्थ की व्युत्पत्ति संकेतित है[5]। ब्राह्मणों में उक् + थम् = उक्थ निर्वचन मिलता है[6]।

**उक्थशासः** (क)— उक्थ् + ✓ शंस् (स्तुतौ) + ण्विन् (मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्, पा० ३. २. ७१ ), निपातन से नकार लोप[7]।

(ख)— उक्थ + ✓ शंस् + क्विप्, संहिता में छान्दस दीर्घ[8]।

**उक्थिन्** उक्थ + इनि ( अत इनिठनौ, पा० ५. २. ११५ ) अलोप ( यस्येति च, पा० ६. ४. १४८ ), प्रत्ययस्वर[9]।

---

१. सा० ऋ० ईवते—४. ४. ६ ।

२. ,, ,, १. ५. २, १०, ७. ८, ११. ८, ८७. ४, ११३. ७, ८. ८३. ५, सा० अ० १. ५. ४, ३. १५. १, ६. २. ३ ।

३. श० ब्रा० ६. १. ३. १७—आदित्यो वा ईशानः, आदित्यो ह्यस्य सर्वस्येष्टे ।

४. सा० ऋ० १. ५. ८, ४. १०, ८०. १६, १००. १४, ३. १०. ६, १२. ५, १३. ६, निरु० ११. ३१, देव० नि० ३. ८. ६ ।

५. ऋ० सं० ५. ३९. ५, १०. ६१. २६ ।

६. श० ब्रा० १०. ६. २. ९, १०. ६. २. १० ।

७. सा० ऋ० ४. २. १६ ।

८. ,, ,, शासम् १०. १०७. ६, ऋ० ग्ला० पृ० ३३, वो० बू० पृ० २४३ ।

९. ,, ,, ३. १२. ५ ।

**उक्थ्य** < उक्थ + यत् प्रत्यय ( भवे छन्दसि, पा० ४. ४. ११० ) स्वरित ( तित्स्वरितम्, पा० ६. १. १८५ )[१]।

**उक्षः** < ✓ उक्ष् ( सेचने ) + क्विप्[२]। ग्रासमान् - ✓ वक्ष्[३]।

**उक्षन्** < ✓ उक्ष् ( सेचने ) + कनिन् ( श्वन्नुक्षन्०, उ० सू० १. १४६ ) उपधादीर्घ का अभाव ( वा षपूर्वस्य निगमे, पा० ६. ४. ९ ) व्यत्यय से अन्तोदात्त[४]। यास्क वृद्धिकर्मा ✓ उक्ष् से निर्वचन करते हैं[५]।

( तु० Lith. Ūkana; Hib, uisg, Gr. ugros, ugrotes, ugraino; Lat. ūvco; Av. uxšan ).

**उक्षण्यायने** < उक्षण + ण्य प्रत्यय, + फक् छान्दस, वृद्धि का अभाव ( संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः तु० परि० ९४ ) – उक्ष नामा कश्चिद् वटोः पूर्वजः तस्य गोत्रापत्यम्, इस अर्थ में उक्षण् शब्द से ण्य प्रत्यय, उक्षण्य + फक् = उक्षण्यायन[६]।

**उग्र** < (क)— ✓ उच् ( समवाये ) + रन् प्रत्यय ( ऋजेन्द्रा० उ० सू० २. ३१ ) निपातन से च् को ग् = उग्र, उचति समवेतो भवतीति उग्रः। व्यत्यय से अन्तोदात्त[७]।

(ख)— उत् + ✓ गम् ( गतौ ) + र, उपसर्गान्त लोप, गम् का अन्त्य लोप निपातित, उद्गच्छन्तीति उग्रः, प्रत्ययस्वर[८]। ऋ० सं० में उग्र के साथ ओजस्, ओजिष्ठ, ओजीयस् का प्रयोग परस्पर सम्बन्ध संकेतित करता है[९], ✓ उज् के आख्यात रूप वाङ्मय में नहीं मिलते, अपितु नामपद – उग्र, ओजस्, ओजिष्ठ, ओजीयस् – मिलते हैं[१०]। सम्भव है मूलतः यह ✓ उज् अथवा ✓ वज् से निष्पन्न हो,

---

१. सा० ऋ० १. १७. ५, ४०. ५, ४८. १२, ३. १०. ६, २६. २, द्र० देव० नि० ३. ८. ६।

२. ,, ,, ६. ३३. १।

३. वो० बू० पृ० २४४।

४. सा० ऋ० १. ६४. २, १०५. १०, १३८. ९, १०. ९१. १४, द्र० देव० नि० ३. ३. ११।

५. निरु० १२. ९।

६. सा० ऋ० ८. २५. २२।

७. ,, ,, १. ७. ४, द्र० उ० वृ० श्वे० २. ३१।

८. ,, ,, ३. २६. ५, दश० उ० वृ० ८. ४६।

९. ऋ० सं० ६. १९. ६, ७. ५६. ६, ८. ९७. १०, ९. ६६. १६, १७।

१०. वैं० वा० भा० पृ० ३८।

जिससे ओजस्, वाज तथा वज्र निष्पन्न होते हैं। भोज ने √ उष् + रन्, ष् > क् में निपातित कर व्युत्पत्ति दी है[1]।

( तु० Gr. ugi-e-s., ugieia; Lat. angeo; Goth. auka ( I increase ) Lith. ug-is, 'groth' Av. ughra ).

**उचथ** < √ वच् ( परिभाषणे ) + अथ प्रत्यय बाहुलक तथा कित् ( सविदिभ्यां कित्, उ० सू० ३. ११० ), सम्प्रसारण, ( वचिस्वपि०, पा० ६. १. १५ )[2]। उच्यते, परिभाष्यते इति उचथः। प्रत्ययस्वर ( आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३ )। ऋ० सं० में √ वच् के साथ उचथ का प्रयोग मिलता है[3]। यह √ उच् समावये + अथ प्रत्यय से ( सविदिभ्यां कित्, उ० सू० ३. ११० ) भी व्युत्पन्न हो सकता है। उच्यति समवैति प्रसीदति इति उचथः। ऋ० सं० में उचथ ग्यारह बार उचथ्य एक बार एवं ओचथ्य दो बार प्रयुक्त है।

**उच्चा** < उच्चैस् + सुप्, विभक्ति को डादेश, डित्वात् टि लोप ( डित्सामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः )[4]।

**उत्तम** < उत् + तमप् ( अतिशायने तमबिष्ठनौ, पा० ५. ३. ५५ ) अन्तोदात्त ( उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र, पा० ६. १. १६० )[5]।

( तु० Av. ustəma )

**उत्तर** < (क)— उत् + √ तॄ ( प्लवनतरणयोः ) + अप् भाव में ( ऋदोरप्, पा० ३. ३. ५७), उत्कृष्टः तरो यस्येति बहुव्रीहिः, आद्युदात्त ( निपाता आद्युदात्ताः फि० सू० ८ ), बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर।

(ख)— उत् + तरप् ( आतिशायनिक )[6]।

**उत्तराम्** <(क)—उत् + तरप् + टाप् + अम् ( द्वि० ए० ), टाप् और तरप् के अनुदात्त होने से उपसर्ग स्वर शिष्ट रहता है।

(ख)—उत् + तरप् + आमु (किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे, पा० ५.४.११)। इस पक्ष में व्यत्यय से उदात्त अथवा वृषादि को आकृतिगण मानकर (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)[7]।

---

१. सरस्व० २. ३. ३०।

२. सा० ऋ० १. ७३. १०, ११०. १।

३. ऋ० सं० १. १८२. ८, ४. २. २०।

४. सा० ऋ० १०. १०६. ५।

५. ,, ,, २४. १५, २५. २१, ५०. १०, ६. १. १८, ३. ५६. ८, द्र० सा० अ० १. ६. २, २. ३. २।

६. ,, ,, १. ७. ७, १. ५०. ११, सा० अ० ६. ५. १।

७. ,, ,, १. ५०. ११, द्र० निरु० २. ११ उद्धततरो भवति।

( तु० IE ŭd 'up' Gr. hústeros 'Later')

**उत्सम्** < √उन्द (क्लेदने) + स प्रत्यय (उन्द्यमिगुधिकुषिभ्यः कित्, उ० सू० ३. ६८, दश० ९. २८) । प्रत्यय के कित् विधान होने से नलोप, उनत्तीत्युत्सः व्यत्यय से आद्युदात्त[१] । ऋ० सं० में √उन्द् से उत्स की व्युत्पत्ति अभीष्ट प्रतीत होती है[२] । यास्क ने उद् + √सृ, उद् + √सद्, उद् + √स्यन्द तथा √उद से निर्वचन किया है[३] । राजवाडे (नि० म० पृ० ४०८. ९) ने इसे अवत से सम्बद्ध बताया है, पर उसका कोई आधार नहीं दिया ।

( तु० IE ud 'to wet', Gr. húdōr 'water')

**उत्सधिम्**<उत्स + √धा + कि प्रत्यय (कर्मण्यधिकरणे च, पा० ३. ३. ९३)[४] । स्कन्द ने उत् + √धे ( पाने ) से व्युत्पन्न माना है[५] ।

**उत्सवे** < उत् + √सू (प्रेरणे) + अप् प्रत्यय भाव में (ऋदोरप्, पा० ३. ३. ५७); उत्तरपदान्तोदात्त (थाथघञ्०, पा० ६. २. १४४)[६] ।

**उदधीनिव**<उदधीन् + इव, उदधि<उदक + √धा (धारणपोषणयोः) + कि प्रत्यय (कर्मण्यधिकरणे च, पा० ३. ३. ९३), आकारलोप (आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४) उदक के स्थान में उद आदेश (पेषंवासवाहनधिषु च, पा० ६. ३. ५८), कृत्स्वर (गतिकारको०, पा० ६. २. १३९), इव के साथ उदधि का समास, विभक्ति का अलुक् (इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च०, वा० पा० २. २. १८)[७] ।

**उदन्यजेव**<उदन्य + ज (< √जन्) + इव, उदन्य<उदक + यत् उदके भवमुदन्यम्, उदक>उदन् (पद्न्नोमास०, पा० ६. १. ६३)[८] ।

**उदमेघे** < उदक + √मिह् (सेचने) + घञ् प्रत्यय, कुत्व (न्यङ्क्वादीनां च, पा० ७. ३. ५३) उदक>उद् (उदकस्योदः संज्ञायाम्, पा० ६. ३. ५७), उत्तरपदान्तोदात्त (थाथघञ्०, पा० ६. २. १४४)[९] ।

---

१. सा० ऋ० ३. २६. ९ ।
२. ऋ० सं० १. ८५. ११, ५. ५७. १ ।
३. निरु० १०. ९ उत्स उत्सरणाद्वोत्सदनाद्वोत्स्यन्दनाद्वोनतेर्वा, द्र० देव० नि० ३. २३. १० ।
४. सा० ऋ० १. ८८. ४ ।
५. स्क० ऋ० वहीं० ।
६. सा० ऋ० १. १०२. १, द्र० तु० को० टर्नर् पृ० ८६ ।
७. ,, ,, ३. ४५. ३, द्र० सा० अ० १. ३. ८, मा० धा० जु० १७ ।
८. ,, ,, १०. १०६. ६, द्र० वोबू० २५२ ।
९. ,, ,, १. ११६. ३ ।

**उदयन**<उद् + √इ (गतौ) + ल्युट् प्रत्यय अधिकरण में, उदेति अत्र इति उदयनम्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[1]।

**उदरेष**<उद + √दृ ( विदारणे ) + अल् प्रत्यय तथा 'उद्' शब्द का अन्त्य लोप (उदिदृणाते रलचौ पूर्वपदान्तलोपश्च, उ० सू० ५. १७), लित् स्वर (लिति, पा० ६. १. १९३), उत्तरपदप्रकृतिस्वर (गतिकारको०, पा० ६. २. १३९)[2]। गेल्डनर् उद् + √ऋ तथा ग्रासमान् उद् + अर् से व्युत्पन्न मानते हैं[3]।

**उदवाहेन**<उदक + √वह् + अण् प्रत्यय ( कर्मण्यण्, पा० ३. २. १ ), उदक>उद = उदवाह, उदकानि वहतीति उदवाहः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर। यह मेघ विशेष की संज्ञा है[4]।

**उदितः**<(क)—उत् + √इ (गतौ) + क्त प्रत्यय, गतिस्वर (पा० ६. २. ४९, ५०)[5]।
(ख)—√वद् (व्यक्तायां वाचि) + क्त प्रत्यय, सम्प्रसारण[6]।

**उदीचः** <उत् + √अञ्च् + क्विन् (ऋत्विक्०, पा० ३. २. ५९) नलोप (अनिदिताम्०, पा० ६. ४. २४), धातु के अकार को ईकार (उद ईत्, पा० ६. ४. १३९) गति को प्रकृतिस्वर (अनिगन्तोऽञ्चतावप्रत्यये, पा० ६. २. ५२)[7]।

**उद्भृतम्**<उद + √हृ ( हरणे ) + क्त प्रत्यय कर्म में, हकार को छान्दस भकार, गतिस्वर (गतिरनन्तरः, पा० ६. २. १३९)[8]।

**उद्यत** < उत् + √यम् (उपरमे) + क्त प्रत्यय, अनुनासिक लोप (अनुदात्तो०, पा० ६. ४. ३७), गतिस्वर[9]।

**उद्वत्**<(क)—उत् + √वन् ( संभक्तौ ) + क्विप् प्रत्यय, अनुनासिकलोप, तुक् का आगम। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर।
(ख)—उत् + वति (उपसर्गाच्छन्दसि वत्यर्थे, पा० ५. १. ११८)[10] उद्वत् ब्राह्मणों में एक विशेष साम का नाम है[11]। यास्क ने √अव् से निर्वचन किया है[12]। ग्रासमान उद् से व्युत्पन्न मानते हैं—वोबू० २५९।

---

१. सा० ऋ० 'उदयनात्—१. ४८. ७, द्र० वोबू० पृ० २५३।
२. ,, ,, १. २५. १५।
३. ऋ० ग्ला० पृ० ३४, वोबू० २५३।
४. सा० ऋ० १. ३८. ९।
५. ,, ,, १. ११५. ६, १०. १२१. ६।
६. सा० अ० ७. ७०. २, द्र० वोबू० पृ० २५३, तु० को० टर्नर् पृ० ६०।
७. सा० ऋ० १०. १३१. १।
८. ,, ,, ३. २१. ५।
९. ,, ,, स्रुचे १. ३१. ५, उद्यतम् १. ८०. ९।
१०. ,, ,, १. ३५. ३।
११. जै० उ० ब्रा० ३. १६४।
१२. निरु० १०. २०।

**उपगन्तवै**<उप + √गम् + तवै प्रत्यय ( तुमर्थे सेसेन्०, पा० ३. ४. ९ ) गतिसमास, गति को प्रकृतिस्वर तथा उत्तरपदान्तोदात्त ( तवै चान्तश्च युगपत्, पा० ६. २. ५१)[1] ।

**उपब्दिः**<उप + √पद् + इन् ( इन्सर्वधातुभ्यः, उ०, ४. ११४ ), पृषोदरादित्वात् ( पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्, पा० ६. ३. १०९ ) व्युत्पन्न, उप गुर्वादिसमीपे गम्यते ज्ञायते उपपद्यते इति वा उपब्दिर्वाक्[2] । सायण ने अन्यत्र उप + √वद् (शब्दनार्थ), उप + √पद् तथा उप + √बद् ( स्थैर्ये ) से व्युत्पत्ति दी है । देवराज० उप + √वद्, उप + √दा (द्यतेः), उप + √दे (दयतेः) + कि प्रत्यय तथा वकारोपजन बाहुलक (उपसर्गे घोः किः, पा० ३. ३. ९२) व्युत्पत्ति देते हैं[4] । ग्रासमान – उप + √वद् – बोबू २५५ ।

**उपम** < उप + √मा (माने) + क प्रत्यय, करण अर्थ में (घञर्थे क विधानम्, वा० पा० ३. ३. ५८ अथवा पा० ३. १. १३६) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर । उपमेभिः उपम + भिस् (तृ० ब०) भिस् को ऐस् आदेश का अभाव छान्दस[5] । देवराज० उप + √मा + ड प्रत्यय (अन्येष्वपि दृश्यते, पा० ३. २. १०१)[6] ।

**उपमित्**<उप + √मि (प्रक्षेपणे) + क्विप् बाहुलक, तुक् का आगम, उप समीपे मीयते उपमित्[7] ।

**उपशाकेभिः**<उप + √शक् (शक्तौ) + णिच् + अच् (नन्दिग्रहि०, पा० ३. १. १३४), अन्तोदात्त (थाथघञ्०, पा० ६. २. १४४) । उपशाक + भिस्, तृ० ब०[8] ।

**उपस्मियाणा** < उप + √स्मि ( इषद्धसने ) + कानच् ( लिटः कानज्वा, पा० ३. २. १०६)[9] ।

**उपस्तुत्यम्**<उप + स्तु + क्यप् (एतिस्तुशा०, पा० ३. १. १०९), तुक्[10] ।

**उपस्थ**<उप + √स्था + क प्रत्यय बाहुलक (आतश्चोपसर्गे, पा० ३. १. १३६ अथवा पा० ३. २. ४) पूर्वपदान्तोदात्त (मरुद्वृधा० वा० पा० ६. २. १०६)[11] ।

---

१. सा० ऋ० १०. १६०. ५ ।
२. ,, ,, १. ७४. ७, १६६. ७ ।
३. सा० अ० २. २४. ६ ।
४. देव० नि० १. ११. २६ ।
५. सा० ऋ० १. ३३. २, ६१. ३, ११०. ५, सा० अ० २०. ३५. ३, ऋ० ग्ला० ३५ ।
६. देव० नि० २. १६. ११ ।
७. सा० ऋ० १. ५९. १, ४. ५. १, बोबू० पृ० २५६ ।
८. ,, ,, १. ३३. ४ ।
९. ,, ,, १०. १२३. ५ ।
१०. ,, ,, १. १३६. २ ।
११. ,, ,, १. ६५. ४, द्र० बोबू० पृ० २५८ ।

**उपह्वर**<उप + √ह्‌वृ (कौटिल्ये) + घ प्रत्यय अधिकरण में (पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण, पा० ३. ३. ११८), गुण, उपह्वरन्ति गच्छन्ति अस्मिन् उपह्वरः भूप्रदेशः, नभः प्रदेशः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[1]। स्कन्द ने √ह्‌वृ को अत्तिकर्मा माना है[2]।

**उपाभृति**<उप + आ + √हृ ( हरणे ) + क्तिन् प्रत्यय, हकार के स्थान पर छान्दस भकार = उपाभृति + ङि, स० ए०, विभक्ति का लुक्, (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९), गति को प्रकृतिस्वर (तादौ च०, पा० ६. २. ५०)। ग्रासमान √भृ से व्युत्पन्न करते हैं[4]।

**उपेतिः**<उप + √इ (गतौ) + क्तिन् प्रत्यय, प्रादि समास, गति को प्रकृतिस्वर (पा० ६. २. ५०)[5]।

**उपेषे** < उप + √ई (ईड०, गतौ) + क्से प्रत्यय तुमर्थ में[6]।

**उब्धम्**<√उभ् (हन्ति का समानार्थक, -पूरणे) + क्त प्रत्यय, कर्म में[7]।

**उभये**<उभ + तयप्, तयप् को अयजादेश (उभादुदात्तो नित्यम्, पा० ५. २. ४४), वचनसामर्थ्य से आद्युदात्त[8]।

**उरः**<√उर्व ( हिंसार्थः ) + क्विप्, वलोप (राल्लोपः, पा० ६. ४. २१) = उर् + जस्, प्र० ब०[9]।

( तु० अवे० वरह् )।

**उराणः**<उरु + णिच् + कानच्, णिलोप (णेरनिटि, पा० ६. ४. ५१) छान्दस वरादेश का अभाव, चित्स्वर[10]। ग्रासमान √वृ से व्युत्पन्न मानते हैं[11]।

**उरु** < ऊर्णु ( आच्छादने ) + कु प्रत्यय, णु का लोप तथा धातु को ह्रस्व (महति ह्रस्वश्च, उ० सू० १. ३१) ऊर्णोतीति उरु महत्, प्रत्यय स्वर[12]।

---

१. सा० ऋ० १. ६२. ६, ८७. २।
२. स्क० ऋ० १. ६२. ६।
३. सा० ऋ० १. १२८. २।
४. वोबू० पृ० २५९।
५. सा० ऋ० १. ७६. १, ३. १८. १, ऋ० ग्ला० पृ० ३५, वोबू० पृ० २५९।
६. " " १. १२३. ८।
७. " " ४, १. १५।
८. " " ३. ३२. १४।
९. " " १०. १५५. ४.
१०. " " ३. १९. २, द्र० देव० नि० ४. ३. ७६।
११. वोबू २६१, द्र० एटि० यास्क पृ० ११४।
१२. सा० ऋ० ३. ४१. ५।

ऋ० सं० में उरु की व्युत्पत्ति √ वृ से संकेतित है[1]। पाणिनि ने भी 'इष्ठ' और 'ईयस्' प्रत्ययों से पूर्व 'उरु' को वर्' आदेश कर इस व्युत्पत्ति की पुष्टि की है[2]। और्णवाभ √वृ से मानते हैं[3]। सायण की व्युत्पत्ति शाकटायन पर आधारित है[4]।

( तु० IE were, uru, proad, Gr. eurus, Irish ur (very) av. vouru)

**उरुक्रमः**<(क)—उरु + √ क्रम् ( पादविक्षेपे ) + अच् प्रत्यय ( नन्दिग्रहि०, पा० ३. १. १३४)।

(ख)—उरु + √क्रम् + अण्, वृद्धि का प्रतिषेध ( नोदात्तोपदेशस्य० पा० ७. ३. ३४)[5]।

**उरुक्षया**<उरु + √क्षि ( निवासगत्योः ) + अच् प्रत्यय (पा० ३. ३. ५६), आद्युदात्त (क्षेयो निवासे, पा० ६. २. २०१), समास में उत्तरपदाद्युदात्त (परादिश्छन्दसि बहुलम्, पा० ६. २. १९९), उरूणां बहूनां क्षयौ उरुक्षयौ, विभक्ति को छान्दस आकार[6]।

**उरुचक्षस्**<उरु + √चक्ष् + असुन् (चक्षेर्बहुलं शिच्च, उ० सू० ४. २३७) ख्याञादेश का अभाव[7]।

**उरुव्यचस्**<उरु + √व्यच् (व्याजीकरणे) + असुन्, ङित् के अभाव होने से (व्यचेः कुटादित्वमनसि, वा० पा० १. २. १) सम्प्रसारण का अभाव। अथवा उरु + √व्यच् + विच् कर्ता में उरु विचति प्राप्नोतीति उरुव्यचाः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[8]। उरु + वि + √अञ्च् + असुन् से भी इसकी व्युत्पत्ति सम्भव है।

**उरुशंस**<उरु + √शंस् (स्तुतौ) + घञ् प्रत्यय कर्म में, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७), समास में कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर से वही शेष रहता है। शंस्यते इति शंसः, उरुः शंसो यस्य स उरुशंसः[9]।

**उरूची**<उरु + √अञ्च् + क्विन् (ऋत्विक्०, पा० ३. २. ५९), न लोप (अनिदिताम्०, पा० ६. ४. २४), अकारलोप ( अचः, पा० ६. ४. १३८ ), दीर्घ

---

१. ऋ० सं० १. १५९. २, ६. ६२ १, ६. ७५. १८।

२. पा० ६. ४. १५।

३. निरु० २. २६, उर्वी, वोबू० पृ० २६६।

४. उ० सू० १. ३०. ३१—उर्णोतिर्नुलोपश्च। महति ह्रस्वश्च।

५. सा० ऋ० १. ९०. ९।

६. ,, ,, १. २. ९।

७. ,, ,, चक्षसम् १. २५. ५।

८. ,, ,, १. १०४. ९, १०८, २, ३. ५०. १, सा० अ० ६. ४१, २।

९. ,, ,, १. ३१. १४, ३. ६२. १७।

ची; पा० ६. ३. १३८)। उरूच् + ङीप् (अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्, वा० पा० ४. १. ६) विभक्ति को पूर्वसवर्णदीर्घ (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९), ङीप् उदात्त (अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः; पा० ६. १. १६१)[1]।

**उर्वीः** < उरु + ङीष् (वोतो गुणवचनात्, पा० ४. १. ४४), यणादेश। ईकार उदात्त (उदात्तयणो हल्पूर्वात्, पा० ६. १. १७४)[2]। यास्क ने √ऊर्णु तथा √वृ (और्णवाभ) से निर्वचन किया है[3]। उर्विया-उर्वी + सु, प्र० ए०, विभक्ति को डियाच् आदेश (इयाडियाजीकाराणां चोपसंख्यानम्, वा० पा० ७. १. ३९)। अन्तोदात्त (फिषोऽन्त उदात्तः, फि० सू० १)[4]।

(तु० Gr. eurus, euruno, hib. ur 'very')

**उलूखल** < सायण ने इसे पृषोदरादि माना है—ऊर्ध्वं खम् अस्य इति उलूखलः[5]। श० ब्रा० में उरु + कर (√कृ) से निर्वचन किया है[6]। यास्क – उरु + √कृ, ऊर्ध्व + खम्, ऊर्ज + कर[7]। ग्रासमान उरु + खल, वोबू० २६६।

**उशतीः** < उशत् + ङीप् स्त्री प्रत्यय (उगितश्च, पा० ४. १. ६), ङीप् उदात्त (शतुरनुमो नद्यजादी, पा० ६. १. १७३)[8]। उशत् < √वश् + शतृ।

**उशधक्** < √वश् (कान्तौ), पृषोदरादि[9]। ग्रासमान – उश < √वश्, + धक् < √दह्, वोबू० २६७।

**उशना** < √वश् (कान्तौ) + कनसि प्रत्यय (वशेः कनसि, उ० सू० ४. २४३), सम्प्रसारण (ग्रहिज्या०, पा० ६. १. १६)। = उशनस् + सु, प्र० ए०, अनङ् आदेश (ऋदुशनस्०, पा० ७. १. ९४), उपधादीर्घ (सर्वनामस्थाने चा०, पा० ६. ४. ८) हल्ङ्यादिलोप[10]।

---

१. सा० ऋ० १. २. ३, ३. ३१. ११, सा० अ० ४. २६. २, द्र० स्क० ऋ० १. २. ३।
२. ,, ,, १. ८. ७, ६१. ८, ३. ३३. ६, द्र० श० ब्रा० २. १. ४. २८ यथेयं पृथिव्युर्वी, एवम् उरु भूयासमिति।
३. निरु० २. २६ —उर्व्य ऊर्णोतेः वृणोतेरित्यौर्णवाभः। द्र० देव० नि० १. १. १०।
४. सा० ऋ० १. ९२. ९, ११३. ५, १०. ११०. ५, द्र० स्क० ऋ० १. ११३. ५, उद्० ऋ० १०. ४५. ८।
५. ,, ,, १. २८. ६।
६. श० ब्रा० ७. ५. १. २२—(प्रजापतिरब्रवीत्) उरु मे करदिति। तस्मादुरुकरमुरुकरं ह वै तदुलूखलमित्याचक्षते परोक्षम्।
७. निरु० ९. २०, उलूखलमुरुकरं वा, ऊर्ध्वखं वा, ऊर्क्करं वा।
८. सा० ऋ० १. २२. ९, ६२. ११, ७१. १, १०९. ४, ३. ३३. १, द्र० सा० अ० १. ५. २, ७. ४६. २।
९. ,, ,, ३. ३४. ३।
१०. ,, ,, १. ५१. १०।

**उशने** < उशन + ङि, स० ए०, उशन < √वश् + क्यु प्रत्यय (औ०) सम्प्रसारण, यु को अनादेश = उशन[1]।

**उशिक्** < √वश् (कान्तौ) + इजि प्रत्यय (वशेः किच्च, उ० सू० २. ७२), सम्प्रसारण, प्रत्ययस्वर। वष्टि हविः कामयते, उश्यते काम्यते कर्मार्थिभिः इति वा उशिक् अग्निः[2]।

( तु० IE uek, 'to urish, Gr hekōn, willing)

**उषर्बुधः** <उषस् + √बुध् (अवगमने) + क्विप्, रु को उत्वाभाव छान्दस, धातुस्वर से अकार उदात्त, उषसि, बुध्यन्ते इति उषर्बुधः, समास में—कृदुत्तरपद-प्रकृतिस्वर[3]। उषस् की व्युत्पत्ति ऋ० सं० में √उच्छी विवासे - से संकेतित है[4]। यास्क ने √वश् तथा √उच्छ्[5]। वैयाकरण √उष् (दाहे) से व्युत्पन्न मानते हैं[6]।

( तु० Av. us ah)

**उषर्भुत्** < उषस् + √बुध् ( अवगमने ) + क्विप्, भष्माव, स् को र् ( अहरादीनां पत्यादिषूपसंख्यानम्, वा० पा० ८. २. ७०), उषसि बुध्यन्ते इति उषर्भुत्, समास में कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[7]।

**उषासानक्ता**<उषस् + नक्त, द्वन्द्व समास, पूर्वपद को आनङ् (देवताद्वन्द्वे च, पा० ६. ३. २६), प्र० द्वि०[8]।

**उष्टारेव**<उष्टारा + इव, उष्टारा<√वश् ( कान्तौ ) + तृच्, छान्दस सम्प्रसारण, इट् का अभाव, प्र० द्वि[9]।

**उस्र** < (क)—√वस् ( निवासे ) + रक् प्रत्यय ( स्फायितञ्चि०, उ० सू० २. १३ ) सम्प्रसारण, षत्व का ( शासिवसिघसीनां च, पा० ८. ३, ६० ) अभाव छान्दस।

---

१. सा० ऋ० १. ५१. ११।
२. ,, ,, १. ६०. २, ३. ११. २, १५. ३, २७. १०. द्र० उद्० ऋ० १०. ४५. ७, निरु० ६. १०, देव० नि० २. ६. १२, ३. १५. १६।
३. सा० ऋ० १. १४. ९, ४४. १।
४. ऋ० सं० १. १२३. ११।
५. निरु० २. १८ उषाः कस्मात् ? उच्छतीति सत्याः। १२. ५ उषा वष्टेः कान्तिकर्मणः।
६. उ० सू० ४. २३३।
७. सा० ऋ० १. ६५. ५।
८. ,, ,, १०. ११०. ६, द्र० सा० अ० ६. ३. ३।
९. ,, ,, १०. १०६. २।

(ख)—उत् + √सृ (गतौ) + क प्रत्यय, पूर्वपद का अन्त्यलोप छान्दस[1]।
ऋ० सं० में √वस् (चमकना) के साथ उस्र का प्रयोग बहुधा किया गया है[2]। यास्क – उद् + √सृ अथवा उद् + √स्रु[3]। देवराज० – √वस् + रक्, उत् + √सृ + ड[4]। ग्रासमान् – √वस्।[5]

(तु० IE us – to make wet, av. uštra).

**उस्रिया** < (क)—उस्रा + घ प्रत्यय = उस्रिय + टाप् स्त्री प्रत्यय = उस्रिया, प्रत्ययस्वर[6]।

(ख)—√वस् + रियक् प्रत्यय कर्ता में, षत्वाभाव बाहुलक (यत्र पदार्थ-विशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्, वा० पा० ३. ३. १)। इकार प्रत्ययस्वर से उदात्त[7]। देवराज – √वस् + घ प्रत्यय[8]।

## ऊ

**ऊति** < (क)—√अव् + क्तिन् निपातन से (ऊतियूति०, पा० ३. ३. ९७)।

(ख)—√अव् + क्तिच् (क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्, पा० ३. ३. १७४)[9]। ऋ० सं० में √अव् से भाव में ऊति की व्युत्पत्ति संकेतित है[10]। ऐ० ब्रा० में ऊ < आ + √या अथवा √इ (गतौ) + ति = ऊति, व्युत्पत्ति अभीष्ट है[11]। यास्क ने √अव् से निर्वचन किया है[12]।

---

१. सा० ऋ० १. ६. ५. ६२ ३, ६९ ५. २. २३. २ ३. ३०. १४, ३१. ११, ५८. ४।
२. ऋ० सं० ५. ४९. ३, ६. ३. ६, ७. ६९. ५, ८. ४. १९, ४६. २६।
३. निरु० ४. १९ उत्स्राविणोऽस्यां भोगा, उस्रे ति वा।
४. देव० नि० १. ५. ९।
५. बोबू० पृ० २६९, तु० को० टर्नर पृ० ११३।
६. सा० ऋ० १. ६२. ३, ३. ३०. १४, ३१. ११, द्र० सा० अ० १. १२. १।
७. ,, ,, १. ६. ५।
८. देव० नि० २. ११।
९. सा० ऋ० १. ४. १, ७. ४., ८. १, ९. ९, १०. १०, ११. ३, २२. ५, २३. ३, ८, ३०. ६, ३५. १, ३६. १३, ३९. ८, ४६. १५, ४८. १६, ५. १. २, ८३. १, १००. १, ७, १०५. १७, ११२. १, ११९. २, २. ११, १३, १२. १४।
१०. ऋ० सं० १. ६४. १३, ९१. ९, ११२. २, २. ११. १३, ५. २२. ३, ७. १९. ३, २०. २, ९. १३. १७, १०. ४९. ३।
११. ऐ० ब्रा० १. २—ऊतयः खलु वै ता नाम याभिर्देवा यजमानस्य हवं आयन्ति ये वै पन्थानो याः स्रुतयस्ता वा ऊतयस्त उ एवैतत् स्वर्गयाणा यजमानस्य भवन्ति।
१२. निरु० ५. ३—ऊतिरवनात्, द्र० २. २ भी, देव० नि० ४. २. १५।

( तु० IE duō, 'to help', Lat. ɞueō 'to help', Av. ɞu 'to help).

**ऊधनि**<ऊधस् + ङि., स० ए०, अनङ् छान्दस (ऊधसोऽनङ् पा० ५. ४. १३१) ऊधस् <उत् + √धृ (धारणे) + सुन्न्[1]। यास्क - उद् + √ह्न्, उप + √नह्[2]। देवराज० ने यास्क से सहमत होते हुए √उन्द् (क्लेदने) से भी व्युत्पत्ति दी है। उनत्त्यवश्यायेन भूतानि उनत्त्यूधः - इति क्षीर स्वामी[3]।

( तु० IE - Ūdh, 'udder', Ang. sax ūder 'udder').

**ऊमाः**<√अव् ( तर्पण ) + मन् ( अविसिविशुषिभ्यः कित्० उ० सू० १. १३० ) ऊठ् आदेश (ज्वरत्वर०, पा० ६. ४. २०)[4]।

**ऊर्जः**<√ऊर्ज् (बले) + क्विप् ताच्छीलिक (भ्राजभास, पा० ३. २. १७७). ऊर्जयति शरीरमिति. ऊर्क्, विभक्ति को उदात्त (सावेकाचः, पा० ६. १. १६८)[5]। यास्क ने √ऊर्ज, √पच् तथा √व्रश्च से निर्वचन किया है[6]।

( तु० IE ūrĝ, 'to swell with a energy', Av. vɞrɞ zɞan a effectiveness).

**ऊर्ध्वसानः**<ऊर्ध्वस + क्विप् + शानच् अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३) सायण ने ऊर्ध्वस <ऊर्ध्व + √सो ( अन्तकर्मणि ) से व्युत्पन्न किया है - ऊर्ध्व उच्छितः शौर्यादिभिर्गुणैरधिकः सन् स्यति शत्रूणामन्तं करोति-इत्यूर्ध्वसः ऊर्ध्वस - शब्दादाचारार्थे क्विबन्ताच्छानच्[7]। पर √वृध् + असानच् व्युत्पत्ति संगत प्रतीत होती है। यास्क ने ऊर्ध्व का निर्वचन उद् + √श्रि से किया है[8]। ग्रासमान तथा मोनियर विलियम्स ऊर्ध्व से व्युत्पन्न मानते हैं[9]।

**ऊर्मिः** <√ऋ (गतौ) + मि प्रत्यय (अर्तेरूच उ० सू० ४. ४६) तथा धातु को ऊकार

---

१. सा० ऋ० १. ५२. ३, ६४. ५, ३. २६. १४।
२. निरु० ६. १६—ऊध उद्धततरं भवति, ऊधः उपोन्नद्धम्।
३. देव० नि० १. ७. २०।
४. सा० ऋ० १०. १२०. १, ३, द्र० ऋ० ग्ला० पृ० ३७, वोबू० पृ० २७२।
५. ,, ,, ३. २७. १२, द्र० सा० अ० २. २९. ७, देव० नि० २. ७. १५।
६. निरु० ३. ८, ऊर्गित्यन्ननाम। ऊर्जयतीति सतः, पक्वं सु प्रवृक्णमिति वा तथा द्र० स्क० वहीं।
७. सा० ऋ० १०. ९९. ७।
८. निरु० ८. ५१।
९. वोबू० पृ० २७५।

अन्तादेश, ऋच्छति गच्छतीति ऊर्मिः, प्रत्ययस्वर[1]। यास्क ने √ऊर्ण से निर्वचन किया है।[2]

( तु० IE Wel – (turn, roll) Av. Kurdmi, Russ Volna )[3] ।

**ऊर्म्याः**<ऊर्मि + यत् प्रत्यय (भवे छन्दसि, पा० ५. १. ६७, ५. १. ६३) स्त्री० उर्म्या[4] ।

**ऊर्वम्**<√ऊर्व् (हिंसार्थ) + अच् प्रत्यय (नन्दिग्रहि०, पा० ३. १. १३४), ऊर्वति क्षुधं हिनस्ति – इति – ऊर्वन्नम्[5] । ऋ० सं० में यह पुंलिंग अकारान्त शब्द २२ बार प्रयुक्त है। विश्वबन्धु के मत में इसके अर्थ और व्युत्पत्ति दोनों ही अविदित हैं। ऋ० सं० में उर्व के प्रयोगों एवं अर्थों पर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह √वृ से निष्पन्न है[6] । ग्रासमान – √वृ, वोबू० २७६ ।

## ऋ

**ऋक्वन्**<√ऋच् (स्तुतौ) + क्विप् + वनिप् (छन्दसीवनिपौ, वा० पा० ५. २. १२२), अन्त्य विकार – च्>क् – छान्दस, अथवा (अयस्मयादिषु क्वचिदुभयं भवति वा० पा० १. ४. २०) से भ संज्ञा होने से जश्त्व का अभाव तथा पद संज्ञा होने से कुत्व[7] । ऋ० सं० में ऋक्वन् की व्युत्पत्ति √अर्च् से संकेतित है[8] । ऋ० सं० में √अर्च् के साथ-साथ √ऋच् के भी प्रचुर प्रयोग मिलते हैं। ऋच् अंश वाले शब्दों के साथ √ऋच् का प्रयोग न करके √अर्च् का प्रयोग करने से परस्पर दोनों की सम्बद्धता संकेतित है[9] । यास्क ने भी √अर्च् से ही निर्वचन दिया है[10] ।

---

१. सा० ऋ० १. २७. ६, ४४. १२, ५२. ७, ६५. १०, ३. ३३. १३, ४७. १, ८. ९६. १।
२. निरु० ५. २३—ऊर्मिः ऊर्णोतिः । द्र० देव० नि० १. ७. ५ ।
३. डी० एस्० एस्० पृ० ४० ।
४. सा० ऋ० ८. ६६. १, द्र० देव० नि० १. ७. ५ ।
५. ,, ,, १. ७२. ८ ।
६. ऋ० सं० १. ७२. ८, ३. ३२. ६, ४. २. १७, ५. २९. १२, ३०. ४, ४५. २, ६. १७. १, ६, ६०. ४, ८. ६६. ३, ९. ८७. ८, १०. ७४. ४, १०८. ८, इत्यादि ।
७. सा० ऋ० ऋक्वाणः १. ८७. ५, ३. ११. ५, ऋक्वा—९. ९१. ३, ऋक्वभिः १०. ११३. ६ ।
८. ऋ० सं० १. ६२. १—सुवृक्तिभिः स्तुवतऋग्मियायार्कं नरे विश्रुताय । तथा ५. ५२. १, १०. ३६. ५ ।
९. वै० वा० भा० चि० पृ० ४५ ।
१०. निरु० १. ८ ऋगर्चनी तथा १३. ११ एषर्गभवति, यदेनमर्चन्ति प्रत्यृचः । द्र० वोबू० पृ० २७७ ।

**ऋक्ष** <ऋ + √क्षण् + ड प्रत्यय (औ०), ऋृन् मनुष्यान् क्षणोति[1]। यास्क ने √ऋ + √ख्या से निर्वचन किया है[2]। देवराज० √ऋष् गतौ + किदिन्, √स्तृञ् आच्छादने + क्विप्[3]। वैयाकरण – √ऋष् + स प्रत्यय[4]। ग्रासमान √अर्च, वोबू० २७७।

( तु० IE ṛkthos, a bear, Gr. arktos, abeare' )

**ऋग्मिन्** < √ऋच् (स्तुतौ) + क्विप् भाव में. + मिनि प्रत्यय, मत्वर्थीय, पदत्वात् कुत्व और जश्त्व[5]।

**ऋग्मियम्** <(क) – ऋच् + √मा (माने शब्दे च) + क्विप् (क्विप् च पा० ३. २.७६), ईत्व (घुमास्था०, पा० ६.४. ६६), कुत्व (चोः कुः, पा० ८. २. ३०), जश्त्व (झलां जशोऽन्ते, पा०८. २. ३९) = ऋग्मी + अम्, द्वि० ए० इयङादेश (अचिश्नु०, पा० ६. ४. ७७), ऋचो मिमीते इति = ऋग्मीः, ऋग्भिः मीयते वा, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर से इकार उदात्त। द्याद्विवेद ने इसे ही स्वीकार किया है।

(ख)—ऋच् + मयट् प्रत्यय विकार अर्थ में (एकाचो मयटमिच्छन्ति, वा० पा० ४. ३. १४४), अकार को ईत्व छान्दस।

(ग) – <ऋच् (स्तुतौ) + मक् प्रत्यय भाव में, बाहुलक कुत्व जश्त्व, = ऋग्म + घ प्रत्यय, अर्हार्थ में ऋग्मं स्तुतिमर्हति इति ऋग्मियः।[6] यास्क – √अर्च्, √ऋच्।[7] ग्रासमान – √ऋच् बोबू० २७७।

**ऋघायमाणः** < √ऋघाय + शानच्। √ऋघाय < नृ + √हन् + विच्, (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५) दृशिग्रहण के विध्यन्तर संग्राहक होने से नकार-लोप तथा हकार को घकार, नृन् = ऋन् हन्तीत्यृघा। अनृघा ऋघा भवति, अभूततद्भाव में क्यष् = ऋधा + क्यष् (लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्, पा० ३. १. १३), नकारलोप (०लोपश्च हलः. पा० ३. १. १२ की अनुवृत्तिकर) आत्मनेपद (वा क्यषः, पा० १. ३. ९०) √ऋघाय + शानच्, शानच्-शप् अनुदात्त, क्यष्-प्रत्ययस्वर, एकादेश उदात्त।[8] स्कन्द √ऋघा (वधार्थक)

---

१. सा० ऋ० ८. २४. २७।

२. निरु० ३. २० ऋक्षा उदीर्णानीव ख्यायन्ते।

३. देव० नि० ३. २९. ९।

४. दश० उ० वृ० ६. २५, श्वे० उ० वृ० ३. ६४, औ० प० ३. १९९।

५. सा० ऋ०, ऋग्मिभिः १. १००. ४।

६. सा० ऋ० १. ९. ९, ५१. १, ६२. १, द्र० नी० मं० पृ० ३३।

७. निरु० ७. २६—ऋग्मियमृगमन्तमिति वार्चनीयमिति वा पूजनीयमिति।

८. सा० ऋ० १. १०. ८, ६१. १३।

से व्युत्पन्न मानते हैं[1]। विश्वबन्धु ने स्वतन्त्र √ऋघ् से व्युत्पन्न माना है। क्षितीश चन्द्र चटर्जी के अनुसार भी कोई स्वतन्त्र √ऋघ् धातु थी, जिसका अर्थ संचलन, क्रोध से कम्पन तथा भाजन प्रतीत होता है।

(तु० अवे० भीषणार्थक ərəghant ग्रीक ɔrkneisthai = नर्तन(धातु का अर्थ) orkheih = संचालन = orkh-stər = नर्तक) √ऋघ + अङ् = ऋघा यह गुहा शब्द की भाँति आद्युदात्त (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३) है[2]।

**ऋचीषम**<(क) – ऋच् + सम, ईकारोपजन पृषोदरादि मानकर, मूर्धन्यादेश (सुषामादिषु च, पा० ८. ३. ९८) ऋचा समः, तृतीया समास में पूर्वपदप्रकृतिस्वर (तृतीया तत्कृत०, पा० २. १. ३०)।

(ख) – √ऋच् (स्तुतौ) + इ प्रत्यय (इगुपधात्कित्, उ० सू० ४. १२९) = ऋचि + ङीष्, स्त्रीप्रत्यय (कृदिकारादक्तिनः, वा० पा० ४. १. ४५) = ऋची ( = स्तुति) तया समः। इस पक्ष में तृतीया पूर्वपदप्रकृतिस्वर से ङीष् को उदात्त होना चाहिए। अतः स्वर चिन्त्य है, अथवा इसे दिवोदासादि समझना चाहिए।

(ग) ऋच् + √ईष् (गतिहिंसादर्शनेषु) + अम प्रत्यय[3]। सायण की पहली एवं दूसरी व्युत्पत्ति यास्क पर आधारित है[4]। देवराज० सायण की दूसरी व्युत्पत्ति से सहमत हैं[5]। ग्रासमान √अर्च् – वोबू० २७८। डा० सिद्धेश्वर वर्मा – ऋतीषह् के समान ऋचि<ऋच्, षम<सम स्वीकार करते हैं[6]।

तु० Arm, erg 'song', and Sam to IE Somo-s 'even' 'like' Av. hama 'like')

**ऋजिप्याः**<ऋजु + √प्याय् (ओप्यायी वृद्धौ) + क्विप्, यलोप – (लोपो व्योर्वलि, पा० ६. १. ६६) व्यत्यय से पूर्वपद के उकार को इकार, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[7]। गेल्डनर ने ऋज् तथा ग्रासमान ने √ऋज्ज् से व्युत्पन्न किया है[8]।

---

१. स्क० ऋ० १. १०. ८, ६१. १३।
२. द्र० मंजूषा, नवम्बर, १९५९ पृ० ८५. ८८।
३. सा० ऋ० १. ६१. १, ८. ९२. ९।
४. निरु० ६. २३—ऋचीषम ऋचासमः।
५. देव० नि० ४. ३. १०२।
६. एटि० यास्क पृ० ६२. १६४।
७. सा० ऋ० ३. ३१. १७।
८. ऋ० ग्ला० पृ० ३९, वोबू० पृ० २७५।

**ऋजिश्वानम्**<ऋजु + √अश् (व्याप्तौ), पृषोदरादि । ऋजु अश्नुते प्राप्नोतीति ऋजिश्वा[१] । ग्रासमान-ऋजि<√ऋञ्ज् वोबू० २७६ ।

**ऋजीषिन्**<(क)√अर्ज् (अर्जने) + ईषन् प्रत्यय तथा ऋज् अथवा ऋजि आदेश (अर्जेः कित् ऋज च, उ० सू० ४. २६), अर्ज्यते इति ऋजीषम् । ऋजीष + इनि, मत्वर्थीय, आमन्त्रित निघात ।

(ख)√ऋज् (गत्यर्थक)>ऋजीष (भावसाधनम्) + इनि प्रत्यय, मत्वर्थीय[२] । यास्क ने अप + √अर्ज् से निर्वचन किया है[३] । ग्रासमान√ऋञ्ज बोबू० २७६ ।

(तु० IE el 'todecay' With K-extension, swed, dial, Olka, to be nauseous)

**ऋजूयताम्**<√ऋजूय + शतृ + आम्, ष० ए० व०, विभक्ति को उदात्त (शतुरनुमो नद्यजादी, पा० ६, १. १७३)[४] ।

**ऋजूयवः**<ऋजु क्यच् प्रत्यय. उकार को दीर्घ (अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः, पा० ७. ४. २५) = ऋजूयु + उ (क्याच्छन्दसि, पा० ३. २. १७०) प्रत्ययस्वर[५] ।

यास्क ने ऋजु<√ऋञ्ज् (प्रसाधनकर्मा) से निर्वचन किया है[६] ग्रासमान भी √ऋञ्ज् से व्युत्पति देते हैं[७] ।

(तु० √ऋञ्ज्-IE reg 'to direct', lat.rego 'I direct-s.62)

**ऋज्रेभिः**<√ऋज् (गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु) + रन् प्रत्यय (ऋजेन्द्रा०, उ० सू० २. ३१), अर्ज्यते इति ऋज्रः । ऋज्र + भिस्, तृ० ब० व०, भिस् को ऐस् का अभाव छान्दस (बहुलं छन्दसि पा० ७. १. १०)[८] ।

**ऋञ्जसान**<√ऋञ्ज् (स्तुतिकर्मा-प्रसाधनकर्मा) + असानच् प्रत्यय कर्म में (ऋजिवृजिमन्दिसहिभ्यः कित्, उ० सू० २. ८७), अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[९] ।

---

१. सा० ऋ० १. ५१. ५ ।
२. सा० ऋ० २. ३४. १, ३. ३२. १, ६. ४२. २ ।
३. निरु० ५. १२—ऋजीषी सोमो. यत् सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तदृजीषमपार्जितं भवति. तेनर्जीषी ।
४. सा० ऋ० १. ८९- २ ।
५. सा० ऋ० १. २०. ४ ।
६. निरु० ६.२१ ऋञ्जतिः प्रासाधनकर्मा, ऋजुरित्यप्यस्य भवति ।
७. वोबू० पृ० २८०, तु० को० टर्नर पृ० ११७ ।
८. सा० ऋ० १. १००. १६, १७, ११७. १४ ।
९. सा० ऋ० १. ५८. ३, ६६. ३ ।

**ऋणयाः**<ऋण + √यु (मिश्रणामिश्रणयोः) + णिच् (३. १. २६) + क्विप् (पा० ३. २. ७६) णिलोपः, वलोप (लोपो व्योर्वलि, पा० ६. १. ६६)[१]। तै० सं० १. ५. २ में ऋणयात् की व्युत्पत्ति सायण ने ऋण + √या से दी है।

**ऋणयावः**<ऋण + √या (प्रापणे) + वनिप् (आतो मनिन्०, पा० ३. २. ७४)[२]।

**ऋणावानम्**<ऋण + वनिप प्रत्यय (छन्दसीवनिपौ०, वा० पा० ५. २. १०९)[३]।

**ऋतजाः**<ऋत् + √जन् विट्, आत्व (विड्वनोः ०, पा० ६. ४. ४१)[४]।

**ऋतजुरम्**<(क) – ऋ + √ज्वर् (रोगे) + क्विप्, वकार और उपधा के स्थान में ऊठ् आदेश (ज्वरत्वर०, पा० ६. ४. २०), छान्दस ह्रस्व।

(ख) – ऋत √जूर् (जूरी हिंसागत्योः) + क्विप्, छान्दस ह्रस्व[५]।

**ऋतपाः**<ऋत + √पा (रक्षणे) + विच्, ऋतं पाति रक्षति – इति ऋतपाः[६]।

**ऋतप्रवीतम्**<ऋत + प्र + √व्येञ् (संवरणे) + क्त प्रत्यय, कर्म में, सम्प्रसारण (वचिस्वपि०, पा० ६. १. १५), पूर्वपदप्रकृतिस्वर (तृतीया कर्मणि०, पा० ६. २. ४८)[७]।

**ऋतसापः**<ऋत + √सप् (षप् समवाये) + घञ् प्रत्यय, आद्युदात्त[८]।

**ऋतायते**<ऋत + क्यच् (सुप आत्मनः क्यच्, पा० ३. १. ८), ईत्व – दीर्घ का निषेध (न छन्दस्यपुत्रस्य०, पा० ७. ४. ३५)>ऋतय + शतृ + ङे, च० ए० (संहिता में ऋतय को दीर्घ>ऋताय, विभक्ति को उदात्त (शतुरनुमो नद्यजादी, पा० ६. १. १७३)[९] ऋत<√ऋ + क्त प्रत्यय (अञ्जिघृषिभ्यः क्तः, उ० सू० ३. ८९)[१०]। स्कन्द ने √ऋ 'गतौ' से व्युत्पन्न माना है[११]।

**ऋतावन्**<ऋत + वनिप् (छन्दसीवनिपौ०, वा० पा० ५. २. १०९) ऋत को दीर्घ (अन्येषामपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७), वनिप् के पित् होने से अनुदात्त

---

१. सा० ऋ० २. २३. ११।
२. " " १. ८७. ४।
३. " " १. १६६. ७।
४. " " ३. ५८. ८।
५. " " १० १४३.१।
६. " " १.११३.१२।
७. " " १.७०.४।
८. " " १०.६६.८।
९. " १.६०.६, ९१. ७।
१०. औ० प० ३.१४७।
११. स्क० ऋ० १.३४. १०, द्र० निरु० २. २५।

(अनुदात्तौ सुप्पितौ, पा० ३. १. ४)। ऋतावा – प्र० ए० व० उपधा दीर्घ (सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ, पा० ६. ४. ८)[1]।

**ऋतावरी**<ऋतावन् + ङीप् स्त्रीप्रत्यय तथा न् को रेफ (वनोरच, पा० ४. १. ७)। ऋतावरीः – ऋतावरी + जस् सम्बो० प्र० ब० व०, पूर्वसवर्णदीर्घ (वा छन्दसि पा० ६. १.१०६)। पद के आदि में होने से आद्युदात्त (आमन्त्रितस्य च, पा० ६. १. १९८)[2]।

**ऋतावृधः**<ऋत + √वृध् (वृद्धौ) + क्विप्, ऋतं वर्धयन्ति इति ऋता वृधः, उपपद-समास, पूर्वपद को दीर्घ (अन्येषामपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७) वृध् धातु स्वर से उदात्त, समास में धातु का स्वर ही शेष रहता है (गतिकारको० पा० ६. २. १३९)[3]।

**ऋतीषाहम्**<ऋति<√ऋ(गतौ) + क्तिच् प्रत्यय कर्ता में + √सह् (अभिभवे) + ण्वि (छन्दसि सहः, पा० ३. २. ६३), पूर्वपद को दीर्घ (अन्येषामपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७), मूर्धन्यादेश (सुषामादिषु च, पा० ८. ३. ९८)[4]।

**ऋतु** < √ऋ (गतौ) + कु प्रत्यय (औ०)[5]। ऋ० सं० में √ऋ से व्युत्पत्ति संकेतित प्रतीत होती है[6]। सायण की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। प्रत्यय अंश में वे भोज से प्रभावित हैं[7]। शाकटायन ने √ऋ + तु प्रत्यय से व्युत्पन्न माना है[8]।

(तु० √ऋ – IE are 'to arrange' Gr. ŏra, Irish rāthe N Irish rāithe Av. ratu).

**ऋतुपाः**<ऋतु + √पा + विच् (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५) ऋतून् पातीति ऋतुपा, समास (उपपदमतिङ्, पा० २. २. १९) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[9]।

**ऋतेजाः**<ऋत + √जन् (प्रादुर्भावे) + विट् (जनसनक्रमगमो विट्, पा० ३. २. ६७)। अनुनासिक को आत्व (विड्वनोरनुनासिकस्यात्, पा० ६. ४. ४१), ऋते

---

१ सा० ऋ० १.७७.१,१२२.९, २.२७.४, ३५.८,३.१३.२,१०.१४०.६, सा० अ० ६. ३६. १, ऋ० ग्ला० पृ० ४०।

२ ,, ,, १.१६०. १. ऋतावरीः ३.३३. ५, सा० अ० ३ १३. ७,६.३०.३।

३ ,, ,, वृधौ—१.२.८ २३.५. ०वृधः—१.१३.६, १४.७, ४४.१४, ०वृधा—१. ४३.१, १०६.३, द्र० वे० भा० सा० पृ० १५, ऋ० ग्ला० पृ० ४०।

४. ,, ,, १. ६४. १५. द्र० ऋ० ग्ला० पृ० ४०।

५. ,, ,, ऋतून् १. ४६. ३।

६. ऋ० सं० १. ४९. ३, द्र० निरु० २. २५, ऋतुरर्तेर्गतिकर्मणः।

७. सरस्व० रिभिप्रथ्योः प्रसारणं च—२. १. २८, द्र० द० ना० वृ० वही।

८. उ० सू० १. ६८. अर्तेश्चतुः।

९. सा० ऋ० ३. २०. ४।

निमित्तभूते जायते इति ऋतेजाः। सप्तमी का अलुक् (तत्पुरुषे कृति बहुलम् पा० ६. १. १४)[१]।

**ऋत्विक्** <ऋतु + √यज् + क्विन् प्रत्यय (ऋत्विक्०, पा० ३. २. ५९) सम्प्रसारण (वचिस्वपि, पा० ६. १. १५) कुत्व, ऋतौ यजतीति ऋत्विक्, कृदुत्तरपद-प्रकृतिस्वर से अन्तोदात्त, (गतिकारकोपपदात्कृत्, पा० ६. २. १३९)[२]। ऋ० सं० में ऋत्विक् ऋतु + √यज् का समास प्रतीत होता है[३]। जै० ब्रा०[४] में ऋत्विय + जन् तथा ता० म० ब्रा०[५] में ऋत्व से निर्वचन किया गया है। पर गो० ब्रा० में ऋतु (<√ऋ) + इज<√यज् (पूजा) से निर्वचन मिलता है[६]। यास्क – √ईर्, ऋच् + √यज्, ऋतु + √यज्[७]।

**ऋत्वियः**<ऋतु + घस् प्रत्यय ( छन्दसि घस्, पा० ५. १. १०५ ) घ को इयादेश (आयनेयी०, पा० ७. १. २)। ऋतौ जातः ऋत्वियः, प्रत्ययस्वर[८]।

**ऋदूदरः**<सायण ने यास्क का निर्वचन प्रस्तुत किया है[९]। यास्क ने ऋदु (<√मृदु) + उदर से निर्वचन किया है[१०]। गेल्डनर ऋदु + उदर से तथा ग्रासमान ऋदु(<√अर्द) + √दृ से व्युत्पन्न मानते हैं[११]।

**ऋबीसे** – पृषोदरादि[१२]। यास्क ने इसका निर्वचन अपगत + भास। अपचित + भास, अपहृत + भास तथा गत + भास से किया है।

**ऋभु** <१ – उरु + √भा (दीप्तौ)
२ – उरु + √भू (सत्तायाम्)

---

१. सा० ऋ० १. ११३. १२।

२. ,, ,, १. १. १, द्र० वे० भा० सा० पृ० १०, वा० म० सि० कौ० ऋत्विक्० पा० ३. २. ५९।

३. ऋ० सं० १०. २. १, ५, ७-६. ११. १, ६८. ४।

४. जै० उ० ब्रा० ३. १—यद् ऋत्वियाद् अजन्यत तस्माद् ऋत्विज इत्याख्यायन्ते।

५. ता० म० ब्रा० १०. ३. १—स (प्रजापतिः) आत्मन्नृत्वम् अपश्यत्ततः ऋत्विजोऽसृजत यद् ऋत्वादसृजत तदृत्विजामृत्विक्त्वम्। तथा द्र० वहीं सा० भा०—ऋत्वम् = ऋतौ ऋतुकाले भवं गर्भस्य कारणं बीजम्।

६. गो० ब्रा० २. ६. १०।

७. निरु० ३. १९—ऋत्विक् कस्मात्? ईरणः, ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः, ऋतुयाजी भवतीति वा।

८. सा० ऋ० १. १३५. ३, ३. २९. १०, ४१. २, ९. ७२. ४, १०. १७९. १, द्र० सा० अ० ३. २०. १, ७. ७५. १, २०. २३. २।

९. ,, ,, २. ३३. ५।

१०. निरु० ६. ४—ऋदूदरो मृदूदरः। द्र० स्क० निरु० २. १. २, ६. ४।

११. ऋ० ग्ला० पृ० ४०, वोबु० पृ० २८९।

१२. सा० ऋ० सं० १. ११६. ८।

३ – ऋत + √भा

४ – ऋत + √भू, सर्वत्र 'कु' प्रत्यय तथा पूर्वपद को ऋभाव निपातित (मृगय्वादयश्च, उ० सु० १. ३७), भा के आकार का लोप (आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४)। उरु विस्तीर्णं भाति, ऋतेन यज्ञेन भाति भवतीति वा ऋभुः[१]। सायण की व्युत्पत्ति सम्भवतः यास्क पर आधारित है। यास्क ने उरु + √भा, ऋत + √भा, ऋत + √भू – तीन निर्वचन दिए हैं[२]। ग्रासमान √रभ् वोबू० २९०। ऋभ्वा < ऋभु + टा (तृ० ए०), यणादेश[३]।

**ऋभुक्षाः** < (क) – ऋभु + क्ष < √क्षि (ऐश्वर्यकर्मा) + इनि प्रत्यय बाहुलक (पतेस्थ च, उ० सू० ४.१२)। टिलोप, = ऋभुक्षिन्।

(ख) – √ऋ + भुक्षिनक् प्रत्यय (अर्तेर्भुक्षिनक्, उ० सू० ४. १३, औ० प० ४. ६५) कित्वाद् गुण का अभाव। सम्भवतः इसीलिए शाकल्य ने पदपाठ में अवग्रह नहीं किया है। उरु भासमाने स्थाने क्षियति निवसतीति ऋभुक्षाः, अथवा ऋभूणां यः क्षयति राजति इष्टे स ऋभुक्षाः[४]। यास्क ने ऋभु + √क्षि तथा उरु + √क्षि से निर्वचन किया है[५]। भट्टोजि दीक्षित ने – अभु + √क्षि + ड प्रत्यय (अन्येभ्योऽपि दृश्यते ?) = ऋभुक्ष + इनि, ऋभवः देवाः, क्षयन्त्यस्मिन्निति ऋभुक्षः (स्वर्गवज्रयोरिति विश्वः)[६]। ग्रासमान ऋभु + √क्षि बोबू० २९१। निष्कर्ष यह कि सायण की पहली व्युत्पत्ति में अन्तोदात्त करना उचित है, अवग्रहाभाव बाहुलक, द्वितीय में अवग्रह का अभाव उचित है, अन्तोदात्त बाहुलक।

(तु० √क्षि IE, gthό to acquire authority, Gr. Ktàoma 'I acquire! I possess)

**ऋभ्वसम्** < सायण ने इसे पृषोदरादि माना है तथा उरुभासम् को ऋभ्वस् आदेश से व्युत्पन्न किया है[७]। ग्रासमान इसे ऋभु (< √रभ्) वोबू० २९१।

---

१. सा० ऋ० १.२०.४, द्र० १.६३.३,१११.२,४,१६७.१०, वे० ऋ० ९.२१.४, देव० नि० पृ० ३.३.१०।

२. निरु० ११. १५ – ऋभव उरुभान्तीति वर्त्तेन भान्तीति वर्त्तेन भवन्तीति वा। द्र० वहीं स्क० उरुशब्दात् ऋकारो रेफोऽज्भक्तिश्च। भातेराकारलोपः। ऋतेन सह आविर्भवन्तीति वा।

३. सा० ऋ० १.१२१.९।

४. „ „ १.६३.३,१११.४, १६७,१०, द्र० देव० नि० ३. ३.१०।

५. निरु० ९.३ उरुक्षयणः, ऋभूणां राजेति वादु द्र० वहीं दुर्ग उरौ अन्तरिक्षे क्षियति निवसति। अथवा क्षियतिरैश्वर्यार्थः। कस्य ईष्टे ? ऋभूणां देवानां राजा-एवम् ऋभुशब्दात् पूर्वपदम्, क्षियतेरैश्वर्यकर्मणः उत्तरपदम्। तथा द्र० वहीं स्क०।

६. प्रौ० म० उ० सू० अर्तेर्भुक्षिनक्, द्र० वहीं त० बो०।

७. सा० ऋ० १.५६.१।

**ऋषि** < √ऋष् (गतौ) + इन् प्रत्यय (इन् सर्वधातुभ्यः, उ० सू० ४. १२६ अथवा इगुपधात् कित्, उ० सू० ४. १२९) लघूपधगुण (पा० ७. ३. ८६) का अभाव (ऋष्यन्धक०, पा० ४. १. ११४) अथवा कित् मानकर निपातन से (उ० सू० ४. ५५९)[1] आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)। 'वेद' में √ऋष का प्रयोग सामान्यतः गति अर्थ में है[2]। तै० आ० में अभि + आ + √ऋष् निर्वचन मिलता है[3]। श० ब्रा० में ऋषि का निर्वचन √ऋष् (गतौ) से किया गया है[4]। यास्क – √दृश्, √ऋष् (औपमन्यव)[5]। ग्रासमान – √ऋष् वोबू० २९२। एल० एच्० ग्रे इसे रस (ध्वनि, आवाज, रसना, रसितृ) से सम्बद्ध मानते हैं (तु० भारोपीय रेसे)। वेद का श्रुति नाम होना भी इस सम्भावना को पुष्ट करता है[6]। ओल्डेन वर्ग ने ऋषि का सम्बन्ध अवे० oeresy ऐरेस्य (Right doieg) से जोड़ा है। तारापुरवाला के अनुसार √ऋष् ( = सत्य, औचित्य) से व्युत्पन्न है। राजवाडे (नि० ३४८) के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति असम्भव है। राहुकर ग्रे की व्युत्पत्ति को काव्य एवं मन्त्र द्रष्टा ऋषि की दृष्टि से संगत मानते हैं[7]। डा० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार ऋषि का यथाशब्द अर्थ आह्लादित है[8]।

(तु० IE ers, eras-to flow, Lat. erszus, violent, Gr. ársēn, male, Av. ǝ̌rsan, man.)

**ऋषिद्विषे** – < ऋषि + √द्विष् + क्विप् (सत्सूद्विष०, पा० ३. २.६१) ऋषीन् द्वेष्टीति ऋषिद्विट्, तस्मै[9]।

**ऋषूणाम्** < ऋष् (गतौ) + कु प्रत्यय (औ०) स० व० में विभक्ति को उदात्त (नामन्यतरस्याम्, पा० ६. १. १७७)[10]। ग्रासमान √अर्ष्. वोबू० २९३।

---

१. सा० ऋ० १.१.२ १०,११, द्र० वे० भा० सा० पृ० ११।
२. तु० वा० पु० ५९—८० ऋषित्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ।
३. तै० आ० २. ९—अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंम्भ्वभ्यानर्षत् तदृषयोऽभवन्।
४. श० ब्रा० ६ १.१.१—ते यत् पुरास्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्माद् ऋषयः।
५. निरु० २.११ ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्श ईत्यौपमन्यवः।
६. लैंगवेज-२५, ३७५-७८।
७. सिअर्स आफ द ऋग्वेद की भूमिका पृ० १५।
८. एटि० यास्क ५५।
९. सा० ऋ० १.३९.१०।
१०. ,, ,, १.१२७.१०।

**ऋष्वः**<√ऋष् (गतौ)+व प्रत्यय निपातित (सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिवपद्वप्रह्वेषा अतन्त्रे, उ० सू० १. १३६)। ऋष्टि गच्छन्तीति ऋष्वः। प्रत्यय स्वर[1]। ग्रासमान अर्ष् (वोबू २६४ जैसे√ वृध् से उर्ध्व) ऋष्वासः<ऋष+जस् (प्र० व०) असुक् का आगम (आज्जसेरसुक्, पा० ७. १. ५०)[2]।

## ए

**एक**<√इ (गतौ)+कन् प्रत्यय (इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन्, उ० सू० ३. ४३) बाहुलक से कलोप का अभाव, (ईयते संख्यायत इति एकः संख्यावाची) नित्स्वर (पा० ६. १. १९७)[3]।

(तु० IE oi 'one', Gr. oine 'one' Av. aiva, O pers, aiva (Buck p. 937) Lat. unus, Ang. sax. an (an) English—one)

**एकादश** <एक + दशन्, एकं च दश चैकादश। निपातन से पूर्व पद को दीर्घ (प्रागैकादशभ्यः०, पा० ५. ३. ४९) पूर्वपदप्रकृतिस्वर (संख्या, पा० ६. २. ३५)[4]।

**एतग्वा**<एत+ग्वा, एत्<√इ (गतौ)+तन् प्रत्यय कर्म में (हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधूर्विस्तन्, उ० सू० ३. ८२)

एतीति एतः। ग्वा<√गम्+ड्व प्रत्यय भाव में (औ०) इण्शीभ्यां वन, उ० सू० १. १३८) एतमेतव्यं प्रति ग्वो गमनं येषां ते एतग्वाः, बहुव्रीहि में पूर्वपद प्रकृति-स्वर। देवराज० —

(क) एत (√इ)+√गम्+वन् टिलोप।

(ख) एत (शुक्लपर्याय)+√गम्+क्विप् अनुनासिक लोप (गमःक्वौ, पा० ६. ४. ४०) तथा उकार अन्तादेश (ऊञ् च गमादीनाम्, वा० पा० ६. ४. ४०) आगमनम् आगूः, धातु तथा उपसर्ग का स्थान विपर्यय।

(ग) एत+व (अन्येभ्योऽपि दृश्यते, वा० पा० ५. २. १०९) तथा गकार उपजन[5]।

**एतवे** <√इ (गतौ)+तवेन् प्रत्यय (तुमर्थे सेसेन्०, पा० ३. ४. ९)[6]।

---

१. सा० ऋ० १.६४.२,१४६.२,३.३२.७, तु० देव नि० ३.३.३।
२. ,, ,, १.६४.२।
३. ,, ,, ९. ७.९,२०.७. ९३.४,३.१२.६, द्र० निरु० ३.१० एक इता संख्या।
४. ,, ,, १.१३९.११।
५. देव० नि० १.१४.९।
६. सा० ऋ० १. ४६. ११, ११२. ८।

**एतवै** <√इ (गतौ) + तवै प्रत्यय तुमर्थ में (पा० ३. ४. ९), धातु तथा प्रत्यय को युगपत् उदात्त (तवैश्चान्तश्च युगपत्, पा० ६. २. ५१)[1]।

**एतशम्** < √इ (गतौ) + तशन् प्रत्यय (इणस्तशंसस्तशुनौ, उ० सू० ३. १४३), गुण = एतश, एति गच्छतीति एतशः[2]। देवराज० – √इ + तशन्, एत् + शस् (पा० ६. २. ४९ लोमादित्वात्) अथवा पृषोदरादि मानते हैं[3]। पेरुसूरि के अनुसार एतश तथा एतशस् – दोनों ही ब्राह्मण वाचक हैं (औ० पृ० ३. ४. १०)।

**एता** < आ + √इ (गतौ) + क्त प्रत्यय, कर्म में, गतिस्वर (गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४९)। एत + औ (प्र० द्वि०), विभक्ति को आकार = एता[4]। शाकल्य को आ + इता अभीष्ट है[5]।

**एति** <आ + √इ (गतौ) + क्तिन् प्रत्यय, भाव में, गति स्वर (तादौ च निति०, पा० ६. २. ५०)[6]।

**एधतुम्** < √एध् (वृद्धौ) + चतु प्रत्यय (एधिवह्योश्चतुः, उ० सू० १. ७५) अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[7]।

**एनी** < एत + ङीप् (वर्णादनुदात्तात्०, पा० ४. १. ३९) तथा तकार को नकार। आद्युदात्त (वर्णानां तणतिनितान्तानाम्, फि० ३३)[8]।

**एमन्**< √इ (गतौ) + मनिन् प्रत्यय (औ०), आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)[9]।

**एव** < √इण (गतौ) + वन् प्रत्यय भाव में (इण्शीङ्भ्यां वन्, उ० सू० १. १३८), आर्धधातुक लक्षण गुण, यन्ति स्तोतव्याभिमुखेन गच्छन्ति इति एवानि स्तोत्राणि। आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[10]।

**एवयावः**<एव + √या (प्रापणे) + वनिप् (आतो मनिन्० पा० ३. २. ७४) = एवयावन् + सु (सं० ए० व०), अन्त्य नकार को र् (वन उपसंख्यानम्, वा० पा० ८. ३. १)[11]।

---

१. सा० ऋ० १०. १०८. ६।
२. ,, ,, १. ५४. ६।
३. दे० नि० १. १४. १०, द्र० वोबू (<एत) २९९।
४. सा० ऋ० ३. ३९. ३।
५. द्र० पदपाठ ऋ० वही।
६. सा० ऋ० एतौ—१०. १७८. २।
७. सा० ऋ० ८. ८६ ३।
८. ,, ,, १. १४४. ६, द्र० सि० कौ०, "वर्णादनुदात्तात्०", पा० ४. १. ३९, वोबू० ३०१।
९. ,, ,, १. ५८. ४, द्र० ऋ० ग्ला० पृ० ४२, वोबू० ३०१।
१०. ,, ,, एवैः १. ६२. ८, ६८. २, ९५. ६, १००. २, ११७. १४, ३. ३३. ५।
११. ,, ,, १. ९०. ५।

**एहिमायः**<एहि + माया, आ + √इह् (चेष्टायाम्) + इन् प्रत्यय (इन्सर्वधातुभ्यः, उ० सू० ४. १२६), आद्युदात्त, आ समन्ताद् ईहते इति एहिः, एहिः माया प्रज्ञा येषामिति, बहु० में पूर्वपदप्रकृति स्वर। एहिमायासः – एहिमाय + जस (प्र० ब०), असुक् का आगम। अथवा आ + इहि (लोट् म० पु० ए० व०), निघात (तिङ्ङतिङः, पा० ८. १. २८) एकार उदात्त (एकादेश उदात्तेनोदात्तः, पा० ८. २. ५), तथा 'मा यासीः' इससे अक्षरद्वय (मा, या) लेकर शब्द 'एहिमाया' बनता है। एहि इत्येतत् पदयुक्तं 'मा यासीः' इत्यत्र 'माया' इत्यक्षरद्वयं येषां त एहिमायासः। पूर्वपदप्रकृतिस्वर[1]। गेल्डनर एहि + मा + या (ऋ० ग्ला० ४२)।

## ओ

**ओकस्**<√उच् (समवाये) + असुन् प्रत्यय (औ०), बाहुलक कुत्व (का० ७. ३. ६४)। आद्युदात्त (नब्विषयस्यानिसन्तस्य, फि० २६)[2]।

**ओक्य**<(क)—√उच् + ण्यत् प्रत्यय (ऋहलोर्ण्यत्, पा० ३. १. १२४) कुत्व (चजोः कु घिण्ण्यतोः, पा० ७. ३. ५२), तित्स्वरित।

(ख)—ओक + यत्, स्वार्थ में[3]। स्कन्द ने यत् प्रत्यय स्वीकार किया है[4]। ग्रासमान भी ओक से ही व्युत्पन्न मानते हैं, (वोबू० ३०४)।

**ओजस्**<√उब्ज् (आर्जवे) + असुन् प्रत्यय तथा बलोप (उब्जेर्बलेबलोपश्च, उ० सू० ४. १९७), गुण – आर्धधातुक लक्षण, उब्जतीति ओजः। आद्युदात्त पा० ६. १. १९७)[5]। यास्क – √ओज्, √उब्ज्[6]। भोज – √उष् (दाहे) + असुन्, तथा ज का आगम (उषेर्जश्च, सरस्व० २. १. ३२६)। ग्रासमान – √उज् ( = √वज्) से व्युत्पन्न मानते हैं[7]। खोंदा के अनुसार इसका अर्थ सृजनात्मक शक्ति अथवा अपारशक्ति है, तथा इस रूप में इसे लैटिन ओगोस् (augos) से सम्बद्ध माना जा सकता है[8]।

---

१. सा० ऋ० १. ३. ९।
२. ,, ,, १. ४०. ५, द्र० ऋग्ला० पृ० ४२, वोबू० ३०४।
३. ,, ,, १. ९१. १३, १३२. ५, ३. ४२. ८।
४. स्क० ऋ० १. ९१. १३।
५. सा० ऋ० १. ७. ८, ९. १, ११. ८, १९. ४, ३. २६. ६, द्र० सा० अ० २. १७, १, ३. १९. २, दे० नि० १. १२. ४३, मा० धा० तु० २३, क्षीर० तु० २४।
६. निरु० ६. ८ – ओज ओजतेर्वा। द्र० दुर्ग वहीं – √उज् वृद्धौ। तथा स्क० √ओज् (सामर्थ्यकर्मा)।
७. वोबू० पृ० ३०४, द्र० तु० को० टर्नर (√वज्) पृ० १२४।
८. Ancient Indian ojas, Latin augos and the Indo. European nouns in es/os, N.V.A. Costhoek's uit mij, utrecht 1952, 83।

( तु० Av. aojah, aoqh, Lat. auqustus ).

**ओजिष्ठ**<ओजस् + विनि ( अस्मायामेधा०, पा० ५. २. १२१ )। ओजोऽस्यास्तीति ओजस्वी। ओजस्विन् + इष्ठन् (आतिशायनिक) विन् का लुक् (विन्मतोर्लुक्, पा० ५. ३. ६५ ), टिलोप ( टेः, पा० ६. ४. १४३ ), आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[1]

**ओजीयः**<ओजस् + विनि + ईयसुन् (आतिशायनिक), टिलोप[2]।

**ओणिम्**<√ओण् (ओणृ अपनयने) + इ प्रत्यय (औ० अथवा इन्–उ० सू० ४. ११४)[3]। अन्यत्र सायण ने – √अव् + नि प्रत्यय (औ०), ऊठादेश (ज्वरत्वर०, पा० ६. ४. २०) गुण, छान्दस णत्व, व्युत्पत्ति दी है[4]। ग्रासमान√अव्, वोबू० पृ० ३०५।

**ओदती** < √उन्द् (क्लेदने) + शतृ + ङीप् स्त्रीप्रत्यय, उनत्ति सर्वं नीहारेण इति ओदती। धातुस्वर से आद्युदात्त[5]।

**ओमन्** (क)—< √अव् + मन् (अविसिविसिशुषिभ्यः कित्, उ० सू० १. १३०), ऊठ् आदेश (पा० ६. ४. २०)[6]।

(ख)—√अव् + मनिन् (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५)[7]।

( तु० अवे अओमेन (aomen – helping)

**ओमात्रा**<√अम् (गत्यादिषु) + आत्रन् प्रत्यय, छान्दस उमादेश[8]। ग्रासमान ओमन् से व्युत्पन्न मानते हैं – वोबू पृ० ३०६।

**ओम्यावत्**<ओमन् (मनिनन्त) + य प्रत्यय अर्ह अर्थ में (छन्दसि च, पा० ५.१.६७), टिलोप (नस्तद्धिते, पा० ६.४.१४४)। स्त्री० ओम्या, ओम्या + मतुप् ओम्यावन्तम्<ओम्यावत् + अम्, द्वि० ए०[9]।

---

१. सा० ऋ० १. ३३. ११, ५. १०. १, ८. ४. १०।
२. ,, ,, २. ३३. १०, १०. १२०. ४।
३. ,, ,, १. ६१. १४, द्र० देव० नि० ३. ३०. १५।
४. सा० अ० ओण्योः ७. १५. १, द्र० देव० नि० वही।
५. सा० ऋ० १. ४८. ६, द्र० देव० नि० १. ८. ४।
६. ,, ,, ओमासः १. ३ ७, द्र० स्क० ऋ० वही। देव० नि० ४. ३. ४१, वोबू० पृ० ३०६।
७. ,, ,, ओमानम् – १. ३४. ६, ११८. ७।
८. ,, ,, ओमात्राम् १०. ५०. ५।
९. ,, ,, १.११२. ७।

**ओषधि**<ओष + धि, ओष<√उष् (दाहे) + घञ् = प्रत्यय भाव में आद्युदात्त = ओष + √धा (धारणपोषणयोः) + कि प्रत्यय (कर्मण्यधिकरणे च, पा० ३.३.९३) पूर्वपदप्रकृतिस्वर (दासीभारादि) ओषः पाकः आसु धीयते इति ओषधयः ।

**ओषधीः**<ओषधि + ङीष् (कृदिकारादक्तिनः,) = ओषधी + जस्, प्र० ब०, पूर्वसवर्ण-दीर्घ[1] । श० ब्रा० में √उष् (दाहे) + धी (√धेट पाने) से निर्वचन मिलता है[2] । यास्क ने ओषत् + √धे (पाने) दोष + √धे, से निर्वचन किया है[3] ।

(तु० √उष् IE us – to burn, Lat. ustus, 'burnt)

**ओहम्**<(क) – √वह् + घञ् कर्म में, छान्दस सम्प्रसारण ।

(ख) – √ऊहिर् (अदने) + घञ्[4] ।

ग्रासमान √ऊह् से व्युत्पन्न मानते हैं, वोबू० पृ० ३०६ ।

## औ

**औचथ्य**<उचथ्य + अण् (तस्यापत्यम्, पा० ४.१.९२) उचथ्यस्य पुत्रो, दीर्घतमा[5] । (उचथ्य<उचथ + यत्), जो स्तुति के योग्य है, उचथमर्हति इति उचथ्यः । स्वरित (तित्स्वरितम् पा० ६.१.१८५) ।

**और्णवाभम्**<ऊर्णवाभि (= कीटविशेष) + अण् प्रत्यय । अथवा और्ण (= ऊर्णनाभिः) + आभ, और्णः ऊर्णनाभिः तदायं तत् सदृशमित्यर्थः[6] ।

**औशिज**<उशिज् + अण् प्रत्यय (तस्यापत्यम्, पा० ४.१.९२) आदिवृद्धि, उशिजः पुत्रः औशिजः कक्षीवान् । प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त । उशिज्<√विश् (कान्तौ) + इजि प्रत्यय (उ० सू० २.७२, दश० ४.६) प्रत्यय के कित् विधान होने से सम्प्रसारण, (ग्रहिज्यावयि०, पा० ६.१.१६) उश्यते इति उशिक्[7] । सायण ने औशिज का अर्थ यजमान भी किया है—उशिजः कामयमाना ऋत्विजः, तेषां संबन्धी औशिजो यजमानः[8] ।

---

१. सा० ऋ० १. ९०.६, ओषधीषु १.५९.३,९१.४,१०८.११,३.२२.२, ८.९.५, द्र० सा० अ० २.२७.२, ६.१५.१, ९५.३ ।
२. श० ब्रा० २.२.४.५-ओषं धयेति तत ओषधयः समभवंस्तस्मादोषधयो नाम ।
३. निरु० ९.२७—ओषधय ओषद् धयन्तीति वा, ओषत्येनाधयन्ति, इति वा दोषं धयन्तीति वा । द्र० देव० नि० ५.३.२२ ।
४. सा० ऋ० १.६१.१, द्र० सा० अ० ३०.३५.१ ।
५. ,, ,, १.१५८.१,४ ।
६. ,, ,, २.११.१८ ।
७. ,, ,, १.१८.१,१.११९.९,११२.११,१२ .४,१०.९९.११, द्र० निरु० ६.१० ।
८. ,, ,, ४.२१.६-७ ।

# तृतीय अध्याय

# क

क < √कै (शब्दे) + क – प्रत्यय बाहुलक, कायतीति कः[1]।

**ककुभ** – सायण ने इसे पृषोदरादि माना है[2]। ब्राह्मण के अनुसार ककुप् < √कुज् (कौटिल्यार्थ) अथवा √उब्ज (न्यग्भाव) से व्युत्पन्न है[3]। यास्क ब्राह्मण के निर्वचन से सहमत हैं[4]। देवराज० के अनुसार क्षीरस्वामी के मत में √ककुभ् से तथा माधव के मत में √कुभ् (उच्छ्रय – आश्रित) से व्युत्पन्न है[5]। भोज – क (ब्रह्म) + √स्तभ् अथवा √कक् + उभ् व्युत्पत्ति देते हैं[6]। नागेश – क + √स्कुभ् + क्विप्, पृषोदरादि मानकर सलोप = कुकुभ्, व्युत्पत्ति देते हैं[7]।

(तु० IE Kamp 'to bend' Gr. Kamára, OHG chuppa MHG Kupte, Lith. Kumpas, Lett. Kumpt.)

**ककुह्** < ककुप्, छान्दस हकार = ककुह्। ककुहासः < ककुह् + जस् (प्र० बहु०), असुक् का आगम (आज्जसेरसुक्, पा० ७. १. ५०)[8]। देवराज० √कक् (सहने) + उह प्रत्यय (ककेरुहः) व्युत्पन्न करते हैं तथा उनके अनुसार स्कन्दस्वामी इसे महन्नाम मानते हैं[9]।

**कक्षीवत्** < कक्ष्या + मतुप् (आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवत्० पा० ८. २. १२) मतुप् के मकार को वकार (छन्दसीरः, पा० ८. २. १५)। कक्ष्या < कक्ष् + यत् प्रत्यय (भवे छन्दसि, पा० ४. ४. ११०) कक्षे भवा कक्ष्या अश्वोदर – संबन्धिनी रज्जुः। यास्क के अनुसार कक्ष्या अश्वबन्धन के काम में आने

१. सा० ऋ० १. ८८. २।
२. ,, ,, ३. ५४. १४।
३. देव ब्रा० ३. ६ – 'ककुप् च कुब्जश्च कुजतर् वोब्जतर् वा'।
४. निरु० ७. १२ ककुप् ककुभिनी, ककुप् कुजतेर्वा कौटिल्यार्थस्य, उब्जतेर्वा न्यग्भावस्य, नतं हि तद् भवति।
५. देव० नि० १. ६. ७।
६. सरस्व० २. १. २९९, २. २. २३८।
७. वृ० श० शे० पृ० २०९२।
८. सा० ऋ० १. ४६. ३।
९. देव० नि० ३. ३. १९।

वाली रस्सी है। तथा कक्षीवान् = कक्ष्यावान् (निरु० ६. १०) = कक्ष्यावत्, निपातन से सम्प्रसारण = कक्षीवत्, ईकार उदात्त, मतुप् उदात्त[१]। यह एक ऋषि का नाम है।

( तु० IE qagh – pen, fold, Ang. sax, haga, hedge, Eng. hedge).

**कक्ष्यप्रा** <कक्ष्य + √प्रा ( पूरणे ) + क प्रत्यय (आतोऽनुपसर्गे कः, पा० ३. २. ३) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर से अन्तोदात्त। कक्षयोर्भवं कक्ष्यं सूत्रं तत् प्रातः पूरयतः पुष्टत्वादिति कक्ष्यप्रौ। प्र० द्वि० में विभक्ति को डादेश[२]।

**कङ्कत** < √तक् (गत्यर्थक) धातु वर्णव्यत्यय से √कत् + सरन् प्रत्यय[३]। भोज – √कङ्क + अतच् (भृदृशिवलियजादिभ्योऽतच्, सरस्व० २. २. १३५)। (तु० अवे० कम्म् Kamm)।

**कण्व** < √कण् (शब्दार्थ) + क्वन् प्रत्यय (अशिपुषि०, उ० १. १३७) आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७) कणन्ति ध्वनन्ति स्तोत्रादिपाठेन कण्वा ऋत्विजः। कण्वासः <कण्व + जस्, प्र० ब०, असुक् का आगम[४]।

**कत्** < = कदा ( = कथम्), आकार लोप छान्दस (द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ, का० ६. ३. १०९)। अथवा 'क्व' का वर्ण व्यापत्ति से कत् रूप[५]।

**कधप्रिय** < कथा + प्रिय, कथा< √कथ (वाक्य प्रबन्धे) + णि + अङ् प्रत्यय भाव में (चिन्तिपूजि०, पा० ३. ३. १०५), णिलोप, = कथ, कथ + टाप् = कथा, षष्ठी समास में पूर्वपद को ह्रस्व ( ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्, पा० ६. ३. ६३), थकार को धकार छान्दस = कधप्रिय, स्त्री० कधप्रिया, सम्बो० कधप्रिये, आमन्त्रित अनुदात्त[६]।

**कधप्री** < कध + √प्री (प्रीतौ) + क्विप् प्रत्यय, = कधप्री, कधप्रियः <कधप्री + जस्, प्र० ब० – कथा स्तुतिः तया प्रीणन्ति इति कधप्रियः[७]। स्कन्द कध + √प्री (तर्पणे) तथा कध<कम् + √धा से व्युत्पन्न करते हैं – कम् उदकं

---

१. सा० ऋ० कक्षीवते १. ५१. १३, ११६. ७, ०वन्तम्० १. १८, १, ११२. ११, ४. २९. ५, १०. १४३. १।

२. ,, ,, १. १०. ३।

३. ,, ,, १. १९१. १।

४. ,, ,, कण्वाः १. १४. २, ४६. ४, कण्वासः १. १४. ५, कण्वतमः १०. ११५. ५, द्र० देव० नि० ३. १५. ७, क्षीर० स्वा० ३०२।

५. ,, ,, १. ३८. १, ४३. १, १०५. १, १२१. १।

६. ,, ,, १. ३०. २०।

७. ,, ,, १. ३८. १, ८. ७. ३१।

दधाति धारयतीति कधो मेघः, स प्रीः प्रियो येषां ते कधप्रियः। अथवा कध आदित्यः[१]।

**कनी** < √कन् (कान्तिकर्मा) + इञ् >कनि + ङीष्, स्त्री प्रत्यय, (कृदिकारादक्तिनः) = कनी। कनीनाम्, कनी + आम्, ष० ब०। सायण ने कनीनाम् की व्युत्पत्ति, कनी के साथ कन्या + आम्, कन्या शब्द को छान्दस सम्प्रसारण, भी दी है[२]। ग्रासमान – कनीन शब्द स्वीकार करते हैं। (वोबू ३१२)। पाणिनि कनीन शब्द मानते हैं (कन्यायाः कनीन च, पा० ४. १. ११६)। सम्भवतः पाणिनि के समय तक कनीना और कनीन् शब्द क्लासिकल संस्कृत में लुप्त हो गए थे। इसीलिए कन्या के लिए कनीन आदेश किया। वे जानते थे कि कनीना का प्रयोग कन्या के लिए होता था।

( तु० Gr. Kanapose, Ang. sax. hana, Lat. canus, caneo, candeo, Hib, canu (fool moon) )

**कनीन** <(क)—युवन् + इष्ठन् प्रत्यय, युव् को कन् आदेश (युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्, पा० ५. ३. ६४), व्यत्यय से इष्ठन् को 'ख' आदेश, ख>ईन् (आयनेयी० पा० ७. २. १)।

(ख)—√कन् (दीप्तिकान्तिगतिषु) + ईन् (औ०), प्र० ए० >कनीनः[३]। स्कन्द ने √कन् (कान्तिकर्मा, तु० नि० २. ६) + ख प्रत्यय स्वार्थ में छान्दस, कनतीति कनः कामयिता, कन एव कनीनः – व्युत्पत्ति दी है[४]। ग्रासमान भी √कन् से ही व्युत्पन्न मानते हैं[५]।

( तु० Gr. Kalvòs कल्वोस् new )

**कनीनका**<कनीनक का स्त्री०। सायण ने यास्क का निर्वचन उद्धृत कर दिया है[६]। यास्क ने कनीनका की व्याख्या कन्यका से की है, तथा कन्यका<कन्या से। उनके अनुसार कन्या< √कम्, क्व + √नी, √कम् + √नी तथा √कन् से निरुक्त है[७]। भोज – √कन् + ईनक् (सरस्व० २. २. ३६)। ग्रासमान इसे कनीन (< √कन्) से व्युत्पन्न मानते हैं[८]।

---

१. स्क० ऋ० १. ३८. १।

२. सा० ऋ० १. ६६. ७-८, ११६. १०, १५२. ४।

३. ,, ,, ३. ११७. १८।

४. स्क० ऋ० वही।

५. वोबू० पृ० ३१२।

६. सा० ऋ० ४. ३२. २३।

७. निरु० ४. १५ कनीनके कन्यके। कन्या कमनीया भवति क्वेयं नेतव्येति वा कमनेनानीयत इति वा कनतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः।

८. वोबू० पृ० ३१२।

**कपोत** < √कब् + ओतच् प्रत्यय, तथा बकार को पकार (कबेरोतच् पश्च, उ० सू० १. ६२) व्यत्यय से मध्योदात्त[1]। भोज के अनुसार √कम्प् + ओत, नलोप = कपोत है। (कम्पेरोतो नलोपश्च सरस्व० २. २. १४६)।

**कयस्य** < कस्य, यकारोपजन छान्दस[2]।

**करस्न** < कर + √स्ना (ष्णै वेष्टने) + क प्रत्यय (आतोऽनुपसर्गे कः, पा० ३. २. ३), आकार लोप (आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४)। = करस्न। करस्नम्[3]। करस्ना करोतीति फलमिति करः कर्म। कर्मणि स्ना शोधनं ययोस्तौ। यद्वा कर्मणां शोधनं याभ्यामिति। बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर[4]।

**करिक्रत्** < √कृ (करणे) + यङ्लुक् + शतृ, चुत्वाभाव, यणादेश तथा अभ्यास को रिगागम निपातित। (अभ्यस्तानामादिः, पा० ६. १. १८९)[5]।

**करुण** < √कृ (करणे) + उनन् प्रत्यय भाव में (कृवृतॄदारिभ्य उनन्, उ० सू० ३. ५२) = करुण, व्यत्यय से प्रत्यय का आदि उदात्त। करुणस्य – ष० ए०[6]।

**कर्त** < √कृ + त प्रत्यय (औ०) कर्ते – स० ए०[7]। देवराज० √कृ (हिंसा) + तन् (हरिमृग्रिण्वमिदमिलूपूर्धूविभ्यस्तन्, उ० सू० ३. ८३)[8]। ग्रासमान – √कृत् (वोबू० ३१६)।

**कर्तवै** < √कृ + तवेन् प्रत्यय (तुमर्थे सेसेन्०, पा० ३. ४. ९)[9]।

**कर्तु** < √कृ + तुन् प्रत्यय बाहुलक (सितनिगमिमसिसच्चविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन्, उ० सू० १. ६५)। कर्तोः, (ष० ए०)[10]।

**कर्त्वम्** < (क)— √कृ + त्वन् प्रत्यय (कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः, पा० ३. ४. १४), गुण, नित्स्वर[11]।

(ख)—√कृ + विच् (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५) गुण, रपर

---

१. सा० ऋ० १. ३०. ४।
२. ,, ,, १. २७. ८।
३. ,, ,, १. १६१. १२, द्र० निरु० ६. १ —करस्नौ बाहू, कर्मणां प्रस्नातारौ।
४. ,, ,, ३. १८. ५।
५. ,, ,, ३. ५८. ९, द्र० न्यास, पा० ७. ४. ६५ तथा सि० कौ० वही।
६. ,, ,, १. १००. ७, द्र० देव० नि० २. १. ११, वोबू० पृ० ३१५।
७. ,, ,, कर्ते ९. ७३. ८।
८. देव० नि० ३. २३. ३।
९. सा० ऋ० १. ८५. ६।
१०. ,, ,, १. ११५. ४, द्र० देव० नि० २. १. १८।
११. ,, ,, १. २३. १८, २५. ११, १६१. ३, २. ३०. १०, सा० अ० १. ४. ३, ऋ० सा० १. १०. २, ऋ० ग्ला० ४४।

=कर्+त्व प्रत्यय, करो भावः कर्त्वम्[१]। देवराज० उपर्युक्त दोनों व्युत्पत्तियों से सहमत हैं[२]।

**कर्मण्य** < √कृ+मनिन् (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५) नित्स्वर[३]। <कर्मन्+यत् प्रत्यय (तत्र साधुः, पा० ४. ४. ९८) कर्मसु साधुः कर्मण्यः। प्रकृतिभाव (ये चाभावकर्मणोः, पा० ६. ४. १६८) अतएव टिलोप का अभाव, तित्स्वरित (तित्स्वरितम्, पा० ६. १. १८५)[४]।

(तु० IE quer – todo, Lith Kurti, to build, Av. Kərə 'todo', opers, Kar 'todo')

**कल्मलीकिन्**<√कल्+मल+(कीकन्)+इनि प्रत्यय मत्वर्थीय। कलयति अपगमयति मलमिति कल्मलीकं तेजः। तद्वन्तम्[५]। देवराज० पृषोदरादि से व्युत्पन्न मानते हैं[६]। भोज ने √कल् + मलक्+कीकन् = कल्मलीकं ज्वालः, व्युत्पत्ति दी है—(मृद्वीकातिन्तडीकबाह्लीकवल्मीककल्मलीकिणीकपुण्डरीकचंचरीकसमीकप्रतीकपूतीकफर्फरीकादयः – सरस्व० २.२.२०)। ग्रासमान कल्मली > कल्मलीक > कल्मलीकिन् – व्युत्पत्ति देते हैं – वोबू० ३१८।

**कल्याणी**<कल्याण+ई प्रत्यय मत्वर्थीय (छन्दसीवनिपौ०, वा० पा० ५. २. १२२) प्रत्ययस्वर। कल्याणमस्यास्तीति कल्याणी[७]। कल्याण<कल्य – वोबू० ३१८।

**कवारि** < √ऋ(गतौ)+इ प्रत्यय (अच इः, उ० सू० ४. १४८) = अरि, कव = अरि = कवारि[८]। ग्रासमान – कव< √कु, वोबू० ३१८।

**कवि**<(क)— √कु (शब्दे)+इ प्रत्यय (अचः, उ० सू० ४. १४८), कौति कूयते वा कविः। प्रत्ययस्वर।

(ख)—√क्रम्+इन् प्रत्यय (इन् सर्वधातुभ्यः, उ० सू० ४. १२६) बाहुलक मकार के स्थान पर वकार, रेफ लोप, व्यत्यय से अन्तोदात्त[९]। यास्क ने √क्रम् तथा √कु (गत्यर्थ) से ही निर्वचन किया है[१०]।

---

१. सा० ऋ० १. १०. २।
२. दे० नि० २. १. १७।
३. सा० ऋ० कर्मणः १. ११. ४, कर्मन् १. ११२. २, द्र० निरु० ३. १ कर्म कस्मात्? क्रियते इति सतः।
४. ,, ,, कर्मण्यम् १. ९१. २०, वोबू० पृ० ३१६।
५. ,, ,, २. ३३. ८।
६. ,, ,, देव० नि० १. १७. २।
७. ,, ,, ३. ५. ३ ६।
८. ,, ,, १०. १०७ ३, द्र० ऋ० ग्ला० पृ० ४४।
९. ,, ,, १. ११. ४, २. २३. १७, ० तमः – ३. १४. १, ५. ११. ३, द्र० सा० सा० १. ३. १०, भा० धा० अ० ४३, क्षीर० स्वा० ६८१।
१०. निरु० १२. १३ कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा। द्र० वही० दुर्ग—कवतेः धातोः गत्यर्थस्य कविः, कवति गच्छत्यसौ नित्यम्। द्र० देव० नि० ३. १५. १०।

( तु० IE qeu – to payhed to Gr. Koew, lat. cavere, beware')

**कविच्छदा**<कवि + √छद् (अपवारणे) + क्विप् = कविच्छद् + औ, 'प्र० द्वि०। विभक्ति को डादेश। कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर[1]।

**कविशस्त**<कवि + √शंस (स्तुतौ) + क्त प्रत्यय, अनुनासिक लोप, इट् प्रतिषेध (यस्य विभाषा, पा० ७. २. १५), अन्तोदात्त (थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्, पा० ६. २. १४४)[2]।

**कव्यत्** < √कु (शब्दे) + यत् प्रत्यय भाव में (अचो यत्, पा० ३. १. ९७) कव्यं कवनं स्तुतिं करोति – इस अर्थ में कव्य + णिच् (तत्करोति तदाचष्टे, वा० पा० ३. १. २६) + क्विप्, णि का लोप (बहुलमन्यत्रापि संज्ञाच्छन्दसोः, = कव्य + तुक् = कव्यत्, + धातुस्वर से अन्तोदात्त। कव्यता – कव्यत् + आ, तृ० ए०[3]। ग्रासमान – कव्य + ता – वोबू ३२०।

**कशा** < √कश् (गतिशासनयोः) + अच् (पा० ३. १. १३४)। सायण ने इसका अर्थ अश्वताडनी = चाबुक किया है[4]। यास्क – √काश्, √कृष्, ख + √शी (स्वप्ने) √क्रुश्[5]) देवराज० – √काश् (दीप्तौ) + अच्, छान्दस ह्रस्व, √कश् ( गतौ ), √कश् ( शब्दे ), ख + √शी[6]। ग्रासमान – √कश् (कण् = √कष्) वोबू – ३२०)।

**कशोजुवम्**<कशस् + √जु ( सौत्रधातु ) + क्विप्, दीर्घ = कशो जू, कशांसि उरकानि जवतीति कशोजूः तम्। कशस्< √कश् (गतिशासनयोः) + असुन्[7]। स्कन्द कश् कशा का पर्याय तथा √जु को गत्यर्थक बताते हैं[8]। ग्रासमान कशस् = कशा मानते हैं (वोबू० ३२१)।

**काम** < √कम् (कान्तौ + घञ् प्रत्यय, आद्युदात्त (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)[9]।

**कामप्र** < काम + √प्रा ( पूरणे ) + क प्रत्यय (आतोऽनुपसर्गे कः, पा० ३. २. ३)। कामं प्रातीति कामप्रः। कामप्रेण – तृ० ए०[10]।

---

१. सा० ऋ० ३. १२. ३।
२. „ „ ३. २१. ४, २९. ७, द्र० वोबू० ३२०।
३. „ „ १. ९६. २।
४. „ „ १. २२. ३।
५. निरु० ९. १९ – कशा प्रकाशयति अयमश्वाय कृष्यतेर्वाणूभावाद्वाक् पुनः प्रकाशयत्यर्थंन् खशया क्रोशतेर्वाश्विकशाया एषा भवति।
६. देव० नि० १. ११. ४३।
७. सा० ऋ० ११२. १४।
८. स्क० वही।
९. सा० ऋ० १. १६. ९, ५३. ३, ८६. ८, द्र० वोबू० पृ० ३२२।
१०. „ „ १. १५८, २, द्र० ऋ० ग्ला० पृ० ४५, वोबू० ३२३।

**काम्य** < √कम् + णि (कमेर्णिङ् पा० ३. १. ३०) + यत् (अचो यत्, पा० ३.१.६७) णिलोप (णेरनिटि, पा० ६. ४. ५१). तित्स्वरित को बाधकर आद्युदात्त (यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३)[१]।

**कायमान**<√कम् ( कान्तौ ) + णिङ् + शानच् = कामयमान, छान्दस मकार लोप, = कायमान[२]। यास्क √चाय्, √कामय्[३]।

( तु० IE qā 'to desire', Lat. Cārus, beloved)

**कारु** < √कृ + उण प्रत्यय (कृवापाजिमि०, उ० सू० १. १), वृद्धि, करोतीति कारुः, प्रत्ययस्वर (आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३)[४]। ग्रासमान√किर् (अकारिषम्, - वोबू० ३२२)।

**कारुधायाः**<कारु + धायस् < √धा + असुन् ( वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि, उ० सू० ४. २२६), णित् को अनुवृत्तिकर युक् का आगम (आतो युक् चिण्कृतोः' पा० ७. ३. ३३) समास में पूर्वपदप्रकृतिस्वर[५]।

**काव्य** < कवि + ष्यञ् प्रत्यय (गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः०, पा० ५. १. १२४) उपधा-वृद्धि, कवेः कर्म काव्यम्, आद्युदात्त[६]।

**काशिः** < √काश् (काशृ दीप्तौ) + इ प्रत्यय ( औ० ) प्रत्ययस्वर[७]।

( तु० IE quə̂k—to see, M Pers, nigāh, a glance)

**काष्ठा** < सायण ने इसे पृषोदरादि माना है - क्रान्त्वा स्थिताः काष्ठाः[८]। यास्क ने √क्रम् + √स्था से निर्वचन किया है[९]। वैयाकरण √काश् (दीप्तौ) + क्थन् प्रत्यय (हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन, उ० सू० २. २ ) काशन्ते दीप्यन्ते काष्ठाः, अथवा √कष् + क्थन् - व्युत्पत्ति देते हैं।

---

१. सा० ऋ० काम्या १. ६. २, काम्यैः १. ६. ८, काम्यम् १. १८. ६, काम्याः ३. ३१. १७।
२. ,, ,, ३. ९. २।
३. निरु० ४. १४, द्र० देव० नि० ४. १. १५।
४. सा० ऋ० १. ११. ६, कारो - ३. ३३. ८, द्र० निरु० ६. ६ कारुरहमस्मि कर्ता स्तोमानाम्।
५. ,, ,, ३. ३२. १०।
६. ,, ,, काव्यानि १. ९६. १, काव्येन ३. ३६. ५, काव्या ९. ६६. १।
७. ,, ,, ३. ३०. ५, द्र० निरु० ६. १ काशिर्मुष्टिः प्रकाशनात्। देव० नि० ४. ३. ३।
८. ,, ,, नाम् १. ३२. १०।
९. निरु० २. १५, काष्ठा उपदिशो भवन्ति, इतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति।

( तु० IE Kṛsā, Lat. curro, to run)

**किमीदिन्** < किम् + इदानीम् – किम् इदानीमिति ये चरन्ति ते किमीदिनः । किमीदिना – द्वि० ब०[१] ।

**किंयुः** < किम् + क्यच् छान्दस = किंय + उ प्रत्यय (क्याच्छन्दसि, पा० ३. २. १७०) प्रत्ययस्वर[२] ।

**कियति** < कियत्, कियत्<किम् + वतुप् परिमाण अर्थ में वकार को घत्व (किमिदंभ्यां वोघः, पा० ५. २. ४० – घ विधान सामर्थ्य से) किम् के स्थान में की आदेश (इदं किमोरिश्की, पा० ६. ३. ९०) घ > इय आदेश (आयनेयी०, पा० ७. १. २) किं परिमाणमस्य – इति कियत् । प्रत्यय स्वर । संहिता में छान्दस दीर्घ = कियाति[३] ।

**कियेधा** < (क)—कियत् + √धा + विच्,

(ख)—√क्रम् + √धा + विच्,

उभयत्र पृषोदरादित्वात् पूर्वपद को किये भाव । कियद् दधाति इति कियद्धाः, क्रममाणं ( बलं ) धारयति निवारयति – इति कियेधाः[४] । सायण ने यास्क की व्युत्पत्ति दी है[५] ।

( तु० Av. cozdǒnhvat )[६]

**किरण** < √कॄ ( विक्षेपे ) + क्यु प्रत्यय ( कॄपॄवृजिमन्दिनिधाञ्भ्यः क्युः, उ० सू० २. ८१), यु को अनादेश (युवोरनाकौ, पा० ७. १. १) कॄ>किर् (ॠत इद्धातोः, पा० ७. १. १००) कीर्यन्ते विक्षिप्यन्ते इति किरणाः । प्रत्ययस्वर[७] । ग्रासमान – √किर् – (वोबू० ३२६) ।

**कीरि** < (क)— √कॄत् (संशब्दने) + णिच् + इ प्रत्यय (अच इः, उ० सू० ४. १४८) णिलोप, धातु का अन्त्यलोप छान्दस ।

---

१. सा० ऋ० १०. ८७. २४, द्र० वेङ् वही, सा० अ० १. ७. १, २८. १, २. २४. १, निरु० ६. ११—किमीदिने किमिदानीमिति चरते किमिदं किमिदमिति वा ।
२. „ „ ३. ३३. ४ ।
३. „ „ १. ११३. १० ।
४. „ „ १. ६१. ६, १२ ।
५. निरु० ६. २०—कियेधाः कियद्धा इति वा क्रममाणधा इति वा ।
६. ऋ० ग्ला० ४५ ।
७. सा० ऋ० किरणाः १. ६३. १, द्र० देव० नि० १. ५. २ ।

(ख)— √कॄ + (इ प्रत्यय)[1]। देवराज० ने √कै (शब्दे) + इ,> √का + इ अथवा + - इन् से व्युत्पत्ति दी है, जो भ्रामक प्रतीत होती है[2]। भोज ने "कायः किः" (सरस्व० २. १.१७३) से काकिः प्रयोग बनाया है। ग्रासमान √किर् - (वोबू ३२७)।

**कीर्तेन्य** < कॄत (संशब्दने) + केन्य प्रत्यय (कृत्यार्थे तवैकेन्०, पा० ३. ४. १४), इत्व (ॠत इद्धातोः, पा० ७. १. १००)[3]।

**कीवत्** < किम् + वतुप्, घादेश का अभाव छान्दस, किम्>की (इदं किमोरिश्की, पा० ६. ३. ९०)[4]।

**कीस्त** < √कॄत् (संशब्दने) + अच् प्रत्यय (पा० ३. १. १३४) = कीर्त, छान्दस सत्व = कीस्त। कीस्तासः, प्र० बहु०[5]।

**कुक्षि** < √कुष् (निष्कर्षे) + क्सि प्रत्यय (प्लुषिशुषिकुषिभ्यः कः, उ० सू० ३. १४६) कुष्णाति सर्वं निष्कर्षतीति कुक्षिः अथवा कुष्यत इति कुक्षिः, प्रत्यय स्वर। कुक्षयः, प्र० ब०[6]। कुक्ष्योः<कुक्षि + ओस्, स० द्वि०, विभक्ति को उदात्त (उदात्तयणोः०, पा० ६. १. १७४)[7]।

**कुणारु** < √कुण् ( शब्दने ), बाहुलक रूपसिद्धि[8]। यास्क - √क्वण्[9]। स्कन्द के अनुसार - √क्वण् + आरु प्रत्यय ताच्छीलिक, छान्दस सम्प्रसारण = कुणारु[10]।

( तु० IE qan, to sing, Lat. cono, I sing)

**कुण्डपाय्यः** <कुण्ड + √पा (पाने) + ण्यत् प्रत्यय अधिकरण में तथा युगागम (क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ, पा० ३. १. १३०), कुण्डैः पीयतेऽस्मिन् सोम इति

---

१. सा० ऋ० कीरेः १. ३१. १३, २. १२. ६।

२. देव० नि० ३. १६. ६।

३. सा० ऋ० १. १०३. ४।

४. ,, ,, कीवतः ३. ३०, १७।

५. ,, ,, १ १२७. ७, द्र० देव० नि० ३. १५. २०।

६. ,, ,, ३. ३६. ८।

७. ,, ,, ३. ५१. १२।

८. ,, ,, ३. ३०. ८।

९. निरु० ६. १ कुणारुं परिक्वणनम्।

१०. स्क० निरु० वहीं।

कुण्डपाय्यः क्रतुविशेषः[1]। सायण ने अन्यत्र 'यत्' प्रत्यय किया है (सा० सं० १. २. ५. ३)। वस्तुतः स्वर दृष्टि से यत् प्रत्यय उपयुक्त है[2]।

**कुण्डृणाची** < √कुड् (दाहे) + ल्युट् = कुण्डन, ड् के बाद आने वाले अकार को छान्दस ऋकार, णत्व (ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम्, वा० पा० ३. २. ५६), = कुण्डृण + √अञ्च् + क्विन् प्रत्यय (ऋत्विक्०, पा० ३. २. ५६), नलोप (अनिदिताम्०, पा० ६. ४. २४) + ङीप्, स्त्रीप्रत्यय (अञ्चतेश्चेति वक्तव्यम्, पा० ४. १. ६. २), अकारलोप (अचः, पा० ६. ४. १३८), पूर्वपद को दीर्घ (चौ, पा० ६. ३. १३८), कुण्डृणमञ्चतीति कुण्डृणाची, आकार उदात्त (चौ, पा० ६. १. २२२)। कुण्डृणाच्या, तृ० ए०[3]। ग्रासमान कुण्डृण (= कुण्डल) से व्युत्पन्न मानते हैं, (वोबू० ३२८)।

**कुनंनमा**<कु + √नम् (प्रह्वीभावे) + यङ् + अच्, यङ्लुक् (यङोऽचि च, पा० २. ४. ७४), उत्तरपदान्तोदात्त (थाथघञ् पा० ६. २. १४४)[4] कुनंनम >कुनंनमा, स्त्री०[5]।

**कुभन्यु** < √कुभ् (उन्दनकर्मा) सायण ने प्रत्यय का निर्देश नहीं किया है। कुभन्यवः – सेक्तारः उदकेच्छवः। यह क्यजन्त रूप प्रतीत होता है[6]।

**कुयव** < कु + यव < √यु (मिश्रणामिश्रणयोः) + अच् प्रत्यय, यवो यवनं मिश्रणम्। कुत्सितं यवनमस्य, बहुव्रीहि समास में पूर्वपदप्रकृतिस्वर[7]।

**कुरङ्ग** < (क)—कुरु + √गम् + ड प्रत्यय (अन्यत्रापि दृश्यते, पा० ३. २. १०१) पृषोदरादि। कुरून् जेतुं गच्छतीति कुरङ्गः।

(ख) कुल + √गम् + ड प्रत्यय, कुलं गच्छतीति कुङ्गः[8]। यास्क ने √कुरु

---

१. सा० ऋ० ८. १७. १३।

२. त० बो० पा० ३. १. १३०—कुण्डशब्दे तृतीयान्ते उपपदे पिबतेरविकरणे यत्-प्रत्ययो युगागमश्च निपात्यते। नन्वत्र ण्यदेव निपात्यतां प्रकृतत्वात्। एवं "चातो युक् चिण्कृतोः" (पा० ७. ३. ३३) इति सिद्धत्वात् यक् च न निपातनीय इति लाघवमस्तीति चेत्? मैवम्—तित्स्वरप्रसंगात्। इष्यते तु "यतोऽनावः" (पा० ६. १. २१३) इत्याद्युदात्तः कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः। तथा च प्रयुज्यते प्रणायात् कुण्डपाय्य इति।

३. सा० ऋ० १. २९. ६।

४. ,, ,, १०. १३६. ७।

५. ,, ,, १०. १३६. ७, द्र० वोबू० पृ० २२९।

६. ,, ,, ५. ५२. १२।

७. ,, ,, १. १०३. ८, द्र० वोबू० ३३०।

८. ,, ,, ० स्य, ८. ४. १९।

+ √गम् से निर्वचन किया है[1]। उज्ज्वलदत्त[2] – √कॄ विक्षेपे + अङ्गच्, भोज[3] – कुरु + अङ्गच्, पेरुसूरि[4] – √कॄ + अङ्गच् अथवा √कुर् + अङ्गच्, दुर्ग – √कुर् + √अङ्ग, (उ० सू० ५. २३)।

**कुशिक** < कुशिक + अञ् प्रत्यय गोत्र अर्थ में (अनृष्यानन्तये बिदादिभ्योऽञ्, पा० ४. १. १०४), तथा प्रत्यय का लुक् (यञञोश्च, पा० २. ४. ६४)। यह विश्वामित्र का नाम है[5]। यास्क √क्रुश्, √क्रंश्[6]। श्वे० व० √कुश् (भाषणे) + किकन् प्रत्यय, बाहुलकान्नलोप, अथवा √कोश् से व्युत्पन्न मानते हैं—कुशंयतीति कुशिकः, कोशतेर्वा कुशिकः ऋषिविशेष[7]।

**कुह** < किम् + त्रल् प्रत्यय (सप्तम्यास्त्रल्, पा० ५. ३. १०) त्रल् > ह (वा ह च च्छन्दसि, पा० ५. ३. १३), किम् को कु आदेश (कु तिहोः, पा० ७. २. १०४), स्थानिवद्भाव से लित् मानकर प्रत्यय का आदि उदात्त (लिति, पा० ६. १. १९३)[8] ग्रासमान √कु से व्युत्पन्न मानते हैं (वोबू० ३३१)।

**कूष्ठः** (क)—कु + √स्था (+ क प्रत्यय)।

(ख)—कू + स्थः (√स्था) निपात का आख्यात के साथ समास (सह सुपा, पा० २. १. ४, सह का योग विभाग कर) = क्वौ स्थितौ भवथः[9]।

**कृकदाशु** < कृक + दाशु। कृक < √कृ (हिंसायाम्) + कन् (क) प्रत्यय (कृदाधारार्चिकलिभ्यः, उ० सू० ३. ४०), गुणाभाव, = कृक + √दाश् (हिंसा) + उण् प्रत्यय बाहुलक (ञ्युण्) (कृके – वचः कश्च, उ० सू० १. ६, दश० १. ९१)। प्रत्ययस्वर। कृकदाश्वम् < कृकदाशु + अम्, द्वि० ए०, यणादेश, विभक्ति स्वर (उदात्तस्वरितयोर्यणः, पा० ८. २. ४)[10]।

**कृण्वान** < √कृण्व् (कृवि हिंसाकरणयोश्च) + उ प्रत्यय तथा अकार अन्तादेश, (धिन्विकृण्व्योर च, पा० ३.१.८०) + शानच्, अन्तोदात्त (चितः, पा० ६.१.१६३)।

---

१. निरु० ६. २२—कुरङ्गो राजा बभूव, कुरुगमनात्।
२. उ० सू० १. १२०।
३. सरस्व० २. २. ६१।
४. औ० प० १. ५३६।
५. सा० ऋ० कुशिकासः ३. २६. १।
६. निरु० २. १५।
७. उ० सू० २. ४२।
८. सा० ऋ० १. २४. १०, ४६. ९, ११७. १२, १०. १२९. १।
९. ,, ,, ५. ७४. १।
१०. ,, ,, १. २९. ७।

कृण्वानासः, प्र० ब०, विभक्ति को असुक् का आगम (आज्जसेरसुक्, पा० ७. १. ५०)[१]।

**कृत्तिः** < √कृत् (छेदने) + क्तिन् प्रत्यय (करण में), कृन्तति अनेनेति कृत्तिः[२]। यास्क ने √कृत् से ही निर्वचन किया है[३]।

**कृत्नु** < √कृत् ( छेदने ) + क्नु प्रत्यय ( कृहनिभ्यां क्नुः । उ० सू० ३. ३० )[४]। भट्टोजिदीक्षित तथा ज्ञानेन्द्र सरस्वती 'कृहनिभ्यां क्त्नुः' पाठ मानते हैं[५] – √कृ + क्त्नु>कृत्नु = शिल्पी।

**कृत्रिम** < √कृ (करणे) + क्त्रि प्रत्यय भाव में (ड्वितः क्त्रिः, पा० ३. ३. ८८)>कृत्रि + मप् निर्वृत्तार्थक (त्रेर्मम्नित्यम्, पा० ४. ४. २०), पित् होने से अनुदात्त होने पर प्रत्ययस्वर शेष रहता है। कृत्रिमा – द्वि० ब०, शेर्लोप (शेश्छन्दसि बहुलम्, पा० ६. १. ७०)[६]।

**कृत्वः** < √कृ ( करणे ) + क्विप् भाव में ( संपदादिभ्यः क्विप् > कृ + मतुप् (तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्, पा० ५. २. ९४), म>व (झयः, पा० ८.२.१०), भसंज्ञा ( तसौ मत्वर्थे, पा० ५. २. ९४ ), होने से तकार को जश्त्व का अभाव, त् > रु (मतुवसो रुः, पा० ८. ३. १)[७]।

**कृत्वन्** < √कृ + क्वनिप् ( अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५)>कृत्वन्। कृत्वने – च० ए०[८]।

**कृत्वी**< √कृ + त्वी प्रत्ययान्त निपातित (स्नात्व्यादयश्च, पा० ७. १. ४९), अन्तोदात्त (आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३)[९]। देवराज – √कृ + तु प्रत्यय बाहुलक (पः किच्च, उ० सू० १. ६८),>कृतु, विभक्ति को ईकादेश (इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्, वा० पा० ७. १. ३९)[१०]।

---

१. सा० ऋ० १. ७२. ९, ३. ३१. ९ द्र० सा० अ० १. १३. ४।
२. ,, ,, ८. ६०. ६. द्र० वे० ऋ० वही. देव० नि० ३. ४. १३।
३. निरु० ५. २२ – कृत्तिः कृन्ततेर्यशोवाऽन्नं वा इयमपीतराकृत्तिरेतस्मादेव सूत्रमयी उपमार्थे वा।
४. सा० ऋ० १. ९२. १०।
५. उ० सू० कृहनिभ्यां क्त्नुः पर प्रौ० म० तथा त० बो०, द्र० औ० प० २. ७७, उज्ज्व० ३. ३०, मा० धा० उपहत्नु पृ० ३२०।
६. सा० ऋ० १. ५५. ६, द्र० सा० अ० १९. ३४. ३।
७. ,, ,, ३. १८. ४, द्र० वोबू० ३४७।
८. ,, ,, १०. १४४. ३।
९. ,, ,, १०. १०९. ७।
१०. देव० नि० २. १. २०।

कृष्टि < √कृष् (विलेखने) + क्तिच् प्रत्यय (क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्, पा० ३.३.१७४), कर्षन्तीति कृष्टयः, अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)। कृष्टीनाम्, ष० ब०, नाम् उदात्त (नामन्यतरस्याम्, पा० ६. १. १७७)[1]। यास्क - √कृ, कृष्[2]। देवराज० √कृ + क्त, √कृष् + क्त > कृष्ट + इ (मत्वर्थीय - लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्याः, वा० पा० ४. ४. १२८)[3]।

कृष्ण < √कृष् + नक् प्रत्यय (कृषेर्वर्णे, उ० सू० ३. ४), कृषतीति कृष्णः[4]।

( तु० IE qrs 'colour', Particularly - dark or dirty O Prus, Kirsnan, dark )

कृष्णजंहस् < कृष्ण + जंहस् < पुनः पुनर्गम्यत इति जंहा (< √हन् + यङ्लुक्) + असुन् कर्म में, कुत्वाभाव छान्दस, कृष्णं जंहः पन्था यस्य सः कृष्णजंहः, पूर्वपदान्तोदात्त (बहुव्रीहौ०, पा० ६. २. १)[5]।

केत < (क)—√कित् (ज्ञाने) + अच् प्रत्यय (पचादि), चिकेतति प्रतिकूलं जानन्तीति केताः, ( वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३ ) के आकृतिगण होने से आद्युदात्त[6]।

(ख)—√कित् (ज्ञाने) + घञ् प्रत्यय कर्म में, प्रतिकूलतया ज्ञायन्त इति केताः, आद्युदात्त ( ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७ )[7]। देवराज० √चाय् (पूजानिशामनयोः) + त प्रत्यय, धातु को की आदेश तथा गुण[8]। गेल्डनर √चित् - ऋ० ग्ला० ४९। ग्रासमान - √कित् = चित् - वोबू० ५०।

केतु < (क)— √कित् (ज्ञाने) + उ प्रत्यय (औणादिक), प्रातिपदिकस्वर (फिषोऽन्त उदात्तः, फि० सू० १)[9]।

(ख)— √चाय् (पूजानिशामनयोः) + तु प्रत्यय, धातु को की, आदेश (चायः की च, उ० सू० १. ७०), आर्धधातुकलक्षण गुण[10]।

---

१. सा० ऋ० कृष्टीः १. ७. ८, १६०. ५ कृष्टयः १. ३६. १९, नाम्० १. ५९. ५।
२. निरु० १०. २२ कृष्टयः विकृष्टदेहाः, ० मनुष्यनामकर्मवन्तो भवन्ति।
३. देव० नि० २. ३. ७।
४. सा० ऋ० कृष्णा १. ३५. ४, द्र० निरु० २. २०—कृष्णं कृष्यतेर्निकृष्टवर्णः।
५. ,, ,, १. १४१. ७।
६. ,, ,, १. ५५. ७।
७. ,, ,, १. ३३. १, ५५. ७, ० वेदाः १. १०४. ३, केतेभिः ३. ६०. ७।
८. देव० नि० ३. ९. १।
९. सा० ऋ० १. ३. १२, ६. ३, ५. ११. २।
१०. ,, ,, ३. ६१. ३, द्र० क्षीर० म्वा० ६१९।

ऋ० सं० में √चित् के साथ केतु का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है[1]। यह चित् अकर्मक प्रज्ञान अर्थ में प्रयुक्त है। मधुच्छन्दस ने अकर्मक क्रिया को प्रेरणार्थक रूप में सकर्मक बनाकर 'केतु' (शुद्धावस्था के कर्त्ता) को करण के रूप में प्रस्तुत किया है। अतः केतु में '√चित्' सकर्मक रूप में अभिप्रेत है। यही कारण है कि √चित् से अर्थ निर्वचन नहीं किया, अपितु व्युत्पत्तिसम्बन्ध ही प्रकट किया गया[2]। पाणिनि तंत्र में स्वतन्त्र 'की' अथवा 'कि' प्रयुक्त नहीं है, अपितु √चाय् के स्थान में कुछ विशिष्ट शब्द रूपों की सिद्धि के लिए है (चायः की, पा० ६. १. २५)। उणादि वृत्तिकारों में श्वे० (१. ७०), दश० (१. १२६), भोज (२.१.५६) महादेव वेदान्ती (१. ७४) सभी ने √चाय्+तु से व्युत्पन्न माना है, दुर्ग ने (१. २८) √कै (शब्दे)+तुन् से व्युत्पत्ति दी है। अर्थ की दृष्टि से (प्रवृत्ति निमित्त) यह फ़ारसी 'निशान' के समकक्ष है। ग्रासमान – √कि (=चि) (वोबू० ३५०)।

**केवलादी**<केवल+ √अद+णिनि (सुप्यजातौ०, पा० ३. ८. ७८) वृद्धि[3]। केवल < √केवृ (सेचने)+कल प्रत्यय (उ० सू० १. १०१) केवते असहायः सन् सेवते इति केवलः असहायः[4]।

**केशिन्** < √क्लिश् (उपताप – विबाधन)+अन प्रत्यय तथा धातुगत ल् का लोप (क्लिशेरन् लोपश्च लः, दश० ६. २, उ० को० ५. ३३) क्लिश्नाति क्लिश्यते वाऽनेनेति केशः, केश+इनि (मत्वर्थीय), प्रशस्ताः केशा अस्य सन्तीति केशी[5]। यास्क – √काश्[6]। श्वेतवनवासी 'अन्' के स्थान पर 'अप्' पाठ मानते हैं (उ० सू० ५. ३५)।

(तु० √काश् – IE qaik̂ – to comb, Lith. Kaištu, 'to shave')

**क्रतु** < √कृ+कतु प्रत्यय (कृञः कतुः, उ० सू० १. ७४), कित् होने से गुण का अभाव, यणादेश, क्रियत इति क्रतुः सयूपो यज्ञः, प्रत्यय स्वर से आद्युदात्त (आद्यु०, पा० ३. १. ३)[7]। सायण क्रतु का अर्थ संकल्प लेते हैं। श० ब्रा० – ३. ३. ४. ७ में इसे मनोजव कहा गया है। गेल्डनर भी √कृ=संकल्प स्वीकारते हैं ऋ० ग्ला० ४६। महर्षि अरविन्द क्रतु=इच्छाशक्ति मानते हैं।

---

१. ऋ० सं० १. ३. १२—महो अर्णः सरस्वती चेतयति केतुना।
   „ „ ३. ११. ३ अग्निर्धिया स चेतति केतुर्यज्ञस्य पूर्व्यः।
   „ „ ७. ६७. २ अ चेति केतुरुषसः पुरस्तात्।
२. वै० वा० भा० चि० पृ० ४९—६०।
३. सा० ऋ० १०. ११७. ६।
४. „ „ १. ७. १०।
५. „ „ १. १०. ३, १६. ४।
६. निरु० १२. २५—केशाः काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा, केशा रश्मयः तैरतद्वान् भवति।
७. सा० ऋ० १. २. ८, १७. ५, १९. २, ३. ११. ६, द्र० उ० म० दी० १, ७४।

( तु० Gr. Kratos, might, power, Av. xratu, Goth. hardus, ahrd )

**क्रिवि** < √कृत् (छेदने) + क्विन् प्रत्यय (क्रिविधृष्विच्छविस्थवि०, उ० सू० ४. ५८) तथा त लोप निपातन से, नित्स्वर[१]। यास्क ने क्रिविर्दती का निर्वचन √कृत् से किया है[२], पर सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार यह कहना कठिन है कि क्रिवि का सम्बन्ध √कृत् से है[३]। उणादिवृत्तिकारों ने √कृ से >कृवि व्युत्पत्ति दी है[४]। देवराज० √कृ + इन् तथा रिन् आदेश निपातित (उ० सू० ४. ५६, कृविघृष्वि०[५]।

**क्रीडम्** < √क्रीड् (विहारे) + अच् (पचादि)[६]।

( तु० IE Kriz–d' to play, Goth. Hrisjan, Irish. cressaim, to shake )

**क्व** < किम् + ङि (स० एक०) + अत् (किमोऽत्, पा० ५. ३. १२) किम्>क्व (क्वाति, पा० ७. २. १०५), तित्स्वरित (तित्स्वरितम्, पा० ६. १. १८५)[७]।

**क्षय** < √क्षि (निवासगत्योः) + घ प्रत्यय अधिकरण में (पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण, पा० ३. ३. ११८ ), क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन्निति क्षयो निवासस्थानम्, आद्युदात्त (क्षयो निवासे, पा० ६. १. २०१)[८]।

( तु० Gr. Ktixo )

**क्षा** (क) < √क्षै ( क्षये ) + ( क्विप् प्रत्यय अधिकरण में, धातु को आत्व (आदेच उपदेशेऽशिति, पा० ६. १. ४५), क्षाययन्ति निवसन्ति अस्यामिति क्षाः। यह पृथिवी का नाम है (नि० १. १.५)[९]।

(ख)—√क्षि (निवासगत्योः) + णिच् + क्विप्,

(ग)—क्षि + ड प्रत्यय (अन्येभ्योऽपि दृश्यते, पा० ३. २. १०१) = क्ष + टाप्, स्त्री० प्रत्यय >क्षा, क्षियन्ति निवसन्त्यस्यां प्राणेन इति क्षा भूमिः, उदात्तनिवृत्तिस्वर से अन्तोदात्त[१०]। यास्क – √क्षि (निवासकर्मा)[११]। देवराज० √क्षि

---

१. सा० ऋ० १. ३०. १।
२. निरु० ६. ३०—० विकर्तनदन्ती।
३. एटि० यास्क० पृ० १३१।
४. उ० वृ० श्वे० ४. ५८, दश० १. २६, सरस्व० २. १. २३५।
५. देव० नि० ३. २३. ८।
६. सा० ऋ० १. ३७. १।
७. ,, ,, १. ३८. २, १०५. ४, ३. ३०. ३, १०. १११. ८।
८. ,, ,, क्षयम्० १. ४०. ७, ३. ४०. ४, क्षयौ—२. २७. १५, क्षयः ३. ८. १।
९. ,, ,, क्षासु० १. १२७. १०, क्षाः १. १३३. ६।
१०. ,, ,, क्षाम् ० १. ६६. ७, ३. ३२. ११, द्र० स्क० ऋ० १. ६६. ७।
११. निरु० २. ६—क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः।

(क्षये), √क्षि (निवासगत्योः), √क्षि (हिंसायाम्), √क्षै (क्षये), √क्षमूष् (सहने), क्ष्मायी (विधूनने) + ड प्रत्यय[1]।

( तु० IE ĝhdem, the earth, O Bulg, Zəmlja, the earth).

**क्षामन्** < √क्षै (क्षये) + मनिन् (आतो मनिन्०, ३. २. ७४)[2]।

**क्षिति** < √क्षि ( निवासगत्योः ) + क्तिच् प्रत्यय कर्ता में (क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्, पा० ३. ३. १७४ ), अन्तोदात्त ( चितः, पा० ६. १. १६३ ), क्षियन्ति निवसन्तीति क्षितयो मनुष्याः[3]।

**क्षिपः** < √क्षिप् ( प्रेरणे ) + क्विप् प्रत्यय ( कर्म में ) औणादिक, प्रेर्यन्ते कर्मस्विति क्षिपोऽङ्गुलयः, धातुस्वर[4]।

**क्षुमत्** < √क्षु (टुक्षु शब्दे) + क्विप्, तुक् का अभाव, छान्दस, क्षु + मतुप्>क्षुमत्, मतुप् उदात्त (ह्रस्वनुड्भ्याम्०, पा० ६. १. १७६)[5]।

**क्षुमति**< (क)—क्षुत् ( अन्ननाम ) + मतुप्, छान्दस तकारलोप, मतुप् उदात्त ( पा० ६. १. १७६ )।

(ख)—√क्षु ( शब्दे ) + क्विप् भाव में, तुक् + मतुप्, पूर्ववत्, क्षुमति – स० एक०[6]।

**क्षुम्पमिव**<क्षुम्पम् + इव, क्षुम्प < √क्षुभ ( संचलने ) + घञ् कर्म में, बाहुलक धातु को नुम् का आगम, वर्णव्यापत्ति से भ > प[7]। देवराज०√क्षुभ् + ण्यत् ( शकि लिङ् च, पा० ३. ३. १७२ ) >क्षौभ्य, औ >उ, भ>प मकारोपजन[8]।

( तु० पंजाबी Khumbmushroom )

**क्षेत्रजेष्** < क्षेत्र + √जेष् ( गतौ ) + क्विप् ( संपदादि लक्षण ) क्षेत्रस्य जेट् क्षेत्रजेट्, समासान्त अन्तोदात्त[9]। क्षेत्र < √क्षि[10]।

---

१. देव० नि० १. १. ५।
२. सा० ऋ० १०. १०६. १०।
३. ,, ,, १. ७. ९, ३३. ६, ५९. १, ७२. ७, ३. २०. ४, द्र० देव० नि० २. ३. ६, वोबू० ३६७।
४. ,, ,, ३. २३. ३, द्र० नि० २. ५. ४।
५. ,, ,, क्षुमन्तः १. ३०. १३।
६. ,, ,, ४, २. १८।
७. ,, ,, १. ८४. ८, द्र० नि० ५. १६—क्षुम्पम्, अहिच्छत्रकंभवति, यत् क्षुभ्यते।
८. देव० नि० ४. २. ६१।
९. सा० ऋ० ०जेषे. १. ३३. १५।
१०. निरु० १०. १४, ऋ० ग्ला० ५१, वोबू० ३७०।

**क्षेत्रसाधस्**<क्षेत्र + √साध् ( राधसाध संसिद्धौ ) + असुन् ( औणादिक ), कृदुत्तरपद-प्रकृतिस्वर[1]।

**क्षेमम्** < √क्षि ( निवास क्षय ) + मन् प्रत्यय ( अर्तिस्तुसु०, उ० सू० १. १२७ ), आद्युदात्त, क्षियंति निवसन्त्यनेनेति, क्षीयते अनेनेति वा क्षेमः[2]। रामभद्र दीक्षित ने √क्षि (नवासगत्योः), √क्षि (हिंसायाम्), √रि क्षि (हिंसायाम्[1], से व्युत्पन्न माना है[3]।

**क्षेमयत्** < √क्षि (निवासगत्योः) + मन् > क्षेम, क्षेमम् आवासम् आत्मन इच्छन्तम् इस अर्थ में – क्षेम + क्यच् ( सुप आत्मनः क्यच्, पा० ३. १. ८), चित्स्वर (अन्तोदात्त) <क्षेमय + शतृ, शतृ का क्यच् के साथ एकादेश, एकादेश उदात्त ( एकादेश उदात्तेनोदात्तः, पा० ८. २. ५ )। क्षेमयन्तम्<क्षेमयत् + अम्, सुप् अनुदात्त, अनुदात्त के स्थान पर स्वरित (उदात्तादनुदात्तस्य०, पा० ८. ४. ६६)[4]।

**क्षोण** < (क)— √क्षि ( निवासगत्योः ) + ल्युट् कर्ता में ( कृत्यल्युटो बहुलम्, पा० ३. ३. ११३)>क्षयण, यकार का उकार, गुण। सायण इसे पृषोदरादि मानते हैं।

(ख)— √क्षु (शब्दे) + न प्रत्यय (औणादिक)[5]। यास्क ने क्षयण > क्षोण निर्वचन किया है[6]।

**क्षोदस्** < √क्षुद् (क्षुदिर् संपेषणे) + असुन् (औणादिक)[7]।

**क्षैत्रपत्य**<क्षेत्र + पति + ष्यञ् कर्म में (गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः०, पा० ५. १. १२४, में ब्राह्मण को आकृति गण मानकर)[8]।

( तु० IE K̂thei 'to settle', Arm šən 'village')

**क्षमा** < (क)—<√क्षम् (क्षमूष् सहने) + अङ् (षिद्भिदादिभ्योऽङ्, पा० ३. ३. १०४) >क्षम + टाप् स्त्री प्रत्यय = क्षमा, व्यत्यय से धातु का उपधालोप।

(ख)—क्षम् (अभिभवार्थे) + मनिन् (उ० सू० ४.१४०) + डाप् (डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्, पा० ४. १. १३), टि लोप, धातु का उपधालोप, क्षमते प्राणिजात-

---

१. सा० ऋ० ३. ८. ७।
२. ,, ,, १. ६६. २, द्र० ऋ० ग्ला० ५१।
३. उ० म० दी० १. १३०, पृ० ८३।
४. सा० ऋ० ३. ७. २।
५. ,, ,, १. ११७. ८।
६. निरु० ६. ६, देव० नि० ४. ३. २८, नीतिमंजरी पृ० १०७।
७. सा० ऋ० १. ११२. १२. ऋ०. ग्ला० पृ० ५१।
८. ,, ,, १, ११२. १३।

कृतमुपद्रवमिति क्षमा। क्षमया – छान्दस विभक्ति को उदात्त[१]। क्षमः – क्षमा का ष० ए०। सायण ने क्षमः की एक अन्य व्युत्पत्ति भी दी है – √क्षमाय् (क्षमायी विधूनने) + क्विप् (क्विप् च, पा० ३. २. ७६), वलिलोप, अपृक्त लोप (वेरपृक्तस्य, पा० ६. १. ६७) + ङस्, उदात्तनिवृत्तिस्वर से विभक्ति को उदात्त[२]।

**क्षिवङ्का**<√क्षु (शब्दे), सायण ने प्रत्यय का संकेत नहीं किया है। क्षिवङ्क एक विशेष प्रकार का पक्षी है[३]। इसका अर्थ शिकारी पक्षी जान पड़ता है। तै० सं० में अश्वमेध की बलियों की सूची में यह शब्द आया है, जहाँ भाष्यकार ने इसका अर्थ 'लाल मुँह वाली बन्दरिया' यह किया है[४]।

## ख

**खजङ्करः**< √खज् (मन्थे) + अच् (पचादि) खजति मथ्नाति पुरुषान् इति खजः, >खज + √कृ + खच् प्रत्यय (क्षेमप्रियमद्रेऽण् च, पा० ३. २. ४४) मुम् का आगम (अरुर्द्विषदजन्तस्य०, पा० ६. ३. ६७), कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर[५]।

**खदिर** < √खाद् (भक्षणे) + किरच् प्रत्यय (अजिरशिशिरशिथिलशिबिरस्थिरस्फिर-स्थविरखदिराः, उ० सू० १. ५२), उपधाह्रस्व तथा अन्तोदात्त निपातन से, खादतीति खदिरः[६]। श० ब्रा० (कण्व) में √खद (स्थैर्ये) से निर्वचन किया गया है[७]। उणादिवृत्तिकारों में उज्ज्वलदत्त तथा भोज ने √खद् से (सरस्व० २. ३. ४६) तथा शेष ने √खाद से व्युत्पन्न माना है[८]। श्वेतवनवासी √खाद् तथा √खद् (उ० सू० १. ५२)। खदिर का उपयोग ब्राह्मण काल में यज्ञ स्तम्भ के लिए ही किया जाता था, सम्भवतः बाद में इसका उपयोग खाने में भी होने लगा। लोकवाणी में भी इससे निर्मित खम्भे की स्थिरता सुरक्षित है[९]।

---

१. सा० ऋ० १. ५५. ६, द्र० देव० नि० १. १. ४।

२. ,, ,, १. १००. १५।

३. ,, ,, १०. ८७. ७।

४. वैदिककोश पृ० १२२।

५. सा० ऋ० १. १०२. ६।

६. ,, ,, ३. ५३. १९।

७. श० ब्रा० ४. ६. २. ५—यस्तेन देवास्तप उपायन्नेते उपसदोथापरम् उत्पपात-सा राजन् खदिरेणाचखादत तस्मात् खदिरो नाम।

८. पा० ४. ३. १३५ पर हरदत्त—खादेः खदिरशब्दः किरच् प्रत्ययान्तो निपातितः। तथा पदमंजरी भाग २ पृ० १६२, द्र० उ० भ० दी० १. ५४।

९. चक डोले चकबमबम डोले, खैरा पीपर कबहुँ न डोले—भोजपुरी की उक्ति।

**खरमज्र**< खर + √मस्ज् ( शुद्धौ ) + र प्रत्यय (औणादिक)। खरमज्रा – प्र० द्वि, विभक्ति को डादेश[1]।

**खिल्य** < खिल + यत् (स्थार्थिक), खिल = अप्रतिहत स्थान[2]।

**खेद** < √खिद् ( दैन्ये ) + घञ् प्रत्यय कर्म में ( अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्, पा० ३. ३. १९)। खेदाम् ष० ब०, छान्दस नुट् का अभाव[3]।

## ग

**गणगणम्**< √गण् (संख्याने) + अच् (नन्दिग्रहि० पा० ३. १. १३४)। द्वित्व (नित्यवीप्सयोः, पा० ८. १. ४), पर के आम्रेडित होने से अनुदात्त तथा पूर्वपदस्वर[4]। यास्क – √गण्[5]। देवराज० √गण् (गणने) + घञ् (अकर्तरि च च कारके संज्ञायाम्, पा० ३. ३. १९ ), अकारलोप (अतो लोपः, पा० ६. ४. ४८)[6]।

( तु० IE Ger. (+m) to gather, Gr. agaeírō ( 'I gather' ).

**गण्या** < गण्य का स्त्री० रूप, गण्य < √गण् (संख्याने) + णिच् (स्वार्थ में) + यत् (अचो यत्, पा० ३. १. ९७), आद्युदात्त (यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३)[7]।

**गध्यम्** < ग्रह् + यत् (अघ्न्यादयश्च, उ० सू० ४. १२०) तथा धातु को गध्यादेश[8]।

( तु० IE ghadh 'to combine', Ang. sax. gadrian 'togather', Eng. gather').

**गन्तृ**< √गम् + तृन् (ताच्छीलिक), आद्युदात्त[9]। गन्तारा, गन्तृ + औ, विभक्ति को आकारादेश (सुपां सुलुक्० पा० ७. १. ३९), गुण (ऋदृशोऽङि गुणः, पा० ७. ४. १६), उपधादीर्घ (अप्तृन्० पा० ६. ४. ११), आद्युदात्त[10]।

**गन्तोः**< (क)—√गम् + तोसुन् (भावलक्षणेस्थेण्०, पा० ३. ४. १६), आद्युदात्त।

---

१. सा० ऋ० १०. १०६ ७।
२. ,, ,, ६. २८. २।
३. ,, ,, १०. ११६. ४।
४. ,, ,, ३. २६. ६।
५. निरु० ६. ३६. गणः गणनात्।
६. देव० नि० १. ११. ३८।
७. सा० ऋ० ३. ७. ५।
८. ,, ,, ४. १६. ११, ६. १०. ६. द्र० वेङ्कट० वहीं, निरु० ५.१५ गध्यं गृह्णातेः देव० नि० ४. २. ५१।
९. ,, ,, गन्ता १. ८६. ३.।
१०. ,, ,, १. १७. २, ८. ५. ५।

(ख)—गन्तु का पं० ए०, गन्तु< √गम् + तुन् (सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्-क्रुशिभ्यस्तुन्, उ० सू० १. ६५), गच्छतीति गन्तुः – पथिकः, आद्युदात्त[1]।

**गन्धर्व** < गो + √धृ ( धारणे ) + व प्रत्यय तथा गो के स्थान पर गन् आदेश (उ० वृ० ना० ५. ८४), प्रत्यय स्वर, गावो रश्मयः तान् धारयतीति गन्धर्व आदित्यः, ( तु० सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः, तै० ३. ४. ७. १) अथवा – वेदलक्षणां धारयतीति गन्धर्वः ( तु० ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते, तै० ब्रा० ३. १२. ६. १)[2]। श० ब्रा० में √गृधु ( अभिकांक्षायाम् ) तथा गन्ध से निर्वचन किया गया है तथा गन्धर्वों को योषित्कामा बताया गया है[3]। श्वेतवनवासी – गो + √धृङ् (उ० सू० ५. ७८) से व्युत्पन्न मानते हैं, भोज – √गन्ध + व प्रत्यय तथा अरक् का आगम (सरस्व० २. ३. १२६ – गन्धेररक् च )।

( तु० Goth. grēdags, OHG girida, NHG. begehr, Lith gedauti, chsl žedati O Eng. grēdig, N. Eng. greed)

**गभस्ति**<(क)— √भस् (भर्त्सनदीप्त्योः) + ति ( प् ) प्रत्यय, धातु को गट् का आगम (भसेर्गट् च, सरस्व० २. १. १८५)।

(ख)— √ग्रह् (उपादाने) + ति प्रत्यय (औ०), धातु को असुक् का आगम, छान्दस हकार को भकार[4]। देवराज० ने पूर्वोक्त व्युत्पत्तियों के साथ गो + भस् ( भक्षणदीप्त्योः ) से भी व्युत्पन्न माना है[5]। ग्रासमान – √गभ् = जभ् (वोबू० ३७८)।

**गभीर** < √गाध् (प्रतिष्ठा – लिप्सा ग्रन्थ) + ईरच् प्रत्यय तथा ध् > भ्, आ > अ में निपातित (गभीरगम्भीरौ च, उ० सू० ४. ३६), अन्तोदात्त[6]। देवराज० उपर्युक्त व्युत्पत्ति के साथ √गभ् + ईरन्, तथा गो + भीर< √भी ( भये ) + √रा – भीयन्ति रातीति भीराः, गवां भीरा गभीरा गम्भीरा च,

---

१. सा० ऋ० १. ८९. ९, ३. ५४ १८।

२. ,, ,, १. २२. १४, ३. ३८. ६. १०. १२३. ७, द्र० सा० अ० २. १. २, ४. ३७. ७, ७. ७७. ३।

३. श० ब्रा० ३. ९. ३. २०. सहैव पत्नीभिरयांते पत्निष्वेव गन्धर्वागिर्धिष्यन्ति, तथा ६. ४. १. ४ – गन्धेन वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति, द्र० श० ब्रा० ३. २. ४. ३. ऐ ब्रा० १. २७, कौ० ब्रा० २. ६, १२. ३. जै उ० ब्रा० ३. २५. ४।

४. सा० ऋ० ३. ६०. ५।

५. देव निव १. ५. ७।

६. सा० ऋ० ३. ३२. १६।

व्युत्पत्ति दी है[१]। उणादिवृत्तिकारों में इसकी व्युत्पत्ति को लेकर पर्याप्त मतभेद है – श्वे० (४. ३६) – √गा + ईरन्, उज्ज्व० (४.३५) – √गम् + ईरन्, दश० √गाध् + ईरन् (८.७७), महादेव वेदान्ती √गम् + भ + ईरन् (उ० को० ४. ३५), भोज – √गम् + ईरच् (सरस्व० २. ३. ५०), दुर्ग० (३. ४६) √गम् + ईर। ग्रासमान – √गाह् – (वोबू० ३७८)।

**गमिष्ठा**<गन्तृ + इष्ठन् (तुश्छन्दसि, पा० ६. ३. ५६), तृ लोप (तुरिष्ठेमेयःसु, पा० ६. ४. १५४) गमिष्ठन्, विभक्ति को आकार ( सुपां सुलुक्० पा० ७. १. ३६ )[२]।

**गय** < (क)— √गम् + यत् प्रत्यय तथा मकार लोप (अघ्न्यादयश्च, उ० सू० ४.१२०) = गय = गृह।

(ख)— √गा (स्तुतौ) + यत्, धातु को ह्रस्व, गय = धन, आद्युदात्त (यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३)[३]। ब्रह्मण में इसे √गम् से ही निरुक्त माना गया है[४]। भोज – √गम् + अयन् (गयः प्राणः, सरस्व० २. ३. ७)।

**गयस्फान**<गय + स्फान< √स्फान< √स्फाय् ( वृद्धौ ) + ल्युट् कर्ता में (कृत्यल्युटो बहुलम्, पा० ३. ३. ११३ ) यलोप गय इति गृहस्य धनस्य च नामधेयम् – तस्य स्फायिता वर्धयिता[५]।

**गर्दभ**< √गर्द (शब्दे) + अच् (कॄगॄशॄशलिगर्दिभ्योऽभच्, उ० सू० ३. ११६), गर्दतीति गर्दभः, अन्तोदात्त (चित्तः, पा० ६. १. १६३)[६]।

**गर्भ** < (क)—गॄ (निगरणे) + भन् (अर्तिगॄभ्यां भन्, उ० सू० ३. १४६), गिरति गीर्यते वा गर्भः, आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)।

(ख) – √गृ (शब्दे) + भन्, शेष पूर्ववत्[७]। यास्क – √गभ् (गृणाति अर्थ में) तथा √गॄ (निगरणे)[८]। पर दुर्गाचार्य √ग्रह से भी व्युत्पन्न मानते हैं[९]। ग्रासमान – √गृभ् (वोबू० ३८७)।

---

१. देव नि० १. १२. ६१. तथा १. ११. ७।

२. सा० ऋ० १. ११८. ३, ३. ५८. ३।

३. „ „ ५. १०. ३, द्र० देव० नि० २. २. ८।

४. गो० ब्रा० पू० ५. १४.—स यदाह गयोऽसीति सोमं वै तदा हैष वै चन्द्रमा भूत्वा सर्वान् लोकान् गच्छति तद् यद् गच्छति तस्माद् गयस्तद् गयस्य गयस्त्वम्।

५. सा० ऋ० १. ९१. १२, १९।

६. „ „ १. २९. ५।

७. „ „ ३. २७. ९, ८. १२. ११, द्र० सा० अ० ३. १०. १२।

८. निरु० १०. २३ गर्भोगृभेगृणात्यर्थे गिरत्यर्थानिति वा।

९. निरु० १०. २३—"यदा हि स्त्रीगुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्ते अथ गर्भो भवति" पर दुर्ग—तदेवं गर्भग्रहणहेतुकोऽयं ग्रहेर्गर्भः पृ० ९९३।

( तु० IE gu allbh womb, Gr. delphus 'womb' Av. gardwa)

**गर्भधिम्** <गर्भ + √धा ( धारणपोषणयोः + कि प्रत्यय ( कर्मण्यधिकरणे च, पा० ३. ३. ३६), कृदुत्तरपदप्रकृति स्वर[1] ।

**गवाशिर** <गो + आ + √श्री + क्विप् ( अपस्पृधेथाम्० पा० ६. १. ३६ ), बहुव्रीहि, पूर्वपदप्रकृतिस्वर[2] ।

**गविष्टि** < गो + इष्टि < √इष् ( इच्छायाम् ) + क्तिन् भाव में, एषणमिष्टिः, गवामिष्टिर्येषु, बहुव्रीहि, पूर्वपदप्रकृतिस्वर[3] ।

**गवेषणः** <(क)—गो + आ + इषण < √इष् + ल्युट् कर्ता में बाहुलक ।

(ख)—√गवेष (मार्गणे) + ल्युट्[4] ।

**गव्यम्** < (क)—गो + यत् (गोरजादिप्रत्ययप्रसंगे यद्वक्तव्यम्, वा०) ।

(ख)—गो + यत् (गोपयसोर्यत्, पा० ४. ३. १६०) ।

(ग)—गो + य ( खलगोरथात्, पा० ४. २. ५० समूह अर्थ में)। सर्वत्र आद्युदात्त (यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३)[5] ।

**गव्यत्** < गो + क्यच् (सुप आत्मनः क्यच्, पा० ३. १. ८) । गाः आत्मनः इच्छन्तः गव्यन्तः[6] ।

**गव्यु** < गव्य + उ प्रत्यय (क्याच्छन्दसि, पा० ३. २. १७०), उ प्रत्ययका स्वर[7] ।

**गव्यूति** < गो + यूति, (< √यू + क्तिन् प्रत्यय अधिकरण में) अवादेश (गोर्यूतौ छन्दसि०, वा० पा० ६. १. ७९ ), पूर्वपदप्रकृतिस्वर ( दासीभारादित्वात् ) गावोऽत्र यूयन्ते अथवा यूतिः यवनम्, गवां यवनम् अत्र[8] । ग्रासमान – गो + ऊति (वोबू० ३९०) ।

**गातु** <(क)— √गा (गाङ्, गतौ) + तु (कमिमनिजनि०, उ० सू० १. ६९),

(ख)— √गा (स्तुतौ) + तु,

(ग)— √गै (शब्दे) + तु, प्रत्यय स्वर[9] । रामचन्द्र दीक्षित के अनुसार उ० सू० में √गै शब्दे का ग्रहण है[10] ।

---

१. सा० ऋ० १. ३०. ४, द्र० वोबू० ३८८ ।

२. ,, ,, ३. ३२. २, ४२. १, ७, द्र० सा० अ० २०. २४. १, वोबू० ३८८ ।

३. ,, ,, १. ३६. ८, ९१. २३ ।

४. ,, ,, १. १३२. ३ ।

५. ,, ,, १. ७२. ८, ३. ३२. १६, ४. २. १७. द्र० सा० अ० १. ८. ३, २२, २. १३. १, ७. ८१. १, ऋ० ग्ला० ५४ ।

६. ,, ,, १. ३३. १, १३१. ३, ३. ३१. ९, ३३, ११ ।

७. ,, ,, १. ५१. १४, ३. ३१. ८, ३३. १२ ।

८. ,, ,, गव्यूतीः १. २५. १६, ०तिम्० १. ६२. १६ ।

९. ,, ,, १. ९५. १०, ०भिः, १. १००. ४, ०तुम् १. १५१. ६, ३. ३१. ९, १५, गातुः ३. ५४. १८, द्र० वेंकट-गातिः शब्दकर्मा—४. ४. ६, देव० नि० १. १. २० ।

१०. उ० म० दी० १, ६९ ।

**गाथपतिम्** <गाथा + पति, गाथा<√गै (शब्दे, अर्चतिकर्मा च, नि० ३. १४) + थन् प्रत्यय (उषिकुषिगर्तिभ्यस्थन् उ० सू० २.४), नित्स्वर, गाथ + टाप् स्त्री० प्रत्यय-गायत्यसौ देवता:, गायन्ति तामिति वा गाथा, गाथाया: पति: गाथपति:, पूर्वपद में ह्रस्व (ङ्यापो: संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम्, पा० ६. ३. ६३), (पत्या वैश्वर्ये, पा० ६. २. १८) से प्राप्त पूर्वपदप्रकृतिस्वर को बाधकर पूर्वपदान्तोदात्त (मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्, वा०)[१]। गेल्डनर-गाथा< √गै, ग्रासमान√गा से व्युत्पन्न मानते हैं[२]।

(तु० Av. gāθā, hymn, o Russ. ga-jati' crow')

**गाथिन्** < गाथा + इनि (व्रीह्यादयश्च, पा० ५.२.११६) गाथा एषां सन्तीति गाथिन: प्रत्ययस्वर से इकार उदात्त[३]।

**गायत्र**<(क)—गायत्री + अण् (तस्येदम्, पा० ४.३.१२०)।

(ख)— √गाय् + √त्रा + क (आतोऽनुपसर्गे क:, पा० ३.२.३), गायतस्त्रायत इति गायत्रम्[४]। ऋ० सं० में √गै (शब्दे) से निर्वचन संकेतित प्रतीत होता है[५]। ब्राह्मणों में गाय + त्र, गाय<√गा अथवा√गै + त्र<√ त्रा अथवा √तॄ,निर्वचन मिलता है[६]। यास्क - √गाय, त्रि + √गम्[७]। वैयाकरण - √गा (शब्दे) + अत्रच् प्रत्यय कर्म में औपसंख्यानिक (भृभृ० उ० सू० ३. ११०), गीयतेऽनेन स: गायत्र: शब्दध्वनिर्वा, अन्तोदात्त (चित:, पा० ६.१. १६३)। पर भवविभूति भट्टाचार्य ने - √गै (शब्दे) + ष्ट्रन् करण में (ष्ट्रन्, उ० सू० ४.१६५, दश० ८.७६) गायत्यनेनेति गायत्रम् व्युत्पत्ति दी है[८]।

---

१. सा० ऋ० १.४३.४।

२. ऋ० ग्ला० ५४, वोब्रू० ३९५।

३. सा० ऋ० गाथिन: १.७.१।

४. ,, ,, १.१२.११, ३८.१४, द्र० स्क० ऋ० १.१२.११,२७.४, १२०.६ सा० अ० ६.४८.१—गायत्र्येव गायत्रम्। (छन्दस: प्रत्यय विधाने नपुंसके स्वार्थ उपसंख्यानम्, वा० पा० ४.२.५५) इति स्वार्थिक: अण्।

५. ऋ० सं० १.१०.१ गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यकर्मकिण:।
,, ,, १०.७१.११—गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।

६. तमेतद् एव साम गायन्नत्रायत यद्गायन्नत्रायत तद् गायत्रस्य गायत्रत्वम्, जै० उ० ब्रा० ३.३८.४, द्र० ४.८.२, ४.७.५, जै० ब्रा० १.१११, ता० म० ब्रा० ७.१.१, ७.३.७, १६.११.११।

७. निरु० १.८—गायते: स्तुतिकर्मण:, ७-१२ गायतो मुखादुत्पतद् इति ब्राह्मणम्। त्रिगमना विपरीता।

८. सा० वे० १.३.८ पर टिप्पणी।

(तु० √गाय् IE gā (i), to sing Russ. gajati (to crow) Lith. gýsti, to sing, Lett. dziedāt, to sing)

**गायत्री** < द्र० गायत्र[1]।

**गायत्रिन्** < गायत्र + इनि (अत इनिठनौ, पा० ५.२.११५), गायत्रं साम येषामुद्गातॄणामस्ति ते, प्रत्यय स्वर से इकार उदात्त[2]।

**गार्हपत्य** < गृहपति + ञ्य (गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः, पा० ४.४.९०) इकार लोप (यस्येति च, पा० ६. ४.१४८), आदिवृद्धि, आद्युदात्त[3]। द्र० गृहपति।

**गिरः** < √गॄ + क्विप्. इत्व – रपर (ॠत इद्धातोः, पा० ७.१.१००), छान्दस उपधा को दीर्घ का अभाव गृणन्ति स्तुवन्तीति गिरः, गीर्यन्ते स्तूयन्ते इति गिरः, धातु स्वर से उदात्त[4]। यास्क ने √गॄ से निर्वचन किया है[5]।

(तु० Lith. garbe, Lat. gratus, Rumanian. grǎi, Av. gar, to praise)

**गीः** < √गॄ + क्विप्, इत्व, दीर्घ (र्वोरुपधायाः०, पा० ८, २, ७६), प्रातिपदिकस्वर[6]।

**गिर्वणस्** < गिर् + √वन् (संभक्तौ) + असुन् ( सर्वधातुभ्योऽसुन्, उ० सू० ४. ५६ दुर्ग), संज्ञापूर्वकविधि के अनित्य होने से प्राप्त दीर्घ (हलि च, पा० ८, ३. ७७) का अभाव, गीर्भिर्वन्यते सेव्यते इति गिर्वणाः, पूर्वपदप्रकृतिस्वर, आमन्त्रित में आद्युदात्त (आमन्त्रितस्य च, पा० ६. १. १९८)[7]।

**गिर्वणस्युः** < गिर्वणस् + क्यप् + उ (क्याच्छन्दसि, पा० ३. २. १७०)[8]।

**गिर्वाहस्** < गिर् + √वह् (प्रापणे) + असुन् (वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि, उ० सू० ४. २२६), पूर्वपद को दीर्घाभाव छान्दस, णित् की अनुवृत्ति कर उपधावृद्धि, पूर्वपदप्रकृतिस्वर[9]।

---

१. द्र० श० ब्रा० ६.१.१.१५— ता एतदेव साम गायन्नात्रायत यद् गायन्नत्रायत तद् गायत्रस्य गायत्रत्वम्, जै० ब्रा० १.१११, छा० उ० ३.१२.१—वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं मृतं गायति च त्रायते, तथा वहीं शा० भा०—गानात् त्राणाच्च गायत्र्या गायत्रीत्वम्।

२. सा० ऋ० गायत्रिणः १.१०.१।

३. „ „ १.१५.१२, द्र० सा० अ० ६.१२०.१।

४. „ „ १. ३. २, ६. ६, ९, ९. ४, १०. १२, द्र० सा० अ० १. १५. २।

५. निरु० १. १०।

६. सा० ऋ० ३. ७. ५।

७. „ „ १. ५. ७, १०. १२, ११. ६, ४५. २, ६२. १, ३. ४०. ६, द्र० निरु० ६. १४, गिर्वणा देवो भवति गीर्भिरेनं वनयन्ति, देव० नि० ४. ३. ५८।

८. „ „ १०. १११. १।

९. „ „ १. ३०. ५, ६१. ४, १३९. ६।

**गुहा** < √गुह + अङ्, आद्युदात्त ( वृषादित्वात्, अथवा ग्रामादीनां च, फि० सू० ३८)[1]।

(तु० IE Ghugh 'to conceal' Av. guz, conceal).

**गुह्य**<(क)—√गुह् (संवरणे) + क्यप् (शंसिमुहिदुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्, वा० पा० ६. १. ७१), कित् होने से गुण का अभाव धातुस्वर[2]।

(ख)—गुहा + यत् (भवे छन्दसि, पा० ४. ४. ११०), गुहायां भवानि गुह्यानि, अद्युदात्त (यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३)[3]।

**गूर्तश्रवस्**<गूर्त + श्रवस्। गूर्त < √गॄ (शब्दे) + क्त अथवा √ गुरी (उद्यमने) + क्त, गूर्तं श्रवो यस्य, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर[4]।

**गूर्ति**< √गॄ (शब्दे) + क्तिच् (क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम, पा० ३. ३. १७४) उत्व (बहुलं छन्दसि, पा० ७. १. १०३), दीर्घ (हलि च, पा० ८. ३. ७७), अन्तोदात्त[5]।

(तु० Av. garah 'praise', Lith. girti, praise)

**गृत्स** <√गृध् (अभिकांक्षायाम्) + स प्रत्यय तथा धातु को दकार अन्तादेश (गृधिपत्योर्दकौ च, उ० सू० ३. ६६), आद्युदात्त (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)[6]। यास्क – √गॄ[7]। देवराज०√गृध् + स, √गॄ + सक, तुगागम[8]। सायण की व्युत्पत्ति व्याकरण सम्मत है[9]।

(तु० IE guer (a) 'to raise the voice'' Lith. gurti )

**गृध्नु** <√गृध् + क्नु (त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः पा० ३. २. १४०)[10]।

**गृध्र** <√गृध् + क्रन् (सुसूधागृधिभ्यः क्रन्, उ० सू० २. २७) गृह्यति अभिकांक्षतीति गृध्रः क्रव्यात्, आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)[11]।

---

१. सा० ऋ० १. ६७. ३।
२. ,, ,, ३. ३९. ६, द्र० सा० अ० ३. ५. ३।
३. ,, ,, १. ७२. ६।
४. ,, ,, १. ६१. ५, १२२. १०।
५. ,, ,, गूर्तयः—१. ५६. २।
६. ,, ,, ३. १९, १, ३. ४८. ३।
७. निरु० ९: ५—गृत्स इति मेधाविनाम, गृणातेः स्तुतिकर्मणः।
८. देव० नि० ३. १५. ३।
९. उ० वृ० श्वे० ३. ६६, उ० को० ३, ६९, सरस्व २. ३. १७०, दश० ९, २९।
१०. सा० ऋ० १. ७०. ६, वोबू० ४०५।
११. ,, ,, १, ८८: ४।

**गृभीत**<√ग्रह (उपादाने)+क्त प्रत्यय, हकार का भकार ( हृग्रहोर्भश्छन्दसि, पा० ८. २. ६५)[1]। ग्रासमान्√गृभ् – वोबू० ४०६।

**गृह** < √ग्रह (उपादाने)+क प्रत्यय (गेहे कः, पा० ३. १. १४४), सम्प्रसारण (ग्रहिज्या०, पा० ६. १. १६), परपूर्वत्व, गृह्णातीति गृहम्, प्रत्यय स्वर (आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३)[2]। ऋ० सं० में घर अर्थ में गृह तथा गृभ का पृथक्-पृथक् प्रयोग किया गया है। यद्यपि गृह का प्रयोग गृभ से अधिक बार हुआ है, पर आख्यात रूपों में √ग्रभ का प्रयोग निस्सन्देह √ग्रह् से अधिक है। वैदिक काल में 'भ' वाली वर्तनी अधिक प्रचलित थी। सम्भवतया √ग्रभ का ही विकास √ग्रह के रूप में होता रहा[3]। अतः √ग्रभ् तथा√ग्रह् दोनों से ही व्युत्पन्न गृह शब्द है। ग्रासमान भी यही मानते हैं—( वोबू० ४०६ )।

( तु० IE ghardh, to plait, Av. gǝr ǝda )

**गृह्णु** <√ग्रह्+कु ( मृगय्वादयश्च, उ० सू० १, ३७ ), सम्प्रसारण[4]।

**गो** <√गम् ( गतौ )+डो प्रत्यय ( गमेर्डोः, उ० सू० २. ६८ ), डित् होने से टिलोप, गच्छतीति गौः, प्रत्यय स्वर[5]। ऋ० सं० में भी√गम् से ही इसकी व्युत्पत्ति संकेतित है, पर त्रिशोककाण्व ने गत्यर्थक√इ के साथ तथा गत्यर्थक√गा से निष्पन्न 'गातु' के साथ 'गो' का प्रयोग कर इसकी अन्य व्युत्पत्ति का संकेत किया है[6]। यास्क ने इन दोनों व्युत्पत्तियों ( √गम् तथा√गा ) का विकल्प सुझाया है[7], पर ब्राह्मणों में√गम् से ही निर्वचन अभीष्ट है[8]।

( तु० IE gu̯ōu, cattle, Gr. bous, Litt. guovs 'COW' NG Kuh, gau, gathi gaui, Av. gab, Arm KOV.

---

१. सा० ऋ० १. २४, १२, ९३. ५।
२. ,, ,, १. १३. १२. पतिः—१०. १२२. १. द्र० निरु० ३. १३।
३. वै० वा० भा० चि० पृ० ५४।
४. सा० ऋ० १. १२. ६, ३६. ५, १०. १२२. १।
५. ,, ,, गौ : ३. ७. २।
६. ऋ० सं० ६. २८. १ – आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे।
,, ,, ८. ४५. ३०—य कृन्तदिद्वियोन्यं त्रि० शोकाय गिरिं पृथुम् गोभ्यो गातुं निरेतवे।
७. निरु० २. ५—गौरिति पृथिव्या नामधेयम्, यद् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति गातेर्वौकारो नामकरणः. अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव।
८. ता० म० ब्रा० १६. २. २, ३—यद् वै तद् देवा असुरान्नेभ्यो लोकेभ्यो गोवयंस्तद् गोर्गोत्वम्, ऐ० ब्रा० ६. १. २. ३४—इमे वै लोका गौर्यद्धि किंच गच्छतीमांस्तल्लोकान् गच्छति। द्र० तै० ब्रा० ३. ९. ८. ३७, श० ब्रा० २. २. ४. ५, ६. १. २. ३५।

**गोघ्न** <ग + √हन् (हिंसागत्योः) + क प्रत्यय (घञर्थे क विधानम्, वा० पा० ३. ३. ५८), उपधालोप (गमहन०, पा० ६. ४. ९८), कुत्व (हो हन्तेः, पा० ७. ३. ५४)[1]।

**गोजिता** <गो + √जि + क्त + औ, विभक्त को आकार (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९)[2]।

**गोत्र** (क)—√गु (गुङ्, अव्यक्ते शब्दे) + त्र प्रत्यय (गुधृवीपचिवचियमिसदिभ्यस्त्रन्, उ० सू० ४. १७५, दश० ८. ८९), गूयतेऽनेनेति गोत्रम् ऋषिवंशः नाम च।

(ख)—गो + त्र ('खलगोरथात्') की अनुवृत्ति कर (इनित्रकट्यचश्च, पा० ४. २. ५१), प्रत्ययस्वर, गवां समूहः गोत्रम्।

(ग)—गो + √त्रै (पालने) + क प्रत्यय (आतोऽनुपसर्गे कः. पा० ३. २. ३) गोभिः त्रायते रक्षते इति गोत्रम्[3]। ग्रासमान—गो० वोबू० ४११।

**गोदाः** <गो + √दा (दाने) + विच् (आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च, पा० ३. २. ७४), गां ददातीति गोदः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[4]।

**गोधुक्** <गो + √दुह् (प्रपूरणे) + क्विप् (सत्सूद्विष०, पा० ३. २. ६१) गां दोग्धीति गोधुक्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[5]।

**गोपा** <√गुप् (रक्षणे) + आय् प्रत्यय (गुपूधूपविच्छि०, पा० ३. १. २८) = गोपाय् + क्विप्, अतोलोप, यलोप, प्रत्ययस्वर[6]। जै० उ० ब्रा० में √गुपू रक्षणे तथा श० ब्रा० में √गुप गोपने से निर्वचन किया गया है[7]। वस्तुतः, गुप् + अच् (पचादि०, पा० ३. १. १३४). गोपायतीति गोपाः अन्तोदात्त, व्युत्पत्ति अधिक संगत प्रतीत होती है।

**गोपीथ** < गो + √पा + थक् (निशीथगोपीथावगथाः, उ० सू० २. ९) गावः पिबन्त्यस्मिन्निति गोपीथः[8]।

**गोविन्दुः**<गो + √विद् (लाभे) + उ प्रत्यय, नुम् निपातित (विन्दुरिच्छुः, पा०

---

१. सा० ऋ० १. ११४. १०, द्र० वोबू० ४११।
२. ,, ,, १. १०२. ६, द्र० वोबू० ४११।
३. ,, ,, १. ५१. ३, २. १७. १, २३. १८, ३. ३९. ४, ४३. ७, १०. १२०. ८, द्र० स्क० ऋ० ६. ६५. ५।
४. ,, ,, १. ४. २, ३. ३०. २१।
५. ,, ,, गोदुहे १. ४. १।
६. ,, ,, १. ९४. ५, ३. १५. २, ३१. १४, ३८. ९, ५५. १०, द्र० ऋगर्थसार, १. ६४. ५, सा० अ० ३. ८. ४, ७. ५५. २।
७ जै० उ० ब्रा० ३. ३७. २, तथा श० ब्रा० १४. १. ४. ९, द्र० ऐ० ब्रा० ६. १०।
८. सा० ऋ० थाय—१. ९१. १, द्र० वोबू० ४१२, उ० भ० दी २. ९, पृ० १०३।

३. २. १६६), यजमानानां गवां लम्भकः, वेत्ति तच्छीलो विन्दुः[१]। ज्ञानेन्द्रसरस्वती के अनुसार सूत्र में √ विद् ज्ञाने का ही ग्रहण है[२]।

**गौरी**< √गॄ ( निगरणे )। सायण ने प्रत्यय का संकेत नहीं किया है[३]। यास्क – √रुच्[४]। देवराज० √रुच्, √गुर् (उद्यमने), √गुङ् (अव्यक्ते शब्दे)[५]।

**ग्ना** < √गम् (गतौ) + डन् ( औणादिक ), डित् होने से टिलोप, गम्यन्त इति ग्नाः, प्रत्ययस्वर[६]। यास्क – √गम्[७]। देवराज० – √गम् + न, टिलोप बाहुलक (धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः, उ० सू० ३. ६) = ग्न + टाप् = ग्ना[८]।

( तु० IE gunā, 'women', Av. nā, 'women' )

**ग्नावः** < ग्ना + मतुप्, व्यत्यय से वत्व, ग्ना अस्य सन्तीति ग्नावः। ग्नावत् + सु (संबुद्धि), रुत्व (मतुवसो रुः, पा० ८. ३. १), षाष्ठिक आमन्त्रित आद्युदात्त (आमन्त्रितस्य च, पा० ६. १. १९८)[९]।

**ग्मः** < ग्मा, आकारलोप (आतो धातोः, पा० ६. ४. १४०), उदात्तनिवृत्तिस्वर से विभक्ति को उदात्त, सायण ने प्रत्यय का संकेत नहीं किया है[१०]। ऋ० सं० में ग्मा< √गम् से व्युत्पन्न है[११]। देवराज० √ गम् + कनिन् बाहुलक (उ० सू० १. १५४) अथवा मनिन् ( उ० सू० ४. १४० ) = ग्मन् + डाप् (डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्, पा० ४. १. १३)[१२]।

**ग्रह** < √ग्रह् + अप् करण में (ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च, पा० ३. ३. ५८)। ब्राह्मण √ग्रह से ही निर्वचन करते हैं[१३]।

---

१. सा० ऋ० ९. ९६. १९।
२. तत्त्वबोधिनी – पा० ३. २. १६९ – विद् ज्ञाने इत्यस्यैव ग्रहणं नेतरेषाम्।
३. सा० ऋ० १. १६४. ४१ – ० गौरीर्गरणशीला शब्दब्रह्मात्मिका वाक्।
४. निरु० ११. ३९ – गौरीः, रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः।
५. देव० नि० १. ११. ५.।
६. सा० ऋ० १. २२. १०. १६१. ४।
७. निरु० ३. २१ (मेनाग्ना इति इति स्त्रीणाम्) गच्छन्त्येनाः।
८. देव० नि० १. ११. ४०।
९. सा० ऋ० १. १५. ३।
१०. ,, ,, १. २५. २०, ३७. ६।
११. ऋ० सं० १०. २२. ६ आ जग्मथुः पकाराद्दिवश्च ग्मश्च मर्त्यम्।
१२. देव० नि० १. १. २।
१३. सा० ऋ० – ग्रहान् १०. ११४. ५।
१४. ऐ० ब्रा० – यद् वित्तं ( यज्ञं ) ग्रहैर्व्यगृह्णत तद् ग्रहाणां ग्रहत्वम्, द्र० श० ब्रा० १०. १. १. ५, ४. १. ३. ५, तै० ब्रा० २. २. ८. ६, तै० सं० १. ३. १. २, का० सं० ९. १६. ५०–५१।

( तु० IE ghrebh 'to hold' Lett. grābt, Lith. grobti, ch. sl. zgrabite, SWidish – grabbà, Av. oPers, grab' 'to seise' NEng. grob )

**ग्रामः**< √ग्रस् (अदने ) + मन्, धातु को आकार अन्तादेश (ग्रसतेरा च, उ० सू० १. १२६) ग्रसत इति ग्रामः, नित्स्वर[1] ।

( तु० slavic – gremium )

**ग्रावग्राभः**<ग्रावन् + अण् + ग्राभ, ग्राव्णः स्तुत्या गृह्णातीति ग्रावग्राभः । ग्राभ < √ग्रह (उपादाने) + अण् (कर्मण्यण्, पा० ३. २. १), हकार के स्थान पर भकार छान्दस, गतिस्वर (पा० ६. २. १३९) तथा आद्युदात्त (आद्युदात्तश्च, पा० ४. १. ३)[2] । यास्क ने ग्रावन् का निर्वचन √हन् तथा √ग्रह् से किया है[3] ।

( तु० IE. gurā 'Heavy', weish bəruan 'mill stone' ).

## घ

**घनः** (क)—< √हन् + अप् – काठिन्य में (मूर्तौ घनः, पा० ३. ३. ७७) तथा हकार को घकार निपातित, घन + अच् (अर्श आदिभ्योऽच्, पा० ५. २. १२७), घनः अस्यास्तीति घनः, अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[4] ।

(ख)—√हन् + घ (पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण, पा० ३. ३. ११८), कुत्व (होहन्तेः०, पा० ७. ३. ५४), प्रत्ययस्वर[5] । ऋ० सं० में भी यह √हन् से व्युत्पन्न प्रतीत होता है[6] ।

**घर्म** < √घृ (क्षरणदीप्त्योः) + मक्, गुण (घर्मः ग्रीष्मः, उ० सू० १. १३५) जिघर्ति

---

१. सा० ऋ० २. १२. ७, ३. ३३. ११, द्र० उज्ज्व० उ० वृ० १. १४२, उ० म० दी० १. १३२, क्षीर० म्वा० ४१८ ।

२. ,, ,, १६२. ५ ।

३. निरु० ६. ८ ग्रावाणः हन्तेर्वा गृह्णातेर्वा, द्र० देव० नि० १ १०. २ ।

४. सा० ऋ० १, ४, ८, ८. ३, ३६. १६ ६३. ५ ।

५. ,, ,, ३. ४९. १ ।

६. ऋ० सं० १. ३६. १६ – घनेव विष्वग्वि जह्यराव्णः ।

,, ,, घनेन हन्मि वृश्चिकम्, ऋ० खिल तथा अ० सं० १०. ४. ९ द्र० निरु० २. १. = अथाप्यादिविपर्ययो ज्योतिर्घनो बिन्दुर्वाटय इति ।

दीप्यतेऽस्मिन्निति घर्मः निदाघः[1] । यास्क – √हृ[2] । देवराज० √घृ+म, (निघ० १. ६. ७) ।

( तु० IE guherm, 'hot', OHG and Eng. 'warm' )

**घर्म्येष्ठ**< धर्म्य ( < घर्म ) + ङि + √स्था + विच् (अन्येभ्योऽपि दृश्यते, पा० ३. २. ७५), सप्तमी का अलुक् (तत्पुरुषे कृति बहुलम्, पा० ६. १. १४)[3] ।

**घृत**< √घृ (क्षरणदीप्त्योः) + क्त (निष्ठा, पा० ३. २. १०२), प्रत्यय स्वर से घृत उदात्त[4] । ऋ० सं० में इसका प्रयोग 'घी' और 'जल' अर्थों में होता था । घृत की प्रकृति √घृ हो प्रतीत होती है[4] । कपिष्ठल कठसंहिता में घृङ् ध्वनि करने के कारण 'घृत' नाम पड़ा, कहा गया है[6] । यास्क ने जल के पर्याय 'घृत' को सींचना अर्थ वाली √घृ से निष्पन्न बताया है, यास्क के अनुसार √घृ के आख्यात रूप प्राचीन काल में प्रयुक्त होते थे, लौकिक संस्कृत के काल में यह कुछ प्राचीन नाम पदों में ही शेष रह गई है[7] । वैयाकरण – √घृ (क्षरणदीप्त्योः) + क्त (अञ्जिघृषिभ्यः क्तः, उ० सू० ३. ८५)[8] ।

( तु० IE ghrto, gherto – 'MilK butter', Grish-gert 'Milk' )

**घृतनिर्णिक्**<घृत + निर् + √निच् (णिजिर् शौचपोषणयोः) + क्विप् । घृतं नेनेक्तीति – द्वितीया तत्पुरुष, पूर्वपदस्वर । सायण निर्निक् को रूपनाम भी मानते हैं[9] ।

**घृतप्रुषम्**<घृत + √प्रुष् (स्नेहनसेचनपूरणेषु) + क्विप् (क्विप् च, पा० ३. २. ७६), धृतेन उदकेन प्रुष्णाति पूरयतीति घृतप्रुट्, तम्[10] ।

---

१. सा० ऋ० घर्मा १०. ११४. १ ।
२. निरु० ११. ४२ – धर्म हरणम् ।
३. सा० ऋ० १०. १०६. ५ ।
४. ,, ,, १. १३. ५, ० पृष्ठाः १. १४. ६, ०प्रयाः ३. ४३. ३, घृताच्या० ३. २७. १ ।
५. ऋ० सं० २. १०. ४ जिघर्म्यग्निं हविषा घृतेन प्रतिक्षियन्त भुवनानि विश्वा ।
६. कपिष्ठलकठ सं० ३७. ८ – स घृङ् करोत् तद् घृतस्य घृतत्वम् । द्र० ऐ० ब्रा० १. १, ३. २२ ४. ७, ८. ८, २० ।
७. निरु० ७. २४ घृतमित्युदकनाम, जिघर्तेः सिचतिकर्मणः, तथा निरु० २. २ अथापि नैगमेभ्यो (धातुभ्यो, भाषिका, कृतो भाष्यन्ते-उष्णम्, घृतम् ।
८. श्वे० उ० वृ० ३. ८५ घरतिः यद्यपि अविशेषेणोपदिष्टः, तथापि घृतादिविषय एव तस्य प्रयोगः । तथा ह् युक्तं भाष्ये – 'घरतिरविशेषेणोपदिष्टः घृतं घृणा घर्म इत्येत्तद्विषय एव' इति पृ० १२० ।
९. सा० ऋ० २. ३५. ४, ३. १३. १, १० १२२. २. द्र० उद्० १०. १२. ३ ।
१०. ,, ,, १. ४५. १, ६. ४४. २०, द्र० स्क० ऋ० १. ४५. १ ।

**घृतस्नु**<(क)—घृत + √स्नु (प्रस्रवणे) + क्विप् (क्विप् च, पा० ३. २. ७६), तुक् का अभाव छान्दस, धातुस्वर। घृतं स्नुवन्तीति घृतस्नुवः, समास में कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर (गतिकारकोप०, पा० ६. २. १३९)।

(ख)—घृत + √स्ना (ष्णा) + कु (औणादिक)।

(ग)—घृत + स्नु < सानु (पदादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम्, वा० पा० ६, १. ६३)[1]। यास्क - घृत + √स्नु, घृत + √सृ (गतौ), घृत + √सन् (संभजने)[2]। गेल्डनर - घृत + √स्नु तथा ग्रासमान - घृत + स्नु < √स्ना[3]।

(तु० IE snāu 'to flow')

**घृताची** < घृत + √अञ्च् + क्विन् (ऋत्विक्०, पा० ३. २. ५९), नकारलोप अनिदिताम्०, पा० ६. ४. २४), अकारलोप (अचः, पा० ६. ४. १३८), दीर्घ (चौ, पा० ६. ३. १३८) = घृताच् + ङीप् (अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्, वा० पा० ४. १ ६), पूर्वपदान्तोदात्त (चौ, पा० ६. १. २२२)[4]।

**घृतासुती**<घृत + आ + √सु + क्त + ङीप्, घृतमासूयते आदीयते याभ्यां तौ तादृशौ यद्वा घृतमुदकं वृष्टि लक्षणं प्रसूयते सर्वत्रानुज्ञायते याभ्यां तौ[5]।

**घृताहवन**<घृत + आ √हु + ल्युट् (पा० ३. ३. ११७), घृतेन आहूयते अस्मिन्निति घृताहवनः, तृतीया समास (कर्तृकरणे कृता बहुलम्, पा० २. १. ३२), आद्युदात्त (आमन्त्रितस्य च, पा० ६. १. १९८)[6]।

**घृष्वि**< √घृष् (संघर्षे) + क्विन् (कृविघृष्विछविदविस्थविकिकिदिवः, उ० सू० ४. ५८) आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७) घर्षतीति घृष्विः[7]। दश० उणादिवृत्तिकार ने √घृ (क्षरणदीप्त्योः) + क्विन, षुक् का आगम— जिघर्तीति घृष्विः—व्युत्पत्ति दी है[8]। गेल्डनर √हृष् (ऋ० ग्ला० ५८)।

---

१. सा० ऋ० १. १६. २, १०. १२२. ६।

२. निरु० १२. ३६. – ० घृतप्रस्नाविन्यो, घृतप्रस्राविण्यो घृतसारिण्यो घृतसानिन्य इति। द्र० दुर्गाचार्य – वहीं।

३. ऋ० ग्ला० ५८, बोब्र० ४२५।

४. सा० ऋ० १. २. ७, ३. १९. २, २७. १, द्र० स्क० ऋ० १. २. ७, देव० नि० १. ७. १६।

५. ,, ,, १. १३६. १।

६. ,, ,, १. १२. ५, ४५. ५।

७. ,, ,, घृष्वये १, ३७. ४, घृष्वयः १. ८५. १, घृष्वेः ३. ४६, १, द्र० उज्ज्व० ४. ५६, श्वे० ४. ५८, सरस्व० २. १. २३५, उ० को० ४. ५६।

८. दश० उ० वृ० १. २६।

**घोष**< √घुष् ( संशब्दने ) + घञ् ( हलश्च, पा० ३. ३. १२१ ), लघूपधगुण, घुष्यते शब्द्यते इति घोषः, आद्युदात्त ( ञ्नित्यादिर्नित्यम् पा० ६. १. १९७ )[1]।

(तु० √घुष् IE gheus, 'to hear', Av, gaoš. 'to heare' )

**घोष** <घोषा नाम की कोई ब्रह्मवादी कक्षीवान् की पुत्री थी। उपचारवश उसके पुत्र को घोष कहा गया है। घोषे—स० ए०[2]।

**घोषान्**<√घुष् + शतृ, प्र० ए० धातुस्वर[3]।

**घोषि**< √घुष् + इन् ( औणादिक, उ० सू० ४. १२६ ), आद्युदात्त[4]।

**घ्नन्त**< √हन् ( हिंसागत्योः ) + शतृ, उपधालोप ) < (गमहन०, पा० ६. ४. ९८ ) कुत्व ( होहन्तेः०, पा० ७. ३. ५४ ), प्रत्ययस्वर[5]।

**घ्रंस**< √ग्रह ( उपादाने ) + घञ्, पृषोदरादि, ग्>घ्, नुक् का आगम, ह्>स् = घ्रंस, गृह्यन्तेऽस्मिन् रसा इति घ्रंसः[6]। यास्क –, ग्रस्[7]। स्कन्द इसे √घृ ( क्षरणदीप्त्योः ) से निष्पन्न क्रिया शब्द मानते हैं, अहर्नाम नहीं[8]। ग्रासमान – √घर् – ( वोबू० ४२७ )।

(तु० IE guhrn, 'hot', Lat. Fornus, 'Furnace')

---

१. सा० ऋ० ३. ७. ६, ३१. १०., द्र० निरु० ९. ९—घोषो घुष्यतेः, ऋ० ग्ला० ५९, वोबू० ४२६।
२. ,, ,, १. १२०. ५।
३. ,, ,, ३. ३३. ८।
४. ,, ,, ४. ४. ८, द्र० वोबू० ४२७।
५. ,, ,, १. ३६. ८, ४१. ८।
६. ,, ,, घ्रंसे ५. ३४. ३, द्र० देव० नि० १. ९. ६।
७. निरु० ६. १९—घ्रंस इत्यहर्नाम, ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः।
८. स्क० ऋ० १. ११६. ८।

—:•:—

# चतुर्थ अध्याय

# च

**चकमान**<√चम ( तृप्तौ ) + चानश् (ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्, पा० ३. २. १२८ )[१]। निघण्टु ( २. ६. १६ ) में यह कान्तिकर्मा धातुओं में पढ़ा गया है।

**चकान** (क)—<√कन् ( दीप्तिकान्तिगतिषु ) + लिट् + कानच्।

(ख) √कम्।

(ग) √कै ( शब्दे ) + कानच्[२]। अन्यत्र सायण ने √चक (तृप्तौ) + शानच् - व्युपत्ति दी है (अ० सं० २. ५. १)। स्कन्द ने √कन् (कान्तिकर्मा ) + यङ्लुक् + घञ्, अभ्यास को दीर्घाभाव छान्दस[३]।

**चकृवांसः**<चकृवस्<√कृ + लिट् + क्वसु ( क्वसुश्च, पा० ३. २. १०७ ), लितिस्वर ( पा० ६. १. ८ ), प्रत्यय आद्युदात्त (पा० ३. १. ३ )[४]।

**चक्रि** < √कृ ( करणे ) + किन् (आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च, पा० ३. २. १७१), गुणाभाव, यणादेश, द्वित्व, अभ्यास कार्य, नित्स्वर[५]।

**चक्षणम्**<√चक्ष् (व्यक्तायां वाचि ) + ल्युट्, चक्ष् को प्राप्त ख्याञादेश का अभाव ( असनयोश्च, वा० पा० २. ४. ५४ )। सायण के अनुसार वागभिव्यक्ति-वाची धातु यहाँ अभिव्यक्ति मात्र को लक्षित कर रहा है[६]।

**चक्षदानम्**<√क्षद् + कानच्, चित्स्वर[७]। स्कन्द इसे विशसन अर्थवाली मानते हैं[८]।

**चक्षस्**<√चक्ष् + असुन् ( औणादिक ), बाहुलक ख्याञादेश का अभाव, अथवा ( असनयोश्च, वा० पा० २. ४. ५४ ) इस नियम से[९]।

---

१. सा० ऋ० १०. ११७. २।

२. ,, ,, २. ३१. ७, ६. २९. १, ६८, ३।

३. स्क० ऋ० ६. ३६. ५।

४. सा० ऋ० १. १६१. ४, द्र० सा० अ०वा० २. ३५. ३।

५. ,, ,, १. ९. २, ३. १६. ४, ७. २०. १, द्र० स्क० ऋ० १. ९. २, ऋ० सं० ७. २०. १, चक्रि रथो नर्यो यत् करिष्यन्, ६. ८८. ४ इन्द्रो नयो महा-कर्माणि चक्रिः।

६. ,, ,, १. १३. ५ द्र० वोबू० ४३१।

७. ,, ,, १. ११६, १६।

८. स्क० ऋ० १. ११७. १८।

९. सा० ऋ० १. ७. ३, द्र० सा० अ० १. ५. १, ६. ६८ २, ७८. १, निरु० समु० पृ० ४५-४६।

**चक्षुस्**<√चक्ष् + असि प्रत्यय ( चक्षेः शिच्च, उ० सू० २. १२१ ), शित् होने से आर्धधातुक, अतएव ख्याञादेश का अभाव, नित्स्वर ( नब्विषयस्यानिसन्तस्य, फि० सू० २६ )[१]। ऐ० ब्रा० में √चक्ष् से निर्वचन मिलता है[२]। यास्क ने – √ख्या, √चक्ष्[३]। गेल्डनर सायण की व्युत्पत्ति से सहमत हैं ( वोबू० ४३२ )।

(तु० IE quêks—'to see', M Pers Časman, eye, Av. čaš)

**चख्वस्** (क)—< √चक्ष् + क्वसु,

(ख)—√खन् + क्वसु, अन् का लोप, छान्दस रूप[४]।

**चत्त** < √चते (याचने) + क्त प्रत्यय, निपातन से इट् का अभाव (ग्रसितस्कभित०, पा० ७. २. ३४)। सायण √चते ज्ञानकर्मा मानते हैं[५]।

**चनस्**<√चाय् (पूजानिशामनयोः) + असुन्, नुट् का आगम तथा धातु को ह्रस्व (चायेरन्ने ह्रस्वश्च, उ० सू० ४. २०५), यकारलोप, आद्युदात्त[६]। गेल्डनर √कन् (ऋ० ग्ला० ६०), ग्रासमान – <चन् (वोबू० ४३५)।

**चनोहितः**<चनस् + हित< √धा + क्त, चनस् की गति संज्ञा (पुनश्चनसोश्छन्दसि गतिसंज्ञा वक्तव्या० वा० पा० १. ४. ६०), प्रकृतिस्वर (गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४९), बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर[७]।

**चन्द्र**< √चन्द् (चदि आह्लादने, दीप्तौ च) + रक् (स्फायितञ्चि०, उ० सू० २. १३), प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त – 'चन्दति हर्षयति दीपयति वा स चन्द्रः'[८]। यास्क √चन्द् (कान्तिकर्मा), चारु + √द्रम्, चिर + √द्रम्, √चम् (अदने) + √द्रम्[९]।

---

१. सा० ऋ० १. २२. २०, १६४. १४, ३. २६. ७, ३७. २।

२. ऐ० ब्रा० १. ६—चक्षुर्वै विचक्षणम् विह्येनेन पश्यति, तथा २. २६, २७, ३२, ४०, श० ब्रा० १. ३. १. २७, ८. १. २. ३, शा० ब्रा० २. ७, ३. ५, ७. ३. ४।

३. निरु० ४. ३ चक्षुः ख्यातेर्वा चष्टेर्वा।

४. सा० ऋ० चख्वांसम् २. १४. ४।

५. „ „ चत्ताय १. १३२. ६।

६. „ „ १. ३. ६, २६. १०, १०७. ३, द्र० चनोहितः ३. ११. २।

७. „ „ ३. ११. २।

८. „ „ ०बुध्नः – १. ५२. ३, चन्द्रासः ३. ४०. ४, द्र० स्क० वहीं तथा ५. ६. ११६, सा० अ० १. ३. ४, देव० नि० १. २. २।

९. निरु० ११. ५ चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः, द्र० दुर्ग वहीं।

( तु० IE quand, 'to shine'. Lat. candere' 'shine' )

**चन्द्रमस्** <चन्द्र + √मा + असि प्रत्यय (चन्द्रे मो डित्, उ० सू० ४. २३३), चन्द्रमाह्लादनं मिमीते निर्मिमीते इति चन्द्रमाः, पूर्वपदप्रकृतिस्वर (दासीभारादित्वात्)[1]। सायण की व्युत्पत्ति ब्राह्मणों से मिलती है[2]। यास्क – √चाय् + √द्रम्, चन्द्र + √मा, चन्द्र + मान[3]।

( तु० IE Qand, to shine, Lat. candera, and IE mens, 'moon', month, Av. mah, 'moon', month ).

**चमू** < √चम् (चमु अदने) + ऊ प्रत्यय (कृषिचमितनिधनिसर्जिखर्जिभ्य ऊः, उ० सू० १. ७८), चमति भक्षयति शत्रून् इति चमूः सेना, प्रत्ययस्वर[4]।

**चमूषदः**<चमू + √सद् + क्विप् (सत्सूद्विष०, पा० ३. २. ६१), षत्व (सुषमादि होने से अथवा – पूर्वपदात्, पा० ८. ३. १०६), चमूषु सीदन्तीति चमूषदः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[5]।

**चम्रिषः** <चमू + इषः< √इष् (गतौ) + क प्रत्यय, यणादेश, वकार को रेफादेश छान्दस, चम्वां वर्तमाना इषः चम्रिषः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[6]।

**चम्रीषः**<(क)—चमू + इषः, वर्णव्यापत्ति से रेफ तथा दीर्घ, चम्वामिष्यति गच्छतीति चम्रीषः।

(ख)—√चम् + ईषन् (औणादिक), शेष पूर्ववत्[7]।

**चरथ**<√चर् + अथ प्रत्यय (शीङ्शपिरुगमि०, उ० सू० ३, १०६)[8]।

**चरध्यै**<√चर् + अध्यै तुमर्थ में[9]।

---

१. सा० ऋ० १. २४. १०, ८४ १५. १०५. १, द्र० सा० अ० ११. ३. २, सा० सा० उ० २. १. ३।

२. तै० ब्रा० २. २. १०. ३, १. ४. १० ७, ३. १. ६. १, श० ब्रा० ८. १. २. ८, ९. ४. १. ९, ११. ८ ३. ११, १२. ४. ४. ७, १४. ४. ३. २९।

३. निरु० ११. ५ – चन्द्रमाः चायन् द्रमति, चन्द्रो माता, चन्द्रं मानमस्येति वा, तथा द्र० दुर्ग वहीं, देव० नि० ५. ५. ३।

४. सा० ऋ० ३. ४८. ४, द्र० १. १४. ४, २८. ६, ५४. ९, देव० नि० ३. ३०.१६।

५. " " १. १४. ४, ५४. ९, द्र० वोबु० ४३७।

६. " " १. ५६. १।

७. " " १. १००. १२।

८. " " चरथाय १. ३६. १४, चरथन् १. ५८. ५, ३. ३१. १५।

९. " " १. ६९. १२।

**चराथा** < √चर् + अथक् (औणादिक), छान्दसदीर्घ, विभक्ति का आकार (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९)[१]।

**चरित्रम** < √चर् + इत्र प्रत्यय (अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः, पा० ३. २. १८४)[२]।

**चरु** < √चर् (गतिभक्षणयोः) + उ प्रत्यय (भृमृशीतृचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः, उ० सू० १. ७), चरतीति चरुः, चर्यते भक्ष्यते इति चरुः, प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त[३]।

( तु० IE quer 'plate', Ang. sax. hwer, Kettle )

**चर्कृतात्** < √कृ + यङ्लुक् + क्त प्रत्यय[४]।

**चर्कृत्यम्** < √कृ + यङ्लुक् = चर्कृ + क्यप् ( प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम्, परि० १०१ ) के सहयोग से (विभाषा कृवृषोः क्यप्,, पा० ३. १. १२०), तुगागम, धातुस्वर[५]। स्कन्द ने 'कृन्ततिर्वधकर्मा' कहकर √कृन्त से बनाया है[६]। ऋ० सं० में चर्कृत्य के साथ कृण्वतः का प्रयोग √कृ से व्युत्पत्ति संकेतित करता है[७]।

**चर्मन्** < √चर् (गतौ) + मनिन् (औणादिक, उ० सू० ४. १५५), चरति गच्छति येन तत् चर्म, आद्युदात्त ( ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)[८]। यास्क – √चर् तथा √चृत्[९]। स्कन्द – √चर्[१०]। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने √चृत् को √चृ का विकसित रूप माना है, जैसे √रुद् < √रु का। √चृ (हिन्दी चीरना) का अस्तित्व वेद में उपलब्ध होता है[११]।

( तु० Gr. pelma, Lat. corium, Hib. croicionn, Av. čardman. )

**चर्मम्ना** < चर्मन् + √म्ना (अभ्यासे) + विच् (आतो मनिन्०, पा० ३. २. ७४)[१२]। ग्रासमान – म्ना<म्ला स्वीकारते हैं (वोबू० ४४२)।

---

१. सा० ऋ० १. ६६. ५, द्र० स्क० वहीं।
२. ,, ,, १. ११६. १५, द्र० मा० धा० भ्वा० ३. ६४।
३. ,, ,, १. ७. ६, निरु० ६. ११ चरुः चरतेः समुच्चरन्त्यस्मादापः।
४. ,, ,, १. १०४. ५।
५. ,, ,, १. ६४. १४, ११९. १०।
६. स्क० ऋ० वहीं।
७. ऋ० सं० ८. ७३. ३ – यस्माद्रेजन्त कृष्टयश्चर्कृत्यानि कृण्वतः।
८. ,, ,, ४. ५. ७, द्र० मा० धा० भ्वा० ३६४, क्षीर० भ्वा० ३७२।
९. निरु० २. ५ – चर्म चरतेर्वोच्चृत्तं भवतीति वा०।
१०. स्क० निरु० वहीं।
११. एटि० यास्क० पृ० १०९।
१२. सा० ऋ० ८. ५. ३८।

**चर्षणि** < √कृष् (आकर्षणे, विलेपने)√अनि प्रत्यय तथा धातु के आदि को चकारादेश (कृषेरादेशश्च चः उ० सू० २. १०४) प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त[1]। यास्क – √चाय्[2]। वररुचि – √चाय् + √ऋष्[3]। देवराज० के अनुसार भट्टभास्कर 'आकर्षन्ति बशीकुर्वन्ति अर्थकर √ कृष् से ही निष्पन्न मानते हैं[4]। √ कृष् से व्युत्पत्ति उपयुक्त प्रतीत होती है। ग्रासमान – √चर् (वोबू० ४४२)।

**चर्षणिधृत्**<चर्षणि + √धृ (धारणे) + क्विप्, चर्षणयो मनुष्याः तान् वृष्टिदानादिना धारयन्तीति चर्षणिधृतः[5]।

**चलाचलासः**<चल का द्विर्भाव (चरिचलिपतिवदीनां द्वित्वमच्याक् चाभ्यासस्य, पा० पा० ६. १. १२) तथा अगागम, चलाचल + जस्, असुक् का आगम[6]।

**चायु**< √चाय् (पूजानिशामनयोः) + कु प्रत्यय (मृगय्वादयश्च, उ० सू० १. ३७), प्रत्ययस्वर[7]।

**चारु**< √चर् (गतिभक्षणयोः) + ञुण् (दृसनिजनिचरि०, उ० सू० १. ३) उपधावृद्धि (अत उपधायाः, पा० ७. २. ११६), चरतीति चारु शोभनम्, आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)[8]। यास्क √चर् तथा √रुच्[9]।

( तु० √चर् Lat. cārus, 'beloved' )

**चिकितः** (क)—< √कित् (ज्ञाने) + क्त, छान्दस द्विर्वचन।
(ख— √कित् + यङ्लुक् + क्त[10]।

**चिकितानः**< √कित् + लिट् + कानच् ( लिटः कानज्वा, पा० ३. २. १०६)[11]। गेल्डनर – √चित्, (ऋ० ग्ला० ६१)।

---

१. सा० ऋ० ०नाम् १. ७. ६, १७. २, ८६.६, ३. १०. १, ०धृतः ३. ३७. ४, स्क० ऋ० १. १०९. ५।
२. निरु० ५. २४ चर्षणिः चायिता, आदित्यः।
३. निरु० समु० मं० ३० चर्षणयो मनुष्याः, चायतेर्ऋषतेश्च, चायतिः पश्यतिकर्मा, ऋषतिर्गतिकर्मा।
४. देव० नि० २. ३. ८।
५. सा० ऋ० १. ३. ७, ३. ३७. ४।
६. ,, ,, १. १६४. ४८।
७. ,, ,, चायवः ३. २४. ४।
८. ,, ,, चारुम् १. १९. १, ३. ५२. ५, द्र० १. ६१. ७, ७२. २।
९. निरु० ८. १५, चारु चरतेः, तथा ११. ५, रुचेर्विपरीतस्य।
१०. सा० ऋ० १. ९१. १।
११. ,, ,, ३. १८. २।

**चिकित्वान्**< चिकित्वस् प्र० ए० । चिकित्वस्< √कित् (ज्ञाने) + क्वसु, द्विर्भाव – प्रत्ययस्वर[1] । ग्रासमान – √चित् (वोबू० ४४७) ।

(तु० अवे० चिकिथ्वाओ (चिकित्वः), चिकिथ्वाङ्)

**चित्**< √चित् (संज्ञाने) + क्विप् । चिते, च० ए०, विभक्ति को उदात्त (सावेकाचः, पा० ६. १. १६८)[2] ।

**चित्ति**<√चित् (संज्ञाने) + क्तिन्, आद्युदात्त[3] । (तु० अवे० चिष्टिः) ।

**चित्रश्रवस्तम**<चित्र + श्रवस् + तमप्, श्रवः यह अन्ननाम है । चित्रं श्रवो यस्य असौ चित्रश्रवाः, अतिशयेन चित्रश्रवाः चित्रश्रवस्तमः, आमन्त्रित अनुदात्त[4] । ऋ० सं० में चित्र की व्युत्पत्ति √चित् तथा √कित् से सूचित है[5] । नैरुक्त और वैयाकरण √चि से व्युत्पन्न करते[6] । इसका सम्बन्ध √चाय् (पूजायाम्) से भी है ।

(तु० IE Squit, 'bright' or 'to shine', Av. ciora √चाय् – IE quei – to watch, Gr. tereo, 'to observe')

**चेकिताना**< √कित् (ज्ञाने) + यङ् + शानच्, अभ्यास उदात्त[7] ।

**चेतनम्**< √चित् (संज्ञाने) + ल्युट् प्रत्यय से पूर्व उदात्त (लिति, पा० ६. १. १९३)[8] ।

**चेत्ता** < चेतृ< √चित् (संज्ञाने) + तृन् ताच्छील्य अर्थ में, आद्युदात्त[9] ।

**चेतिष्ठम्**<चेतृ + इष्ठन् (तुश्छन्दसि, पा० ५. ३. ५९), तृलोप (तुरिष्ठेमेयःसु, पा० ६. ४. १५४)[10] ।

---

१. सा० ऋ० १. २५. ११, ६८. ३, ७०. १, ३. ७. ३, १७. २, ४४. २, चिकित्वः १. ७०. ३, ३. १७. ५, ०त्वांसम् – ४. ७. ५, ०तुषः १. ७३. १ ।

२. „ „ १०. १४३. ४ ।

३. „ „ म० ४. २. ११ ।

४. „ „ १. ४५. ६ ।

५. ऋ० सं० ६. ६. ७ स चित्र, चित्रं चितयन्तमस्मे ।
„ „ ८. ४६. २० उग्र, चित्र, चेतिष्ठ, सूनृत ।
„ „ १०. ९१. ५ 'तवश्रियोवर्ष्यस्येव विद्युतश्चित्राश्चिकित्रउषसां न केतवः ।

६. निरु० ४.४, १२.६, १६, द्र० उ० सू० ४.१६३ – अमि – चि० मिदिशसिभ्यः क्त्रः ।

७. सा० ऋ० १. ११३. १५ ।

८. „ „ १. १३. ११, ३. १२. २, द्र० ऋ० ग्ला० ६३, वोबू० ४५८ ।

९. „ „ १. २२. ५, द्र० स्क० वहीं, सा० अ० ४. ८. २, वोबू० ४५८ ।

१०. „ „ १. १२८. ८ ।

**चोदयित्री**< √चुद् (प्रेरणे) + णिच् + तृच् + ङीप् (ऋन्नेभ्यो ङीप्, पा० ४. १. ५), ङीप् उदात्त (उदात्तयणो हल्पूर्वात्, पा० ६. १. १७४)[1]।

**चोष्कूयमाणः**< √स्कु (स्कुञ्, आप्रवणे) + यङ् (धातोरेकाचः०, पा० ३. १. २२), दीर्घ (अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः, पा० ७. ४. २५), द्वित्व, सकारलोप (शर्पूर्वाः खयः, पा० ७. ४. ६१), चुत्व (कुहोश्चुः, पा० ७. ४. ६२), गुण (गुणो यङ्लुकोः, पा० ७. ४. ८२), षत्व ( सुषमादित्वात् ) = चोष्कूय + शानच्, धातुस्वर[2]। स्कन्द तथा देवराज० √स्कु को दानार्थक मानते हैं[3]।

**च्यावयन्**< √च्यु (च्युङ् – गतौ) + णिच् + शतृ, च्यवयन्, संहिता में छान्दस दीर्घ, णिच्स्वर[4]।

## छ

**छंत्सत्** √छन्द् (कान्तिकर्मा) प्रत्यय संकेतित नहीं है[5]।

**छन्दस्**< √छद् ( संवरणे )। सायण ने प्रत्यय का संकेत नहीं किया है[6]। स्कन्द स्वामी छन्दस् को कान्तिवचन मानते हैं[7]। ब्राह्मणों में √छद् ( संवरण – छादन ) से निर्वचन किया गया है[8]। यास्क – √छादय् ( संवरण )[9]। स्कन्द छद् को व्याप्त्यर्थ बताते हैं[10]। वैयाकरण[11] – √चदि (आह्लादने)

---

१. सा० ऋ० १. ३. ११।
२. „ „ १. ३३. ३।
३. स्क० ऋ० वहीं, देव० नि० ४. ३. ९५।
४. सा० ऋ० ३. ३०. ४।
५. „ „ १. १३२. ६।
६. „ „ १. १. १।
७. स्क० ऋ० १. ९२. ६।
८. ऐ० ब्रा० २. ५—'छादयन्ति ह वा एनं छन्दांसि पापात्कर्मणः।' तै० सं० ५. ६. ६. १—प्रजापतिरग्निं चिनुत स चक्षुरपविर्भूत्वा तिष्ठत्तं देवा बिभ्यतो नोपायन्ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। श० ब्रा० ८. ५.२. १—यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। मै० सं० ३. ४. ७, देवा असुरान् हत्वा मृत्योरबिभ्युस्ते छन्दांसि अपश्यंस्तानि प्राविशंस्तेभ्यो यद् यदाच्छादयत् तेनात्मानमाच्छादयन्त, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् तै० सं० ५. ६. ६. १, जै० ब्रा० १. २८४, दे० ब्रा० ३. २०, तै० ब्रा० २. २. ८. ७, छा० उप० १. ४. २ तथा शा० भा० वहीं।
९. निरु० ७. १२ छन्दांसि छादनात्।
१०. स्क० निरु० वही।
११. उ० सू० श्वे० ४. २२४ चन्देरादेश्छः।

+असुन्, धातु के आदि को छकारादेश, चन्दति आह्लादयति वैदिकान् इति छन्दः। भोज ( छदिरहो नुट् ह्रस्वश्च, सरस्व० २. १. ३३१) तथा दुर्ग ( उ० सू० ४. ६५ ), √छद् से निष्पन्न मानते हैं। ग्रासमान – √छन्द् – वोबू० ४६१ (द्र० टर्नर० तु० को० २७३ )।

( तु० IE parallel – sked 'to cover' Gr. Keuthō 'to cover', Ang. sax, hoete. ru dress )

**छर्दिः**< √छृद् ( उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः ) + इसि प्रत्यय (अर्चिशुचिहुसृपिच्छदिछर्दिभ्य इसिः, उ० सू० २. १०६), लघूपधगुण, 'छृद्यते दीप्यते सुवर्णादिभिर्धनैः प्रकाश्यते इति छर्दिः। प्रत्ययस्वर[1]। ग्रासमान – √छद् ( वोबू० ४६२)।

## ज

**जगत्** (क)—<√गम् ( गतौ ) + अति तथा शतृवद्भाव ( वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च, उ० सू० २. ८४ ), निपातन से द्विर्वचन तथा मकारलोप, गच्छतीति जगत्, आद्युदात्त ( अभ्यस्तानामादिः, पा० ६. १. १८९)[2]।

(ख)—√गम् ( गतौ ) + क्विप् तथा द्वित्व (द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च, वा० पा० ३. २. ११८ ), अनुनासिकलोप ( गमः क्वौ, पा० ६. ४. ४० ), अभ्यास आद्युदात्त[3]। ग्रासमान – √गा, ( वोबू० – ४६३ )।

**जगुरिः**<√गृ ( निगरणे ) + किन् ( आदृगमहन०, पा० ३. २. १७१ ) उत्व (बहुलं छन्दसि, पा० ७. १. १०३)[4]। यास्क ने, गम् से निर्वचन किया है[5]।

**जग्ध्वाय**<√अद् ( भक्षणे ) + क्त्वा, धातु को जग्धि आदेश (अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति, पा० २. ४. ३६ ), क्त्वा को यक् ( क्त्वो यक्, पा० ७. १. ४७)[6]।

**जग्मि**<√गम् ( गतौ ) + किन् ( आदृगमहन्०, पा० ३. २. १७१, उत्सर्गश्छन्दसि, वा० पा० ३. २. १७१ ), उपधालोप ( गमहन०, पा० ६. ४. ९८ ), स्थानिवद्भाव से द्विर्भाव इत्यादि[7]।

**जग्मुषी**<√गम् + ( लिट् ) + क्वसु + ङीप् ( उगितश्च, पा० ४. १. ६ ), सम्प्र-

१. सा० ऋ० १. ४८. १५, ११४. ५।
२. ,, ,, १. १०१. ५।
३. ,, ,, १. ११५. १, द्र० देव० नि० २. ३. २१।
४. ,, ,, १०. १०८. १।
५. निरु० ११. २५—जगुरिः, जङ्गम्यतेः।
६. सा० ऋ० १०. १४६. ५।
७. ,, ,, १. ८५. ८, २. २३. ११, द्र० वोबू० ४६४।

सारण ( वसोः सम्प्रसारणम्, पा० ६. ४. १३१ ), उपधालोप ( गमहन०, पा० ६. ४. ९८)[१]।

**जग्रसान**<√ग्रस् ( अदने ) + कानच् छान्दस[२]।

**जघन**<√हन् हिंसागत्योः + अच् तथा द्वित्व ( हन्तेः शरीरावयवे द्वे च, उ० सू० ५, ३६ ), मध्योदात्त (कर्दमादि०, फि० सू० ५९)[३]। ऋ० सं० में अश्वाजनी के प्रसंग में इसकी व्युत्पत्ति √हन् से सूचित है। बार बार चाबुक से ताड़ित अंग जघन कहलाता था। सम्भवतया पशु के अंग से अवयव संस्थान की संघटना की समानता के कारण यह शब्द मनुष्य के अंग विशेष में भी रूढ़ हो गया[४]। यास्क तथा वैयाकरण भी √हन् से ही व्युत्पन्न मानते हैं।[५]

**जघ्नुषः**<जघन्वस् + ङसि, सम्प्रसारण ( वसोः सम्प्रसारणम्, पा० ६. ४. १३१ ) षत्व ( शासिवसिघसीनां च, पा० ८. ३. ६० ) उपधालोप ( गमहन०, पा० ६. ४. ९८ ), जघन्वस्<√हन् + क्वसु[६]।

**जघ्रिः**<√घ्रा (गन्धोपादाने ) + किन् ( आदृगमहन०, पा० ३. २. १७१ ), द्वित्व लिटि धातोरनभ्यासस्य, पा० ६. १. ८), आकारलोप ( आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४ ), आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)[७]।

**जज्ञान**<√जन् (प्रादुर्भावे ) + कानच् ( लिटः कानज्वा, पा० ३. २. १०६ ) उपधा-लोप ( गमहन०, पा० ६. ४. ९८), द्विर्वचन ( द्विर्वचनेऽचि, पा० १. १. ५९ ), नकार को ञकार (स्तोः श्चुना श्चुः, पा० ८. ४. ४०) अन्तोदात्त[८]।

**जठर** <√जन् ( प्रादुर्भावे ) + अर प्रत्यय तथा धातु को ठ अन्तादेश (जनेररठश्च, उ० सू० ५. ३९), जनयतीति जठरम् उदरं कठिनं च, प्रत्ययस्वर[९]। यास्क – जग्ध (√अद् + √धृ, जग्ध (√अद्) + √धा[१०]।

---

१. सा० ऋ० १. ११९. ५।
२. ,, ,, ४. १७. १, १०. १११. ६।
३. ,, ,, जघना—१. २८. २।
४. ऋ० सं० ६. ७५. १३ —आजङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उपजिघ्नते।
५. तु० निरु० २. २ में कक्ष और २. ७ में 'पाद' का निर्वचन।
६. निरु० ९. २० जघनं जङ्घन्यतेः, उ० वृ० श्वे० ५. १९, ५. ३६, दश० ५. २८, सरस्व० २. २. १९१, दुर्ग० २. ३७।
सा० ऋ० १. ३२. १४, द्र० स्क० वही।
७. ,, ,, १. १६२. १५, द्र० ऋ० ग्ला० ६४।
८. ,, ,, १. १२. ३, ६३. १, ३ ४४. ४, १०. ११३. ४, १२०. १, द्र० स्क० ऋ० १. १२. ३, सा० अ० ४. १. १, ऋ० ग्ला० ६४।
९. ,, ,, जठरात् ३. ३९. १४।
१०. निरु० ४. ७ जठरमुदरं भवति, जग्धमस्मिन् ध्रियते धीयते वा, द्र० देव० नि० ४. १. ९।

( तु० IE. Prototype, however, is gel-t 'swelling foetus', Ang. sax. Kild, 'Child ).

**जन** < √जन् (प्रादुर्भावे) + घञ् कर्म में, उपधा को वृद्ध्यभाव, (जनिवध्योश्च, पा० ७. ३. ३५), जन्यन्त इति जनाः, आद्युदात्त[1]।

( तु० IE Ĝen, Lat. gēns, Goth Kuni, Gr. Vivos).

**जनाषाट्**< जन + √सह् + ण्वि ( छन्दसि सहः, पा० ३. २. ६३), उपधावृद्धि, षत्व (सहेः साडः सः, पा० ८. ३. ५६), पूर्वपद को दीर्घ (अन्येषामपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७), जनान् सहते इति जनाषाट्[2]।

**जनि**< √जन् (प्रादुर्भावे) + इन् (इन्सर्वधातुभ्यः, उ० सू० ४. १२६), जन्यन्ते आसु जनयो जायाः स्त्रियः, आद्युदात्त[3]। ब्राह्मण इसे √जन् से ही निरुक्त मानते हैं[4]।

( तु० IE gwenā – gweni, ĝen 'to beget', to beare, Gr. Gune, opers, genna, ch. sl. žena )

**जनितृ**<(क)— √जन् ( जनने ) + तृच्, णिलोप निपातित ( जनिता मंत्रे, पा० ६. ४. ५३), अन्तोदात्त।

(ख)— √जन् (प्रादुर्भावे) + तृच् पूर्ववत्[5]।

**जनित्रम्**< √जन् (प्रादुर्भावे) + इत्र प्रत्यय भाव में (औणादिक), जननम् – जनित्रम्, प्रत्यय का आदि उदात्त (आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३)[6]। ब्राह्मणों में यह सामविशेष का नाम है। इसका निर्वचन √जन् से मिलता है[7]। भवविभूति भट्टाचार्य – √जन √ष्ट्रन (सार्वधातुभ्यः ष्ट्रन्, उ० सू० ४. १५६)

---

१. सा० ऋ० जनेभ्यः १. ७. १०, जनान्, १. ५०. ३, ०नाम् १. ६६. २।
२. ,, ,, १. ५४. ११, द्र० वोबू० ४७४।
३. ,, ,, जनयः – १. ८५. १, नाम० १. ६६. २।
४. श० ब्रा० ६. ८. २, ३ 'आपो वै जनयः अद्भ्यो हीदम् सर्वं जायते, तै० ब्रा० २. ६. ८. २, ३. ६. ३. ३, द्र० उ० वृ० श्वे० ४. १३६, दुर्ग० ४. ६, ऋ० ग्ला० ६५, वोबू० ४७५।
५. सा० ऋ० जनिता – १. ९६. ४, २. २३. २, ३. ४६. ४, ९. ६६. ५, ०तारा – ६. ६९. २, द्र० सा० अ० २. १. ३, वोबू० ४७५।
६. ,, ,, १. १६३. ४, द्र० सा० अ० १. २५. १, २. २८. ३, वोबू० ४७५।
७. ता० म० ब्रा० ८. २. ३ – 'वशिष्ठस्य जनित्रं प्रजाकामाय ब्रह्मसाम कुर्यात्' तथा १९. ३. ८।

अथवा √जन् + णिच् + तृच्, णिलोप निपातित (जनिता मन्त्रे, पा० ६. ४. ५३)[१]।

**जनित्वम्**<(क)— √जन् (प्रादुर्भावे) + त्वन् प्रत्यय (कृत्यार्थे तवैकेन्० पा० ३.४.१४), इट् का आगम, आद्युदात्त।

(ख)— √जन् (प्रादुर्भावे) + त्वन् (त्वक्तन्निक्शक्छढखक्टाटच्, दश० १०. १५)[२]। श्वेतवनवासी (उ० सू० ४. ११४) - √जन् + इत्वन्।

**जनिमन्**< √जन् ( प्रादुर्भावे ) + इमनिन् (जनिहृभ्यामिमनिन्, उ० सू० ४. १६०), भूतकाले जातानीति जनिम, नित्स्वर[३]। ऋ० सं० में जन्मन् तथा जनिमन् का परस्पर सम्बन्ध संकेतित प्रतीत है। 'जन्मन्' प्राचीनतर शब्द प्रतीत होता है, तथा स्वरभक्ति से उसी का विकास 'जनिमन्' हो गया[४]।

**जनुस्**<√जन् (प्रादुर्भावे) + उसि प्रत्यय (जनेरुसिः, पा० २. ११६), जन्यत इति जनुः अथवा जायते यत् तत् जनुः, प्रत्यय का आद्युदात्त (आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३)[५]।

**जन्मन्**<√जन् (प्रादुर्भावे) + मनिन् प्रत्यय (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५), आद्युदात्त[६]।

**जम्भे**< √जभ् (नाशने) + घञ् - करण में, जम्भ्यते भक्ष्यते अनेनेति जम्भमास्यम्। स्कन्द इसे पानार्थक मानते हैं[७]।

**जयुस्**< √जि (जये) + उसि प्रत्यय (औणादिक)[८]।

**जरणा**<√जॄ (स्तुति कर्मा) + ल्युट्, कर्म में,। जरणा<जरण + सु, विभक्ति को आकार ( सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९ ), व्यत्यय से लित्स्वर का अभाव[९]। सायण की व्युत्पत्ति ऋ० सं० से पुष्ट है। वहाँ √स्तु के पर्याय

---

१. सा० सं० १. २. ४ पर टिप्पणी।

२. सा० ऋ० १. ६६. ४, ८९. १०, द्र० सा० अ० ७. ६. १. ऋ० ग्ला० ६५, वोबू० ४७५।

३. ,, ,, जनिम० ३. ३१. ८, ४. २. १८, ०मानि - ३. ३८. ८, द्र० सा० अ० १. ८. ४, २. २८. २, वोबू० ४७५।

४. ऋ० सं० १. ७०. १, ६. १५. १३, ७. १०. २, १०. ५३. ६।

५. सा० ऋ० जनुषः १. ६१. १४, ०षा० १. ६४. ६, १०२. ८, ३. ४६. ४।

६. ,, ,, जन्मानि० १. ५०. ७, ७१. ३, द्र० देव० नि० १. १२. १८।

७. ,, ,, १. ३७. ५, द्र० स्क० वहीं।

८. ,, ,, जयुषा - १. ११७. १६, द्र० वोबू० ४७८।

९. ,, ,, १. १२१. ६, द्र० ऋ० ग्ला० ६५, वोबू० ४८०।

√जर् के साथ स्तुत्य के उपमान के रूप में 'जरणा' का प्रयोग किया गया है[1]।

**जरण्यया**<जरण्या < जरण + य प्रत्यय ( अन्त्यावस्थाच्छन्दसि च ) जरणक्रियार्हा जरण्या[2]।

**जरा**< √जॄ ( जॄष् वयोहानौ ) + अङ् प्रत्यय ( षिद्भिदादिभ्योऽङ्, ३. ३. १०४), गुण ( ऋदृशो ङि गुणः, पा० ७. ४. १६ ), जर+टाप्, स्त्री प्रत्यय ( अजाद्यतष्टाप्, पा० ४. १. ४), प्रत्यय का आदि उदात्त ( आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३ )[3]। यास्क – √ जॄ ( स्तुतौ[4] । ग्रासमान – √जर् ( वोबू० ४८० )।

( तु० IE, Guer (ā) lith, geras, 'good' )

**जरितृ**<√जॄष् ( वयोहानौ ) + तृच्, इट् का आगम्, अन्तोदात्त[5] । ऋ० सं० में यह धातु स्तुति और वयोहानि अर्थों में प्रयुक्त है। विश्वामित्र ने √जॄ के साथ कर्त्ता के रूप में जरितृ का प्रयोग किया है[6]। अन्यत्र भी 'जनितृ' के साथ 'स्तोतृ' के प्रयोग से इस व्युत्पत्ति को सूचित किया गया है[7]। यास्क – √गॄ > गरितृ > जरितृ[8]। देवराज – √जॄ ( अर्चतिकर्मा )[9]। ग्रासमान् – √जर् (वोबू० ४८० ) ।

**जरिमन्**<√जॄ ( जॄष् वयोहानौ ) + इमनिच्, भाव में ( औणादिक )। सायण √जॄ को स्तुत्यर्थक मानते हैं[10]। अन्यत्र पूर्वोक्त व्युत्पत्ति के साथ उन्होंने 'जरैव जरिमा' व्युत्पत्ति दी है[11]।

**जर्हृषाणः** (क)—<√हृष् ( तुष्टौ ) + यङ्लुक् = जर्हृष् + शानच् व्यत्यय से आद्युदात्त (अभ्यस्तानामादिः, पा० ६. १. १८९ )।

---

१. ऋ० सं० १०. ४०. ३ ।

प्रातर्जरेथे जरणेव कापयावस्तोर्वस्तोर्यजता गच्छथो गृहम् ।
कस्य ध्वस्ता भवथः, कस्य वा नरा, राजपुत्रेव सवनाऽवगच्छथः ॥

२. सा० ऋ० १. ११९. ७ ।

३. ,, ,, जराबोध—१. २७. १०, जरसे १. ९४. १४, द्र० सा० अ० ३. ३१. १ ।

४. निरु० १०. ८ जरा स्तुतिः, जरतेः स्तुतिकर्मणः ।

५. सा० ऋ० जरिता १. ३८. ५, ३. ५१. ३, ० भ्यः १. ३०. १० ।

६. ऋ० सं० १. २. २ उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः ।

७. ,, ,, ५. ४. १०, ६. ४०. ५ ।

८, निरु० १. ७ ।

९. देव० नि० ३. १६. २ ।

१०. सा० ऋ० १. ७१. १०, १०. ३२. ८, ०माणम्—१. ११६. २५ ।

११. सा० अ० २. २८. १ ।

(ख)—√हृष्+यङ्+शानच्, शप् लुक्, शानच् के आर्धधातुक (छन्दस्युभयथा, पा० ३. ४. ११७) होने से अतो लोप, यलोप, सार्वधातुक होने से अभ्यस्त का आदि उदात्त[1]।

**जलाषभेषजम्**<√जन् (प्रादुर्भावे) + ड प्रत्यय (अन्येष्वपि दृश्यते, पा० ३. २. १०१ – में दृशि ग्रहण से, केवल से भी) जायन्त इति जाः, लाषः<√लष् (कान्तौ) + घञ् (भाव में), कान्तिरभिलाषः, जानां लाषो यस्मिन् तत् जलाषम् (= सुखम्), जलाषरूपं भेषजं यस्मिन् रुद्रे स जलाषभेषजः, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृति स्वर[2]।

**जवनी**<√ जु (सौत्रधातु) + ल्युट् करण में = जवन + ङीप् (टिड्ढाणञ्०, पा० ४. १. १५), लित्स्वर से जकार से पर उदात्त[3]। ग्रासमान – √जू, (वोबू० ४८१)।

**जवीयान्**<जवस् + मतुप् (तदस्यास्ति०, पा० ५. २. ६४) + ईयसुन् (आतिशायनिक), मतुप् का लुक् (विन्मतोर्लुक् पा० ५. ३. ६५), टिलोप (टेः, पा० ६. ४. १५५)[4]। गेल्डनर तथा ग्रासमान √जू[5]।

(तु० जवस् Av. zavah zàvar, 'strength', 'power')

**जसुरि**<√जस् (हिंसायाम्) + उरिन् (जसिसहोरुरिन्, उ० सू० २. ७४), जासयतीति जसुरिः[6]। स्कन्द इसे ताडन अर्थ में स्वीकार करते है[7]। देवराज० पूर्वोक्त व्युत्पत्ति के साथ √अस् + उरिन् तथा धातु को जुट् का आगम-जसुरि भी व्युत्पत्ति देते हैं[8]।

**जहित**< √हा (त्यागे) + क्त, सार्वधातुक (छन्दस्युभयथा, पा० ३. ४. ११७) होने से यक्, यक् को श्लु (बहुलं छन्दसि), द्वित्व, इत्व (जहातेश्च, पा० ६. ४. ११६)[9]।

**जह्नावी**<जह्नु + अण् + ङीप् = जाह्नवी, ह्रस्व दीर्घ का व्यत्यय[10]।

---

१. सा० ऋ० १. ५२, २।
२. ,, ,, १. ४३. ४, द्र० सा० अ० २. २७, ६, देव० नि० १. १२ १००।
३. ,, ,, १. ५१. २।
४. ,, ,, १. ११७. २, ११८. १।
५. ऋ० ग्ला० ६६, वोबू० ४८१।
६. सा० ऋ० जसुरये—१. ११६. २२, द्र० निरु० ४. २४ जसुरिः जस्तमिव, वोबू० ४८२।
७. स्क० ऋ० ५. ६१. ७।
८. देव० नि० ४. १. ५१।
९. सा० ऋ० ०स्य० १. ११६. १०, द्र० स्क० वहीं।
१०. ,, ,, ०म् – १. ११६. १९, जह्नाव्याम् ३. ५८. ६।

स्कन्द ने मनावी जैसे जह्नावी (मनो रौ वा, पा० ४. १. ३८) छान्दस बनाया है[1]।

**जाः** < √जन् ( प्रादुर्भावे ) + ड प्रत्यय (अन्येभ्योऽपि दृश्यते, पा० ३. २. १०१), जायन्त इति जाः, प्रत्ययस्वर (आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३)[2]।

**जागरुक**< √जागृ (जागृ निद्राक्षये) + ऊक् प्रत्यय ताच्छील्य अर्थ में (जागरूकाः, पा० ३. २. १६५), प्रत्यय स्वर[3]। ग्रासमान – √जर् (बोबू० ४८२)।

**जागृवि**< √जागृ (निद्राक्षये) + क्विन् (जॄशॄस्तॄजागृभ्यः क्विन्, उ० सू० ४. ५६), कित् होने से गुणाभाव, जागर्तीति जागृविः, आद्युदात्त[4]।

( तु० IE ger, to wake, Gr. egeíro, 'I wake' )

**जातवेदस्**<जात + वेदस् (जातानि वेत्ति) का समास है। जात< √जन् + क्त, वेदस् < √विद् + असुन् तथा पूर्वपदप्रकृतिस्वर (गतिकारकयोरपि पूर्वपदप्रकृति-स्वरत्वं च, उ० सू० ४. २३२), बहुव्रीहि में भी पूर्वपदप्रकृति स्वर (बहुव्रीहौ प्रकृत्या०, पा० ६. २. १)[5]। ऋ० सं० के अन्तःसाक्ष्य से जातवेदस् – जात + वेदस् का समस्त रूप प्रमाणित होता है[6]। यास्क – जात + वेदस् (√विद ज्ञाने, सत्तायाम्, लाभे)[7]। स्कन्द ने यास्क के निर्वचन समेत 'जात + द्युत्' से भी व्युत्पन्न माना है – '०द्युतेर्वोत्तरपदं जातमात्र एव विद्योतते प्रज्ञानस्वभावत्वाद् जातविद्योतन इत्यर्थः' निरु० ७. १९। वैयाकरण जात (√जन्) + वेदस् (√विद् + असि) व्युत्पत्ति देते हैं[8]।

**जातूभर्मन्**<(क)—जातू + भर्मन् का समास, जातू< √जन् (प्रादुर्भावे) + ड प्रत्यय

---

१. स्क० ऋ० ०म् – १. ११६. १९, जह्नाव्याम् ३. ५८. ६।
२. सा० ऋ० १. १४३. ८, द्र० देव० नि० २. २. ९।
३. ,, ,, जागरूके ३. ५४. ७।
४. ,, ,, १. ३१. ९, १. २६. ३, २८. ५, ३७. ८, ५. ११. १, द्र० जागृवे ३. २४. ३, द्र० निरु० ९. ८, जागृविर्जागरणात्।
५. ,, ,, १. ४४. १, ५०. १, ३. २३. १, ५. ९. १, ०वेदसे – १. ९९. १, ३. १०. ३, द्र० सा० अ० २. १२. ८, ३. १. १, ७. ८७. ४।
६. ऋ० सं० १. १५. १३, ७०. २, ८७. ४, ३. ५५. १०, अ० सं० १. ८. ४, द्र० मै० सं० १. ८. २. ७, तस्मात् सर्वम् ऋतुं पशवोऽग्निमभिसर्पन्ति, न ह्येत ऋते अग्नेर्यज्जातं जातं विन्दते तस्माज्जातवेदाः, श० ब्रा० ९. ५. १. ६८, १. ६. १. ११, ऐ० ब्रा० २. ३९, ३. ३६।
७. निरु० ७. १९ – जातानि वेद, जातानि वैनं विदुः, जाते जाते विद्यत इति वा जातवित्तो वा = जातधनः, जातविद्यो वा = जातप्रज्ञानः, द्र० देव० नि० ५. १. २, नी० मं० पृ० १४४।
८. उ० वृ० श्वे० ४. २३२, दश० ९. ८७, द्र० ऋ० ग्ला० ६६, बोबू० ४८२।

(अन्येष्वपि दृश्यते, पा० ३. २. १०१) = जा + √तुर्व् (हिंसार्थक) + क्विप्, वलोप (राल्लोपः, पा० ६. ४. २१), जान् तुर्वतीति जातूः, भर्मन्, < √भृ + मनिन्. भ्रियत इति भर्म, जातूः भर्म यस्य, छान्दस रेफलोप, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर[1]।

**जानम्** < √जन् ( प्रादुर्भावे ) + घञ् प्रत्यय अधिकरण में, जन्यन्ते अस्मिन्निति जानमन्तरिक्षम्, अन्तोदात्त (वृषादित्वात्)[2]।

**जामाता**<जा ( √जन् ) + √मा ( माने ) + तृच् तथा अन्तोदात्त निपातित ( नप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृजामातृपितृदुहितृ०, उ० सू० २. ९६ ), जायत इति जा अपत्यम्, तस्य निर्माता दुहितुः पतिः[3]। यास्क – जा + मातृ[4]।

(तु० IE ĝem, 'to marry' Cr. gameo, 'I marry')

**जामि**<√जम् (अदने, गत्यर्थ) + इण् बाहुलक (जनिघसिभ्यामिण्, उ० सू० ४. १३९), जमन्ति सहैकस्मिन् पात्रे अदन्तीति जामयो बन्धवः, जमतिं गच्छतीति वा जामिः[5]। ऋ० सं० में √जन् से व्युत्पत्ति संकेतित है[6]। यास्क – √जन्, √जम् ( गति )[7]। देवराज० – √जम् ( गतिकर्मा ) + इञ् बाहुलक ( वसिवपियजि०, उ० सू० ४. १२१ ) तथा √जन् + इण्[8]। भवविभूति-भट्टाचार्य के अनुसार √या (प्रापणे) + मि प्रत्यय (उ० सू० ४. ४३), या का परिवर्तन जा में हो गया है[9]। लुई रनू के अनुसार यह भाई-बहन का अर्थ देता है, पर स्त्रीत्व प्रमुख है। यह स्वसृ के बगल में खड़ा हो सकने वाला शब्द है[10]।

**जायु**< √जि ( जये ) + उण् (कृवापाजिमि०, उ० सू० १. १). वृद्धि (अचो ञ्णिति, पा० ७. २. ११५), जयतीति जायुः[11]।

---

१. सा० ऋ० ०भर्मा – १. १०३. ३, द्र० बोबू० ४८३।

२. „ „ १. ३७. ९।

३. „ „ ८. २. २०।

४. निरु० ६. ९ – जा अपत्यं तन्निर्माता।

५. सा० ऋ० जामयः १. २३. १६, ७५. ४, जामिः १. ७५. ४, १०५. ६, ३. ५७. ३, द्र० वेङ् ८. ६. ३।

६. ऋ० सं० ३. ५४. ९ – सना पुराणामध्येम्यारान्महः पितुर्जनितुर्जामि तन्नः।

७. निरु० ३. ९ – जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति, जीनमपत्यम् जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो, निर्गमनप्राया भवति।

८. देव० नि० १. १२. २८, २. ५. १४।

९. सा० सं० १. २. ३ पर टिप्पणी।

१०. एत्यूद् स्यूर् लव्होकाब्युलेर् दन्यू ऋग्वेद, पृ० ४९।

११. सा० ऋ० १. ६१. १, ११९. ३, द्र० बोबू० ४८५।

**जार्**< √जॄ + घञ् प्रत्ययान्त निपातित ( दारजारौ कर्तरि णिलुक् च, वा० पा० ३. ३. २७ ), अन्तोदात्त ( कर्षात्वत:०, पा० ६. १. १५९ ), जरयतीति जार:[१] । ऋ० सं० में जार शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है—१—स्तुत्य, २—जीर्ण करनेवाला । यह √जॄ स्तुतौ तथा √जॄ (वयोहानौ) से व्युत्पन्न प्रतीत होता है[२] । यास्क - √जॄ[३] ।

( तु० IE. ĝer – 'to be old', M pers z al, 'old woman' )

**जिग्युष:**<√जि ( जये ) + क्वसु ( क्वसुश्च, पा० ३. २. १०७ ), द्विर्भाव, अभ्यास से उत्तर को कुत्व ( सन्लिटोर्जे:, पा० ७. ३. ५७ ), गुणाभाव, क्रादिनियम से प्राप्त इट् का अभाव ( वस्वेकाजाद्घसाम्, पा० ७. २. ६७ ) क्वसु-प्रत्यय स्वर = जिगीवस् + शस् ( द्वि० ब० ), भसंज्ञा, सम्प्रसारण ( वसो: सम्प्रसारणम्, पा० ६. ४. १३१), परपूर्वत्व, यणादेश (एरनेकाचोऽसंयोग-पूर्वस्य, पा० ६. ४. ८२ ), षत्व (शासिवसिघसीनां च, पा० ८. ३. ६० ), प्रत्ययस्वर से उकार उदात्त[४] ।

**जिघ्नमान:**<√हन् ( हिंसागत्यो: ) + क प्रत्यय ( घञर्थे क विधानम्, वा० पा० ३. ३. ५८ ), श्लुवद्भाव, द्वित्व, अभ्यास को इत्व ( बहुलं छन्दसि, पा० ७. ४. ७८ ), हन्तीति जिघ्न:, जिघ्न + क्विप् आचार अर्थ में, जिघ्न + चानश् ( ताच्छील्य अर्थ में ) व्यत्यय से आद्युदात्त[५] ।

**जिव्रि**< √जॄष् ( वयोहानौ ) + क्विन् ( जॄशॄस्तॄजागृभ्य: क्विन्, उ० सू० ४. ५६ ), इत्व ( ऋत इद्धातो:, पा० ७. १. १०० ), रेफ तथा वकार का स्थान विपर्यय (वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च, का० ६. ३. १०९ ), हलि च, (पा० ८. ३. ७७ ) से प्राप्त दीर्घ का अभाव ( उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानीति जिव्रि:, किर्यो:, गिर्योरित्येवमादिषु दीर्घो न भवति, वा० पा० ८. २. ७८ ), आद्युदात्त ( ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७ )[६] ।

**जिषे**<√जि ( जये ) + क्से प्रत्यय ( तुमर्थे सेसेन०, पा० ३. ४. ९ )[७] ।

**जिहीळानस्य**<जिहीडान + ङस्, ष० ए०, जिहीडान<√हेड् (अनादरे ) + कानच्,

---

१. सा० ऋ० १. ४६. ४, ६६. ४, ९२. ११, द्र० वेङ्० १. ४६. ६, १०. ११. ६ ।

२. ऋ० सं० १०. ४२. २ – सखायं प्रबोधय जरितर्जारमिन्दुम् ।
,, ,, १. ४६. ४ – हविषा जारो अपाम् ।

३. निरु० ३. १६ – आदित्यो जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता, द्र० दुर्ग वहीं ।

४. सा० ऋ० १. १७. ७, ६. ६५. ९, १००. ४, द्र० सा० अ० १०. २१. ६ ।

५. ,, ,, ३. ३०४ ।

६. ,, ,, १. ७०. ५, १००. ८ ।

७. ,, ,, १. १११. ४. ११२. १२ ।

द्विर्भाव, हलादिशेष, एकार का ईकारादेश छान्दस, अन्तोदात्त[1]। स्कन्द इसे क्रुध्यतिकर्मा ( तु० नि० २. १२ ) मानते हैं[2]।

**जिह्मशी**<जिह्म + √शी ( स्वप्ने ) + क्विप् ( क्विप् च, पा० ३. २. ७६ ), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर। जिह्मश्ये च० ए० यणादेश ( एरनेकाचः०, पा० ६. ४. ८२), विभक्ति स्वरित ( उदात्तस्वरितयोर्यणः, पा० ८. २. ४ )[3]।

**जिह्वाः**<√लिह् ( आस्वादने ) + वन् प्रत्यय निपातित ( शेवायह्वाजिह्वाग्रीवाप्वामीवाः, उ० सू० १. १४० ), लकार जकार में परिवर्तित, गुण का अभाव, व्यत्यय से अन्तोदात्त[4]। यास्क – √ ह्वे (स्पर्धायां शब्दे च )[5] देवराज – √लिह् + व √ह्वे + यङ् + क, √हु + यङ् + क[6]। वैयाकरणों में दश० (८. १२८) तथा भोज (सरस्व० २. ३. १३२) √लिह् से व्युत्पत्ति देते हैं—'लिहन्ति अनया रसान्' तथा श्वे० (उ० सू० १. १४०), √जीव् (प्राणधारणे) से और दुर्ग (२. २) √हा (त्यागे) + क्व से निष्पन्न मानते हैं।

( तु० IE dn̂ghwā. ( ? ) 'tongue', Lat. Lingua. Av. hizvā, hizū N Pers. zabān )

**जीर**< √जु गत्यर्थक, सौत्रधातु) + रक् प्रत्यय तथा धातु को ईकार अन्तादेश (जोरी च, उ० सू० २. २६), जवति सूक्ष्मो भवतीति जीरः[7]। कात्यायन के अनुसार ज्य + रक्, सम्प्रसारण (रकि ज्यः सम्प्रसारणम्, जीरेति – पा० म० १. १. ४)[8]। देवराज० √जु + ईक, ईकारान्तादेश[9]। श्वेतवनवासी तथा दश० √जु से एवं भोज तथा दुर्ग √जि से व्युत्पन्न मानते हैं[10]। पतञ्जलि – √जीव् ( प्राणधारणे ) + रक्, वलोप[11]। ग्रासमान – √जि (वोबू० ४६१)।

---

१. सा० ऋ० १. २५. २।
२. स्क० ,, ,,।
३. सा० ऋ० १. ११३. ५, द्र० वोबू०, ४९०।
४. ,, ,, ,, ३. २०. २।
५. निरु० ५. २६ – जिह्वा जोहुवा।
६. देव० नि० १. ११. २९।
७. सा० ऋ० १. ४४. ११, ४८. ३, ११९. १।
८. ,, ,, १. ४४. ११।
९. देव० नि० २. १५. ५।
१०. उ० वृ० श्वे० २. २६, दश० ८. ४१. सरस्व० २. ३. २६, दुर्ग० २. १६।
११. पा० मा० १. १. ४।

**जीवयाजम्**<(क)—जीव + √यज् + घञ् अधिकरण में, कुत्वाभाव छान्दस, जीवाः ऋत्विजः इज्यन्ते दक्षिणाभिः पूज्यन्ते अत्रेति ।

(ख)—जीव + याजि (ण्यन्त) + घञ्, णिलोप, थाथादि स्वर से उत्तर-पदान्तोदात्त[1] ।

**जीवसे**<√जीव् + असे प्रत्यय तुमर्थ में (तुमर्थे०, पा० ३. ४. ६), प्रत्ययस्वर[2] ।

**जीवातुम्**< √जीव् (प्राणधारणे) + आतु प्रत्यय (जीवेरातुः, उ० सू० १. ७६) जीवति अनेनेति जीवातुः[3] ।

**जगुर्वणी**< √गॄ + (यङ्लुक्) + क्विप् = जुगुर् छान्दसरूप, जुगुर् + √वन् (संभक्तौ) + इन् ( छन्दसि वनुसनरक्षिमथाम्, पा० ३. २. २७ )[4] । परन्तु √गॄ (शब्दे)>गुर् (बहुलं छन्दसि, पा० ७. १. १०३) + वन् प्रत्यय (औणादिक), व्यत्यय से द्वित्व, पूर्वसवर्णदीर्घ ( वा छन्दसि, पा० ६. १. १०६ ) धातु का अन्त उदात्त (गति०, पा० ६. २. १३९ तथा पा० ६. १. १६७) व्युत्पत्ति अधिक संगत है । ग्रासमान - √गुर् (वोबू० - ४६३) ।

**जुजुर्वस्**< √जॄष् (वयोहानौ) + क्वसु (क्वसुश्च, ३. २. १०७), उत्व (बहुलं छन्दसि, पा० ७. १. १०३), रपर (उरण् रपरः, पा० १. १. ५१), द्विर्भाव (लिटि धातोरनभ्यासस्य, पा० ६. १. ८), इट् आगम का अभाव (वस्वेकाजाद्-घसाम्, पा ७. २. ६७), प्रत्ययस्वर ( आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३ )[5] । जुजुरुषः - पं० ए०, सम्प्रसारण (वसोः सम्प्रसारणम्, पा० ६. ४. १३१), षत्व (शासिवसिघसीनां च, पा० ८. ३. ६०)[6] ।

**जुष्ट**< √जुष् (प्रीतिसेवनयोः) + क्त, ष्टुत्व (पा० ८. ४. ४१), इट् प्रतिषेध (श्वीदितो निष्ठायाम्, पा० ७. २ १४), आद्युदात्त (जुष्टार्पिते च छन्दसि नित्यं मन्त्रे, पा० ६. १. २१०)[7] ।

**जुष्टि**<√जुष् + क्तिन्, इट् का अभाव (तितुत्र०, पा० ७. २. ९), आद्युदात्त[8] ।

**जुष्ट्वी**<(क)— √जुष् + क्तु ( औणादिक ) + ङीष् (वोतो गुणवचनात्, पा० ४. १. ४४) ।

---

१. सा० ऋ० १. ३१. १५ ।
२. " " १. २५ २१, ३६. १८, ३७ १५, ९१. ७, १०७. २४ ३. ३६. १० ।
३. " " ०तुम्० १. ९१. ६, द्र० सा० अ० ६. ५. २ ।
४. " " १. १४२. ८ ।
५. " " ०वान्० १. ३७. ८ ।
६. " " १. ११६. १० ।
७. " " १. १०. १२, ३३. २, ४४. २ ७३. १०, ३. ५९. ५ ।
८. " " १. १०. १२ ।

(ख)—√जुष्, "स्नात्व्यादयश्च", ( पा० ७. १. ४९ ) को आकृतिगण मानकर निपातित[1]।

**जुहुराणा**< √हुर्च्छा (कौटिल्ये) + सन् + आनच् तथा सन् का लुक्, छकारलोप (हुर्च्छेः सनो लुक् छलोपश्च, उ० सू० २. ९३), हूर्च्छितुमिच्छति सन्, जुहूर्च्छिषतीति जुहुराणः, द्विवचन में विभक्ति को डादेश[2]। अन्यत्र सायण ने √ह्वृ (कौटिल्ये) + कानच् से व्युत्पन्न किया है[3]। गेल्डनर - √हुर्च्छ, (ऋ० ग्ला० ६८ )।

**जुहू** < (क)—√हु ( दानादनयोः) + क्विप् तथा श्लुवद्भाव (हुवः श्लुवच्च, उ० सू० २. ६० ), द्विर्वचन, चकारात् धातु को दीर्घ, चुत्व, जश्त्व, हूयतेऽनेनेति जुहूः होमसाधनम्, अन्तोदात्त (धातोः, पा० ६. १. १६२)[4]।

(ख)—√हु + क्विप्, द्वित्व तथा धातु को दीर्घ (जुहोतेर्द्वे दीर्घश्च, वा० पा० ३. २. १७८)[5]। ब्राह्मण √हु (दानादनयोः) से निर्वचन करते हैं[6]।

( तु० Gr. Khu - in, kheo ( forkhe, fo ) Khulos, Khumos, Lat. fūtis, 'waterpot' )

**जूति** < √जू (सौत्र धातु) + क्तिन् (करण में) निपातन से अन्तोदात्त (ऊतियूतिजूति०, पा० ३. ३. ९७)[7]। वेंकटमाधव - - √ जॄ स्तुतिकर्मा[8]। ग्रासमान - √जू, (वोबू० ४९८)।

**जूर्णा** < √जॄष् (वयोहानौ) + क्त, इट् प्रतिषेध (श्र्युकः किति, पा० ७. २. ११), उत्व ( बहुलं छन्दसि, पा० ७. १. १०३ ), दीर्घ, निष्ठा को नकार (रदाभ्याम्०, पा० ८. २. ४२), प्रत्ययस्वर[9]।

**जूर्यत्**<√जूरी (हिंसावयोहान्योः) + शतृ, श्यन्, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[10]।

१. सा० ऋ० १. ११८. ५, ६. ९७. १६, द्र० स्क० ऋ० १. ११८. ५।
२. ,, ,, ८. २६. ५।
३. सा० अ० १८. १. ३३।
४. सा० ऋ० १. १२. ६, ५८. ४, ६१. ५, १४५. ३, २. २०. ६।
५. ,, ,, ३. ३१. ३, ४ ४. २, १०. १०९. ५, द्र० सा० अ० १८. ४. ५।
६. मै० सं० ३. १. १ - जुह्वा वै देवा विराजम् अह्वायन्त, तज्जुह्वा जुहूत्वम्, श० ब्रा० १. ३. २.२ - ४, तै० ब्रा० ३. ३. १. १ - ५. छा० उप० ३. १५. २ - जुह्वति अस्यां जुहू, वोबू० ८९७।
७. सा० ऋ० १ ११:. २, ३. १२. ३, ३४. २, द्र० स्क० ऋ० १. ११६. २।
८. वेङ्० ऋ० ३. ३. ८।
९. सा० ऋ० जूर्णायाम् १. ४६. ३।
१०. ,, ,, जूर्यत्सु ३. २३. १।

**जेन्य**< (क)—√जन् (प्रादुर्भावे) + एन्य प्रत्यय (औणादिक)

(ख)—√जि ( जये ) + केन्य (कृत्यार्थे तवै०, पा० ३. ४. १४),

(ग)— √जि ( जये ) + यत्, बाहुलक (अचो यत्, पा० ३. १. ९७) तथा नुट् का आगम, आद्युदात्त ( यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३)[1] । ग्रासमान – √जन्, (वोबू० ४९९) ।

**जेमन्**< √जि + मनिन् ( अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५ ), छान्दस दीर्घ का अभाव, जेमना, प्र० द्वि०[2] ।

**जेष्**< (क)— √जि ( जये ) + स प्रत्यय औणादिक ।

(ख)√—जेष् (गतौ) + क्विप् (क्विप् च, पा० ३. २. ७६) । जेषे – चतुर्थी के अर्थ में सप्तमी विभक्ति उदात्त (सावेकाचः ०, पा० ६. १. १६८)[3] । स्कन्द तुमर्थ में से प्रत्यय मानते हैं[4] । ग्रासमान – √जि, (वोबू० ४९९) ।

**जोगुवानः**<√गु (गुङ् अव्यक्ते शब्दे) + यङ्लुक् + शानच्, अभ्यस्त का आदि उदात्त (अभ्यस्तानामादिः, पा० ६. १. १८९)[5] ।

**जोषम्**<√ जुष् (प्रीतिसेवनयोः) + घञ् प्रत्यय भाव में, आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७) । स्कन्द इसे गतिकर्मा मानते हैं[6] ।

**जोहूत्र**<(क)— √ह्वे + यङ्लुक्,

(ख)— √हु । सायण ने प्रत्यय का संकेत नहीं किया है[7] । ग्रासमान – √हू, (वोबू० ५००) ।

**जैत्रीः**< √जि ( जये ) + तृन्, गुण के स्थान पर व्यत्यय से वृद्धि, नित्स्वर । जैतृ + ङीप् = जैत्री[8] ।

**ज्ञास्** < √ज्ञा (अवबोधने) + असुन् (औणादिक), सुखदुःखादिकं साम्येन जानन्तीति ज्ञासो ज्ञातयः, व्यत्यय से विभक्ति उदात्त[9] ।

**ज्याकाः**< ज्या + क प्रत्यय कुत्सा अर्थ में ( कुत्सिते, पा० ५. ३. ७४ ) कुत्सिता ज्या

---

१. सा० ऋ० १. ७१. ४, जेन्या – १. ११९. ५, ३. ३१. ११ ।
२. ,, ,, १०. १०६. ६, द्र० वोबू० ४९९ ।
३. ,, ,, १. १००. ११ ।
४. स्क० ऋ० १. १००. ११ ।
५. सा० ऋ० १. ६१. १४ ।
६. ,, ,, १. ७७. ५, १२०. १, द्र० स्क० ऋ० ६. ६४. ५, ऋ० ग्ला० ६९, वोबू० ५०० ।
७. ,, ,, १. ११८ ९, २. २०. १ ।
८. ,, ,, ३. ३१. ४ ।
९. ,, ,, ज्ञासः – १. १०९. १ ।

ज्याका[1]। अन्यत्र (अ० सं० १. २. २) सायण ने अज्ञात अर्थ में क प्रत्यय से निष्पन्न किया है।

**ज्योतिस्**< ✓द्युत् ( दीप्तौ ) + इसिन् प्रत्यय तथा धातु के आदि द कार को जकार (द्युतेरिसिन्नादेशश्च जः, उ० सू० २. ११२), द्योतते इति ज्योतिः, आद्युदात्त ( ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७ )[2]। ऋ० सं० में 'ज्योतिः' और 'द्योतनि' के युगपत् प्रयोग से ज्योतिष् < ✓द्युत् से विकसित प्रतीत होता है[3]। वररुचि ✓द्युत् + क्तिन्[4]। ग्रासमान – ✓ज्युत्, (वोबू० ५०४)।

**ज्रयः**< ✓ज्रि ( अभिभवे ) + असुन् ( सर्वधातुभ्योऽसुन्, उ० सू० ४. १८९ ) ज्रीयतेऽभिभूयतेऽनेनेति ज्रयो वेगः, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[5]। स्कन्द इसे गतिकर्मा मानते हैं (तु० नि० २. १४)[6]।

( तु० Av. zrayah, O pers. drayah, N pers. daryā = समुद्र अथवा छोटी नदी )।

**ज्रयसान**< ✓ज्रि ( गतौ ) + असानच् बाहुलक (छन्दस्यसानच्, शवजॄभ्याम्, उ० सू० २. ८६), अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[7]।

•

---

१. सा० ऋ० १०.१३३. १।
२. ,, ,, १. २३. ५, ४८. ८, द्र० निरु० २. १ तथा स्क० भा० वहीं।
३. ऋ सं० १०. १२. ७ सूर्ये ज्योतिरदधुर्मास्यक्तून्, परिद्योतनिं चरतो अजस्रा।
४. निरु० समु० मं० ३४, पृ० ३५।
५. सा० ऋ० १. ९५. ६, १०१. ७, द्र० ऋ० ग्ला० ७०, वोबू० ५०६।
६. स्क० ऋ० १. ६१. ९।
७. सा० ऋ० ०सानो – ५. ६६. ५, ०सानस्य – ०. ११५. ४, द्र० वोबू० ५०६।

# पञ्चम अध्याय

# त

**तक्वान**< तकु + शानच् तकु < √तक् ( गतौ ) + उ प्रत्यय (औणादिक) यहाँ गति से मन्दगति लक्षित है। तकुरिवाचरन् इस अर्थ में तकु + क्विप् (सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वक्तव्यः, वा० पा० ३. १. ११), आद्युदात्त (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)[1]।

**तक्वन्** < √तक् ( प्रसहने ) + वनिप् ( अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५ ), तकति गच्छतीति तक्वा, सायण √तक् को गत्यर्थक मानते हैं[2]।

**ततम्** < √तन् ( विस्तारे ) + क्त प्रत्यय, इट् प्रतिषेध ( यस्य विभाषा. पा० ७. २. १५), अनुनासिकलोप (अनुदात्तोपदेश०, पा० ६. ४. ३७)[3]। वैयाकरण √तन् + तन् प्रत्यय तथा वह कित् होता है ( तनिमृङ्भ्यां कित्, उ० सू० ३. ८४ ), अनुनासिक लोप, गुण का अभाव, तनोतीति ततम् – विस्तीर्णम्। पर श्वेतवनवासी निष्ठा से ही सिद्ध करना उपयुक्त मानते हैं[4]।

**ततुरिः** < √तॄ ( प्लवनतरणयोः ) + किन् प्रत्य (आदृगमहन०, पा० ३. २. १७१), उत्व ( बहुलं छन्दसि, पा० ७. १. १०३ ), रपर ( उरण् रपरः, पा० १. १. ५१) द्वित्व, अभ्यासकार्य, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[5]। ऋ० सं० में 'प्रतिरते' क्रिया के साथ उसके कर्ता के रूप में 'ततुरिः' का प्रयोग कर √तॄ से इसके निर्वचन को स्पष्ट किया गया है[6]। श० ब्रा० से भी इसकी पुष्टि होती है[7]।

**तत्सिन** <तत् + सिन< √सि ( षिञ् बन्धने ) + नक् प्रत्यय (इण्सिञ्दीङुष्यविभ्यो नक्, उ० सू० ३. २, दश० ५. ३५), सिनोति सीयते वा सिनः कायः, बन्धो वा, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर[8]।

**तन** < (क)— √तन् ( विस्तारे ) + क्विप् (क्विप् च, पा० ३. २. ७६)।

---

१. सा० ऋ० ०स्य – १. १२०. ६, द्र० स्क० वही।
२. ,, ,, तक्वा – १. ६६. १।
३. ,, ,, १. ११०. १।
४. उ० वृ० श्वे० ३. ८४ "निष्ठायां रूपे स्वरे च सिद्धे प्रपञ्चार्थं सूत्रम्। 'निष्ठा च द्व्यजनात्', इत्याद्युदात्तस्य विधानात् स्वरेऽपि समानः।"
५. सा० ऋ० १. १४५. ३।
६. ऋ० सं० ६. ६८. ७ 'प्र सद्यो द्युम्ना तिरते ततुरिः'।
७. श० ब्रा० १. ८. १. २२-२३ सर्वं ह्येसषा पाप्मानं तरति तस्मादाह ततुरिः।
८. सा० ऋ० तत्सिनाय – १. ६१. ४।

(ख)— √तन् + अच् (पचादि), आद्युदात्त (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)। तना – तृ० ए०, विभक्ति को आकार (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९) तनोति देवता माहात्म्यं विस्तारयतीति तना[1]।

**तनयित्नु**< √तन् ( = √स्तन्, शब्दार्थे) + इत्नुच् प्रत्यय (स्तनिहृषिपुषिशुषिगदिभ्यो णेरित्नुच्, उ० सू० ३. २९), अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[2]।

( तु० Lat. tonitrus )

**तनु** < √तन् + उ प्रत्यय करण में ( अर्तिपृवपियजितनिधनित्रपिभ्यो नित्, उ० सू० २. ११८ ), प्रत्यय आद्युदात्त[3]।

**तनूनपात्**<तनू + नपात्, तनूर्न पातीति तनूनपात्। तनू < √तन् (विस्तारे) + ऊ प्रत्यय ( कृषिचमितनिधनिसर्जिखर्जिभ्य ऊः, उ० सू० १. ७८ ), व्यत्यय से आद्युदात्त। नपात् < √पा ( रक्षणे ) + क्विप्, √पत् + णिच् + क्विप्, न + पात्, नञ् को निपातन से प्रकृतिभाव (नभ्राण०, पा० ६. ३. ७५), न पाति, न पातयति वा नपात्, नञ्स्वर। तनूनपात् में कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर को बाधकर उभयपदप्रकृतिस्वर ( उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्, पा० ६. २. १४०)[4]। ब्राह्मणों में तनु + नपात् < √पा रक्षणे ), तनु < √तन्, √तप् ( तपने ) निर्वचन मिलता है[5]। यास्क – तनू ( जल ) + नपात्[6]। पीटर्सबर्ग में तनू = स्वयम्, नपात् – पौत्र अर्थ किया गया है।

( तु० IE nepot grandson' or nephew – Ang. sax nefa 'nephew').

**तन्यतुः**<(क)—तन् ( विस्तारे ) + यतुच् (ऋतन्यञ्जि०, उ० सू० ४. २), तनोतीति तन्यतुः।

(ख)— √स्तन् ( शब्दे ) + यतुच् बाहुलक तथा सकार लोप[7]। यास्क √तन्[8]।

( तु० IE ten, sten, 'to thunder', Gr. sténō 'I groan' )

---

१. सा० ऋ० १. २९. ६, ३८. १३, ७७. ४।
२. ,, ,, ० यित्नोः ४. ३. १, द्र० १०. ६६. ११, वोबू० पृ० ५१८।
३. ,, ,, तनूनाम् २. २१. ६।
४. ,, ,, ३. २९. ११।
५. "ते – यत् तन्वम् समबाधन्त तत् तानूनप्त्रस्य तानूनप्त्रत्वम् – का० सं० २४. ९, २३. २४, गो० ब्रा० २. २. ३, प्राणो वै तनूनपात् स हि तन्वः पाति – ऐ० ब्रा० २. ४, द्र० ग्रीष्मो वै तनूनपात्, ग्रीष्मो वै तनूनपात्, ग्रीष्मो ह्यासां प्रजानां तनूस्तपति श० ब्रा० १. ५. ३. १०, १. ५. ४. २, १. ६. १. ८, ० – ग्रीष्मो हि तन्वं तपति" – कौ० ब्रा० ३. ४।
६. निरु० १३. ५ – आपोऽत्र तन्व उच्यन्ते।
७. सा० ऋ० १. २३. ११, ५२. ६ ९. १००. ३, १०. ६६. १०. द्र० १. ११६.१२।
८. निरु० १२. ३० तन्यतुः तनित्री (माध्यमिका वाक्), वोबू० ५२१।

**तपुषिम्**<(क)— √तप् (संतापे) + उषिन् (औणादिक), बाहुलक इकार इत्,

(ख)— √तप् + उसि (अर्तिपृवपियजि०, उ० सू० २. ११८) तथा नित्, अकार को इकार छान्दस, आद्युदात्त[1]। यास्क √तप्[2]।

( तु० IE tap 'to be warm' Lat. tepēre, 'to be warm'

**तरणि** < √तॄ (प्लवनतरणयोः) + अनि (अर्तिसृभृघृधम्यश्यवितॄभ्योऽनिः, उ० सू० २. १०३), गुण, तरतीति तरणिः, प्रत्ययस्वर[3]। ऋ० सं० में तरणि का प्रयोग √तॄ से निष्पन्न नाम 'तूर्षु' के साथ मिलता है, जिससे इसकी व्युत्पत्ति, सूचित होती है[4]। ग्रासमान - √तर्, (वोबू० ५२६)।

**तरीषणि**< √तॄ + ईषन् (कृतॄभ्यामीषन्, उ० सू० ४. २७), बहुलवचन से नलोप का अभाव, छान्दस अन्तोदात्त[5]।

**तरुतृ**<(क)— √तॄ + तृच् निपातन से (ग्रसितस्कभित०, पा० ७. २. ३४) उडागम, अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)।

(ख)— √तॄ + तृन् बाहुलक, आद्युदात्त[6]। ऐ० ब्रा० में √तॄ (तरणे) से निर्वचन किया गया है[7]।

**तरुत्रम्**<(क)— √तॄ (प्लवनतरणयोः) + उत्र प्रत्यय (अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ, उ० सू० ४. १७६, दश० ८.९३), तरन्त्यनेन तरुत्रम् - प्लवः, व्यत्यय से आद्युदात्त।

(ख)— √तॄ (प्लवनतरणयोः + तृन् (ग्रसितस्कभित०, पा० ७. २. ३४), तरुतृ + अम्, आद्युदात्त[8]।

**तरुषः** < √तॄ + उसिन् (औणादिक)[9]। ग्रासमान - √तर्, (वोबू० ५३०)।

**तवस्** < √तु (सौत्रधातु) + असि (औणादिक)[10]। स्कन्द इसे वृद्ध्यर्थक मानते हैं[11]।

---

१. सा० ऋ० १. ४२. ४, ३. ३०. १७।
२. निरु० ६. ३. - तपुषिस्तपतेः, द्र० वोबू० ५२३।
३. सा० ऋ० १. ५०. ४, ३. २९. १३, ३१. ३, तरणित्वा १. ११०. ६. द्र० देव० नि० २. १५. २५, क्षीर० स्वा० ४९४।
४. ऋ० सं० १. ११२. ४ - द्विमाता तूर्षु तरणिर्विभूषति।
५. सा० ऋ० ५. १०. ६।
६. ,, ,, १. २७ ९, ४०. ८, ११९. १०, १२९. २, १०. १७८. १. द्र० स्क० ऋ० १. २७. ९. सा० अ० ७. ९०. १, सि० कौ० पा० ७. २. ३४।
७. ऐ० ब्रा० ४. २० एषा वै सहावसन्स तरुतैषहीमांल्लोकान् सद्यस्तरति"।
८. सा० ऋ० १. ११७. ९, द्र० स्क० वहीं।
९. ,, ,, १. १२२. १३।
१०. ,, ,, १. ५१. १५, ११४. १, द्र० वोबू० ५३१।
११. स्क० ऋ० वहीं।

देवराज० √ तु + असच् ( अत्यविचमितमिनमिरमिनमितपिपनिभ्योऽसच्, उ० सू० ३. १११ )[१]।

**तविष** < √तु + टिषच् प्रत्यय (तवेर्णिद्वा, उ० सू० १. ४७), अन्तोदात्त[२]।

**तविषी**< (क)— √तु + टिषच् + ङीप्, तवन्ति संचरन्ति आकाशे इति तविषा वायवः।

(ख)— √ तव् (गतौ, सौत्रधातु) + टिषच्, ङीप् आद्युदात्त[३]। यास्क – √तु (वृद्धिकर्मा)[४]। देवराज – √तु + टिषन् + ङीप,[५]।

( तु० IE teu – to swell, Gr. taiis, 'great' )

**तविष्यया**< √तु (वृद्ध्यर्थ) + इ प्रत्यय (अच इः, उ० सू० ४. १८४), = तवि + क्यच् (इच्छा अर्थ में) सुगागम (सर्वप्रातिपदिकेभ्यः०, वा० पा० ७. १. ५१)[६]।

**तव्यम्** < √तु + यत् (अचो यत्, पा० ३. १. ९७), आद्युदात्त (यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३)[७]।

**तव्यसी** < √तु (वृद्ध्यर्थ, सौत्र धातु) + तृच् (ण्वुल्तृचौ, पा० ३. १. १३३) + ईयसुन् (तुश्छन्दसि, पा० ६. ३. ५९), 'तृ' लोप (तुरिष्ठेमेयःसु, पा० ६. ४. १५४) गुण, छान्दस ईकार लोप, तव्यस् + ङीप् ( उगितश्च, पा० ४. १. ६), आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)[८]।

**तातृपिम्**< √तृप् (प्रीणने) + किन् प्रत्यय (किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्, वा० पा० ३. २. १७१), लिड्वद्भाव, द्विर्वचन, संहिता में दीर्घ (अन्येषामपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७)। आद्युदात्त (पा० ६. १ १९७)[९]।

**तात्या** < तत् (√तन् विस्तारे) + त्य प्रत्यय छान्दस, दकार को आत्व[१०]। गेल्डनर भी तत् से व्युत्पन्न मानते हैं। (ऋ० ग्ला० ७२)। वस्तुतः—

√तन् + क्तिच् ( क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्, पा० ३. ३. १७४), तन्यते विस्तीर्यते इति तातिः, तौ तात्या, विभक्ति को आकार (सुपां सुलुक्०,

---

१. देव० नि० ३. ३. ६।
२. सा० ०ऋ० षस्य – ३. ३४. २, द्र० वोबू० ५३२।
३. ,, ,, १. ३५. ४।
४. निरु० ९. २५. ० बलनाम तवतेर्वृद्धिकर्मणः।
५. देव० नि० २. ९. १०।
६. सा० ऋ० ९. ७०. ७।
७. ,, ,, १. ५४. १?, द्र० स्क० वहीं।
८. ,, ,, १. १४३. १, तव्यसे० १. ४३. १, द्र० स्क० वहीं, तव्यान् ३. ३२. ११. द्र० स्क० निरु० ७. १०
९. ,, ,, ३. ४०. २।
१०. ,, ,, १. १६१. १२।

पा० ७. १. ३९) ताति + आ, यणादेश ( इको यणचि, पा० ६. १. ७७ ), प्रत्यय का अन्तोदात्त ( चितः, पा० ६. १. १६३ ), यह व्युत्पत्ति संगत प्रतीत होती है।

**तार्क्ष्यः** < तृक्ष + यञ् (गर्गादिभ्यो यञ् पा० ४. १. १०५), तृक्षस्य अपत्यम् – तार्क्ष्यम्, आद्युदात्त (पा० ६. १.१९७)[1]। यास्क – तीर्ण + √क्षि, तूर्ण + √रक्ष्, तूर्ण + √अश्[2]।

**तिगित** < √तिज् ( निशाने ) + क्त, इट् का आगम (आर्धधातुकस्येड्वलादेः, पा० ७. २. ३५ ), अन्त्यविकार छान्दस, वस्तुतः – ( न्यङ्क्वादीनां च, पा० ७. ३. ५३), प्रत्ययस्वर (आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३)[3]।

( तु० तिज्० – Gr. Stizo, Lat. distingno )

**तिग्म** < √तिज् + मक् (युजिरुचितिजां कुश्च, उ० सू० १. १३२) तथा कवर्गादेश, तेजयतीति तिग्मम्[4]। ऋ० सं० में √तिज् से व्युत्पन्न 'तेतिक्त' तथा 'तेजस्, के साथ 'तिग्म' के प्रयोग से इन दोनों का सम्बन्ध प्रकट किया गया है[5]।

(तु० IE Prototype is tig 'pointed', to prik, Av. tigra – pointed).

**तिग्मानीकम्**<तिग्म + √अन् ( प्राणने ) + कीकन् ( अनिदृशिभ्यां च, उ० सू० ४. २१), अनितीति अनीकं सेना तिग्मं तीक्ष्णमनीकं यस्य, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर[6]।

**तितउना**< √तन् + ड उ प्रत्यय (तनोतेर्ड उः सन्वच्च, उ० सू० ५. ७२), सन्वद्भाव, द्वित्व, इत्व ( सन्यतः, पा० ७. ४. ७९ )[7]। यास्क – √तन्, तुद्, तिल + √तुद्[8]। स्कन्द ने √तन् अथवा √तुद् + मतुप् प्रत्यय निष्ठा के अर्थ में, उपधा को इत्व, वकार को सम्प्रसारण, पर लोप तथा √तुद् के उपधा

---

१. सा० ऋ० १. ८९. ६, १०. १७८. १, द्र० सा० सा० ४. ५. १।

२. निरु० १०. २७ – "तार्क्ष्यः तीर्णे अन्तरिक्षे क्षियति, तूर्णमर्थं रक्षति, अश्नोतेर्वा। द्र० देव नि० १. १४. १४।

३. सा० ऋ० १. १४३. ५, द्र० वोबू० ५३४।

४. ,, ,, १. ३३. १३, ७९. १० ९५. २, ३. ४८. ३।

५. ऋ० सं० ४. २३. ७ – तेतिक्ते तिग्मा तु जसे अनीका।
,, ,, ६. १५. ९ तिग्मेन नस्तेजसा संशिशाधि।
द्र० निरु० १०. ६ तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः, देव० नि०. २. २०. १४।

६. सा० ऋ० १. ९५. २।

७. ,, ,, १०. ७१. २, द्र० पा० म० पस्पशाह्निक, उ० वृ० श्वे० ५. ७२।

८. निरु० ४. ९ – तितउ परिपवनं भवति, ततवद्वा, तुन्नवद्वा, तिलमात्रतुन्नमिति वा। द्र० देव० निरु० ४. १. १०।

को इत्व करके रूप निष्पन्न किया है[1]। डा० सिद्धेश्वर वर्मा – तितवु>तितउ मानते हैं[2]।

( तु० IE teu – ā 'to sift', Gr. τῶ 'I sift' )

**तितिर्वांसः**< √तॄ ( प्लवनतरणयोः ) + क्वसु, इट् का अभाव (वस्वेकाजाद्घसाम्, पा० ७. २. ६७ ), इत्व ( ऋत इद्धातोः, पा० ७. १. १०० ), गुण (ऋच्छत्यृताम्, पा० ७. ४. ११), दीर्घ (हलि च, पा० ८. २. ७७) का अभाव (संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः, तु० परि० ९४) अथवा 'तिरतिः' को प्रकृत्यन्तर समझना चाहिए[3]। स्कन्द इसे वधकर्मा भी मानते हैं (तु० नि० २. १९)[4]। ( तु० पालि – तितरा, हिन्दी – तितर )।

**तिल्विल**< √तिज् ( स्नेहने ) > तिलु + इला, यणादेश, तिल्विला > तिल्विल, तिलुः स्निग्धा भूमिर्यस्य तत् क्षेत्रं तिल्विलम्, देवयजनम्। स्कन्द इसे गतिकर्मा मानते हैं[5]।

**तीर्थ** < √तॄ (प्लवनतरणयोः) + थक् प्रत्यय (पातॄतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्, उ० सू० २. ६), इत्व ( ऋत इद्धातोः, पा० ७. १. १०० ), दीर्घ (हलि च, पा० ८. ३. ७७), तीर्यतेऽनेनेति तीर्थम् पुण्यं गुरुश्च – श्वे०[6]। ग्रासमान – √तर्, (वोबू० ५३७)।

**तुग्र्या** < तुग्र ( = अन्तरिक्ष) + घन् प्रत्यय (तुग्राद्घन्, पा० ४. ४. ११५), प्रत्यय को इयादेश, छान्दस इकारलोप, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[7]। तुग्र<√तुज्, (वोबू० ५३८)।

**तुर** < (क)— √तुर् (त्वरणे) + क प्रत्यय (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः, पा० ३. १. १३५)।

(ख)— √तुर्व् ( हिंसार्थक ) + अच् ( पचादि ), छान्दस वलोप[8]। यास्क –

---

१. स्क० नि० वहीं।

२. एटि० यास्क पृ० ७८।

३. सा० ऋ० १. ३६. ७।

४. स्क० ऋ० १. ३६. ७।

५. सा० ऋ० तिल्विले ५. ६२. ७, द्र० स्क० वहीं।

६. ,, ,, १. ४६. ८, द्र० गो० ब्रा० ५. ५. २ 'तीर्थेन हि प्रतरन्ति, तद् यथासमुद्रं तीर्थेन प्रतरेयुः। श० ब्रा० १२. २. १. १, शा० ब्रा० १८. ९, ता० म० ब्रा० १. १. ७, ९. ४. १२, षड्० ब्रा० ३. १. मा० धा० म्वा० ६८६।

७. ,, ,, १. ३३. १५, द्र० देव० नि० १. १२. २१।

८. ,, ,, तुरः १. १८. २, १२१. ३, तुराय० १. ६१. १, तुरस्य – १. ६१. १३ ९६. ८. तुरासः ३. ५४. १३, द्र० सा० अ० ?. १६. २, ७. ५२. २, स्क० ऋ० १. ६८. ९–१०, ६. ४९. १२।

√त्वर्[1]। स्कन्द स्वामी √त्वर्, √तुर्व्. तु + √रिष्[2]। ग्रासमान √तुर्, (वोबू० ५४१)। पीटर्सबर्ग – √तु।

**तुर्**<√(क)— √तॄ (प्लवनतरणयोः) + क्विप्।

(ख)— √त्वर् (त्वरते) + क्विप्[3]। ऋ० सं० में √तॄ से निष्पन्न 'तरणि' के साथ 'तुर्' का प्रयोग किया गया है[4]।

**तुराषाट**<√त्विरा + क्विप्, ऊठ् (ज्वरत्वर०, पा० ६. ४. २०), तुरा + √सह् (षह अभिभवे) + ण्वि (छन्दसि सहः, पा० ३. २. ६३), तुरं तूर्णं सहते अभिभवति शत्रून् इति तुराषाट्। स्कन्द इसे √तुर्वी (हिंसार्थक) से व्युत्पन्न मानते हैं[5]।

**तुरीयम्**<चतुर् + छ प्रत्यय (चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च, वा० पा० ५. २. ५१) प्रत्यय को ईयादेश (आयनेयी०, पा० ७. १. २), प्रत्यय स्वर से इकार उदात्त (आयनादिषूपदेशिवद्वचनं स्वरसिद्ध्यर्थम्, वा० पा० ७. १. २)[6] यास्क – √त्वर[7]।

(तु० IE qutur, fourth, Av. tūirya)

**तुर्फरी**< √तृफ् (हिंसार्थ) + रि प्रत्यय, उत्व (औणादिक)[8]। ग्रासमान – √तृफ् (= √तृप्) (वोबू० ५४२)।

**तुर्फरीतू**<(क)—√तृफ् (हिंसायाम्) + तृच् = तुर्फरीतृ + औ = तुर्फरीतू, पृषोदरादि से इसकी निष्पत्ति होती है।

(ख)—√तृफ् + अरीतु प्रत्यय, उत्व (औणादिक)[9]।

**तुर्वणिः**<√तुर्वी (हिंसार्थ) + अनि (औणादिक)[10]। यास्क – तूर्ण + √वन्[11]।

---

१. निरु० १२. १४ – तुर इति यमनाम, त्वरया तूर्णगतिः।
२. स्क० निरु० ३. २१. ७. १०।
३. सा० ऋ० १. ११२. ४।
४. ऋ सं० वही – तूर्षुतरणिर्विभूषति।
५. सा० ऋ० ३. ४८. ४, द्र० स्क० ऋ० ६, ३२. ५, सा० अ० २. ५. ३।
६. ,, ,, १. १५. १०, द्र० सा० अ० १. १६. १, ३१. ३।
७. निरु० १३, ८ – तुरीयं त्वरतेः।
८. सा० ऋ० १०. १०६. ६।
९. ,, ,, १०. १०६. ६, द्र० वेङ्० वहीं।
१०. ,, ,, १. ५६. ३।
११. निरु० ६. १४ – तुर्वणि तूर्णवनिः

देवराज० – तूर्ण + √वन् (संभजन) + इन् ( इन् सर्वधातुभ्यः उ० सू० ४. ११४ ) > तूर्णवनिः > तूर्वणि – तूर्णं वनोति संभजते तूर्णवनिः[१]। ग्रासमान – √तुर्, (वोबू० ५४३)।

**तुर्वश**<√तुर्वी (हिंसार्थ) + अश् (औणादिक), सरस्व० २. ३. १४२)[२]। देवराज० –

(क)— √तुर्वी + अशच्

(ख)— √तूर् + क्विप + √अश् + अच्, वकारोपजन,

(ग)— √तूर् + √वश ( कान्तौ ) + अप् (वशिरण्योरुपसंख्यानम्, वा० पा० ३. ३. ५८)।

(घ)—चतुर + वश, चकारलोप – चतुर्षु धर्मार्थकाममोक्षेषु वश एषामिति चतुर्वशः सन्तः तुर्वशाः[३]।

**तुर्वीतिम्**<√तुर्वी + ईति ( औणादिक ), शत्रूंस्तूर्वतीति तुर्वीतिः। यह किसी राजर्षि का नाम है[४]।

**तुविकूर्मिः**<तुवि + √कृ + मि प्रत्यय, गुण, अकार का इत्व छान्दस उकार का दीर्घ (हलि च, पा० ८. ३. ७७)[५]।

**तुविग्रि** < तुवि + √गॄ (शब्दे) + कि प्रत्यय (औणादिक)[६]। ग्रासमान – √गिर्, (वोबू० ५४४)।

**तूर्णि**< √त्वरा ( संभ्रमे ) + नि प्रत्यय ( वहिश्रिश्रुयुग्लाहात्वरिभ्यो नित्, उ० सू० ४. ५३ ), ऊठादेश ( ज्वरत्वर०, पा० ६. ४. २० ), त्वरते इति तूर्णिः, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[७]। ब्राह्मण √तॄ ( तरण ) से निर्वचन करते हैं[८]। यास्क – त्वर्[९]।

( तु० IE twarta – to hasten, OH G dweran, Av. B wása, 'swift')

---

१. देव० नि० ४. ३. ५७।

२. सा० ऋ० १. १०८. ८।

३. देव० नि० २. ३. १५।

४. सा० ऋ० १. ११२. २३।

५. ,, ,, ३. ३०. ३, द्र० ऋ० ग्ला० ७४, वोबू० ५४३।

६. ,, ,, ० ग्रये – २. २१. २।

७. ,, ,, तूर्णयः – १. ३. ८, तूर्णिः ३. ११. ५, ०म् ३. ५१. २, द्र० ३. ५२. ५, देव० नि० २. १५. १२।

८. ऐ० ब्रा० २. ३४ – वायुर्वै तूर्णिर्हव्यवाड् वायुर्हीदं सर्वं सद्यस्तरति यदिदं किञ्च, द्र० तै० ब्रा० २. ४. ८. २, ३. ५. ३. १, श० ब्रा० १. ४. २. १२।

९. निरु० ७. २७ (लक्ष्मणसरुप)।

**तृण** < √तृह् (हिंसायाम्) + क्नन् प्रत्यय तथा ह् लोप (तृहेः क्नन् हलोपश्च, उ० सू० ५. ७), कित् होने से गुण का अभाव, तृह्यते तद् गवादिभिरिति – तृणम्, नित्स्वर[1]। यास्क – √तृद्[2]। श्वेतवनवासी के अनुसार – यद्यपि √तृण् (अदने) + क प्रत्यय ( इगुपधलक्षण ) से भी तृण की सिद्धि सम्भव है, पर स्वरसिद्धि के लिए पुनर्वचन आवश्यक है[3]।

( तु० Goth, thaurnus )

**तृष्णज** < √तृष् (पिपासायाम्) + नजिङ् (स्वपितृषोर्नजिङ्, पा० ३. २. १७२) + ड प्रत्यय (अन्येष्वपि दृश्यते, पा० ३. २. १०१), तृष्णा जाता यस्य स तथोक्तः, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर[4]।

( तु० IE trs 'to be dry' Goth. thaúrsus 'dry')

**तृष्णा** < √तृषा (पिपासायाम्) + न प्रत्यय (तृषिशुषिरसिभ्यः किच्च, उ० सू० ३. १२), आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[5]।

( तु० Av. tŕsyati, Lat. tostus )

**तोकसाति** < तोक + साति (< √सन् (षणु दाने), दीयतेऽस्मिन्नपत्यमिति तोकसातिः[6]। यास्क – तोक < √तुद्[7]। देवराज – √तुद् + घ, साति < √स्तु + क, √तु (सौत्रधातु)[8]। ग्रासमान – √तुच् – वोबू० ५५१। डा० सिद्धेश्वर वर्मा भी ऋ० ६. ४८. ९ के आधार पर √तुच् से व्युत्पत्ति की सम्भावना व्यक्त करते हैं[9]।

( तु० IE teug – 'seed', Av. taoxman, seed' )

**तोशतम** < (क) — √तुष् > तोश, छान्दस शकार, तुष्यतेस्तोषः,
(ख) √ — तोश ( वधकर्मा ), नितोशयति निबर्हयति ( देव० नि० २, १९. १९)[10]। ग्रासमान – √तुष्, (वोबू० ५५१)।

---

१. सा० ऋ० तृणा ३. २१. ६।
२. निरु० १. १२ 'यत्किंचित्तृन्घात् तत् तृणम्'।
३. उ० वृ० श्वे० ५. ७।
४. सा० ऋ० १. ८५. ११, १०५. ७, द्र० स्क० ऋ० १. ८५. ११, निरु० ११. १५ तृष्णक् तृष्यतेः, वोबू० – ५५०।
५. ,, ,, तृष्णया १. ३८. ६।
६. ,, ,, १०. २५. ९, द्र० उद्० वहीं।
७. निरु० १०. ७ तोकं तुद्यतेः।
८. देव० नि० २ २ २।
९. एटि० यास्क – पृ० १०९।
१०. सा० ऋ० १. १६९. ५।

**त्मनम्** < आत्मनम्, आकारलोप (आङोऽन्यत्रापि च्छन्दसि दृश्यते, वा० पा० ६. ४. १४१), उपधादीर्घ का अभाव (संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वात्, तु० परि० ६४)[१]।

**त्मन्या** < आत्मन् + टा स्त्रीप्रत्यय, तृ० ए० विभक्ति को यादेश, आत्मन के आकार का लोप (मन्त्रेष्वाङ्यादेः, वा० पा० ६. ४. १४१)[२]।

**त्रा** < √त्रै (त्रैङ्, पालने) + क्विप्, त्रायते इति त्राः[३]।

**त्रामन्** < √त्रा (√त्रै) + मनिन्, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[४]।

**त्रिधातु** < त्रि + √धा (धारणपोषणयोः) + तुन् प्रत्यय (सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन्, उ० सू० १. ६५), त्रयाणां धातूनां समाहारः – त्रिधातु, समाहारद्वन्द्व, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७), समास में कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर (परादिश्छन्दसि०, पा० ६. २. १९९)[५]। यह व्युत्पत्ति ब्राह्मणों में भी मिलती है[६]।

(तु० त्रि – IE treyes, Gr. treîs, Lat. trēs, tria, Eng. three

धातु – IE dhē – 'to put', Gr. tithēmi, Lith. (pa) deti, Lett. dēt, Av. dā 'to put')

**त्रिबन्धुर** < त्रि + √बन्ध् + उरन् प्रत्यय (औणादिक), बध्नन्तीति बन्धुराः, त्रयो बन्धुरा यस्यासौ त्रिबन्धुरः, त्रिचक्रादि गण में पाठ होने से उत्तरपदान्तोदात्त (त्रिचक्रादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्, वा० पा० ६. २. १९९)[७]।

**त्रिविष्टिधातु** < त्रि + √विश् + क्तिन् + धातु, त्रिधा प्रकारेण विष्ट्या प्रवेशनेन विधीयते क्रियते इति त्रिविष्टधातुः त्रिगुणिता रज्जुः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[८]।

---

१. सा० ऋ० १. ६३. ८, द्र० त्मन् ४. ४. ९, त्मनाः १. ३०. १४, ४१. ६, ५४. ४, ७९. ६. ३. ९. ५. ५. १० ४. १०. १३३. ५, त्मने० १. ११४. ६।

२. „ „ १०. ११०. १०।

३. „ „ त्राम्० १. १००. ७।

४. „ „ त्रामभिः – १. ५३. १०, द्र० वोबू० ५५५।

५. „ „ १. ३४. ६, ७, ३. ५६. ६।

६. तै० सं० २. ४. १२. ७ यत् त्रिः प्रायच्छत् त्रिः प्रत्यगृह्णात् तत् त्रिधात्रोस् = त्रिधातुत्वम् द्र० तै० ब्रा० ३. ३. ७. ११।

७. सा० ऋ० ०रेण १. ४७. २, द्र० काशिका – पा० ६. २. १९९, अन्तोदात्तप्रकरणे त्रिचक्रादीनां छन्दस्युपसंख्यानं त्रिचक्रेण त्रिबन्धुरेण।

८. सा० ऋ० १. १०२. ८।

**त्रिवृत्** < त्रि + √वृत् ( वर्तने ) + क्विप् ( क्विप् च, पा० ३. २. ७६ ), त्रिषु लोकेषु वर्तत इति त्रिवृत्[1] ।

( तु० Lat. vertere, Sl. vruteti, vrateti, Lith. vartyati, Goth. Wairthon, Gr werden, Eng. Ward )

**त्रिषधस्थ**< त्रि + सह् + √स्था ( गतिनिवृत्तौ ) + क प्रत्यय ( सुपि स्थः, पा० ३. २. ४), आकार लोप (आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४), सह को सध आदेश (सधमादस्थयोश्छन्दसि, पा० ६. ३. ९६), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[2] ।

**त्रिष्ठ** < त्रि + √स्था + क (सुपि स्थः, पा० ३. २. ४), आकार लोप, षत्व (अम्बाम्ब०, पा० ८. ३. ९७)[3] ।

**त्वक्षस्** < √त्वक्ष् (तनूकरणे) + असुन्, आद्युदात्त ।

**त्वचि**<√तनु ( विस्तारे ) + चिक् प्रत्यय (तनोतेरनश्च वः, उ० सू० २. ६४) तथा धातु के अन् को 'व' आदेश, तनोति तायते वा त्वक्, त्वचि – स० ए०, विभक्ति उदात्त (सावेकाचः, पा० ६. १. १६८)[4] । श्वेतवनवासी √त्वच् ( संवरणे ) + क्विप् ( संपदादि ), त्वचतीति त्वक् व्युत्पत्ति उपयुक्त मानते हैं[5] ।

**त्वष्टृ**<(क)— √त्वक्ष ( तनूकरणे ) + तृन् ( औणादिक, २. ९६ ), ककारलोप (स्कोः संयोगाद्योरन्ते च, पा० ८. २. २९), ष्टुत्व, आद्युदात्त ।

(ख)— √त्विष् ( दीप्तौ ) + तृन् निपातित (नप्तृनेष्टृ०, उ० सू० २. ९६)[6] । यास्क – तूर्ण + √अश्, √त्विष् (वृद्ध्यर्थ), √त्वक्ष् (करोतिकर्मा)[7] ।

( तु० IE tueq – 'to weave' Plait, Av. thwaxsa )

---

१. सा० ऋ० १. ४७. २, द्र० श० ब्रा० ८. ४. १. ९ – य एव त्रिवृत् स्तोमस्तदुपधाति – वायुर्वै आशुस्त्रिवृत् स एषु लोकेषु वर्तते, वोबू० ५५९ ।

२. ,, ,, त्रिषधस्थे १. ४७. ४, ५. ११. २ ।

३. ,, ,, १. ३४. ९, द्र० देव० नि० २. ९. ६, वोबू० ५६४ ।

४. ,, ,, १. २८. ९, ३. २१. ५ ।

५. उ० वृ० श्वे० २. ६४ 'त्वच संवरणे' इत्यस्मादपि संपदादि क्विपि त्वक् शब्दः सिद्ध्यतीति प्रपंचार्थं व्युत्पादनम् । अस्यां व्युत्पतौ इष्टलिंगसिद्धिश्च ।''

६. सा० ऋ० त्वष्टारम् १. १३. १०, त्वष्टुः १. २०. ६, ९५. २, द्र० स्क० नि० १. ३२. २, ६. ४७. १९, तै० ब्रा० २. ५. ७. ४, ३. ८. ११. २, श० ब्रा० ११. ४. ३. ३, ७, ५. ४. ५. ८ ।

७. निरु० ८. ३ ''त्वष्टा तूर्णश्नुत इति नैरुक्तास्त्विषेर्वा स्याद्दीप्तिकर्मणस्त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः, द्र० स्क० वहीं, देव० नि० ५. २. ११ ।

**त्वादातम्**<त्वा (<युष्मत्) + √दैप् ( शोधने ) + क्त, आत्व (आदेच उपदेशेऽशिति, पा० ६. १. ४५), त्वया शोधनेन विशदीकृतम् । पूर्वपदप्रकृतिस्वर (तृतीया कर्मणि, पा० ६. २. ४८)[१] ।

**त्वायतः** < त्वामात्मन इच्छति इस अर्थ में – युष्मत् + क्यच् (सुप आत्मनः क्यच्, पा० ३. १. ८) मपर्यन्त त्वादेश (प्रत्ययोत्तरपदयोश्च, पा० ७. २. ९८), छान्दस आत्व – त्वाय + शतृ[२] ।

**त्वायवः**< त्वायु< युष्मत् + क्यच् + उ, विभक्ति परे न होने पर भी व्यत्यय से आत्व (युष्मदस्मदोरनादेशे, पा० ७. २. ८६), प्रत्यय स्वर से उकार उदात्त[३] ।

**त्वाया** < युष्मत् + क्यच्>त्वाय + अ प्रत्यय (अ प्रत्ययात्, पा० ३. ३. १०२) = त्वाय + टाप्, स्त्री प्रत्यय तृ० ए० में विभक्ति का लुक् (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९), एकादेशस्वर[४] ।

**त्वावृधा**<युष्मत् + √वृध् + क्विप् + औ, विभक्ति को आकार (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९)[५] ।

**त्विषीमत्**<√त्विष् ( दीप्तौ ) + इन् + मतुप्, सांहितिक दीर्घ (अन्येषामपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७), अनुदात्त[६] ।

**त्वेष** < √त्विष् (दीप्तौ) + अच् अनुदात्त[७] ।

**त्वोतः** < त्व ( युष्मत् ) + √अव् ( रक्षणादिषु ) + क्त, ऊठादेश (ज्वरत्वर०, पा० ६. ४. २०), वृद्धि (एत्येधत्यूठ्सु, पा० ६. १. ८९) का अभाव छान्दस, त्वया ऊतः त्वोतः, पूर्वपदप्रकृतिस्वर से अकार उदात्त (तृतीया कर्मणि, पा० ६. २. ४८), एकादेश उदात्त (एकादेश उदात्तेनोदात्तः, पा० ८. २. ५)[८] ।

## द

**दंसः** < √दस् (दसिदंसनदर्शनयोः) + असुन् प्रत्यय (औणादिक), दंस्यते कर्तव्यतया दृश्यते इति दंसः कर्म[९] । देवराज० ने सायण की उपर्युक्त व्युत्पत्ति के साथ

---

१. सा० ऋ० १. १०. ७, ३. ४०. ६ ।
२. ,, ,, १. ५३. ३, २. २० २ ।
३. ,, ,, १. ३. ४, ३. ४१. ७, द्र० सा० अ० २०. २३. ७ ।
४. ,, ,, १. १०१. ८, ३. ४६. ५, ४. २. ६ ।
५. ,, ,, १. ५६. ४ ।
६. ,, ,, ०मते – १. ५५. ५, द्र० ऋ० ग्ला० ७३, वोबू० ५६८ ।
७. ,, ,, १. ३६. २०, द्र० १. १००. १३, सा० अ० १८. ४. ५९ ।
८. ,, ,, त्वोतासः – १. ८. २, त्वोताः १. ७३. ६, त्वोतः ३. १९. ३, ५६. २, द्र० ऋ० ग्ला० ७७, वोबू० ५६६ ।
९. ,, ,, १. ६२. ६ ।

√दसु उपक्षये से भी व्युत्पन्न माना है[1]।

( तु० IE dens, high mental energy, Av. danhah )

**दंसुजूतः** < दंसु + जूतः, दंसु< √दम् ( उपशमे ) + विच्, पूर्वपदप्रकृतिस्वर (तृतीया कर्मणि, पा० ६. २. ४८)[2]। गेल्डनर – √दम् + सु(जैसे – रंसु) ऋ० ग्लो० ७८, ग्रासमान – जूत< √जु, (वोबू० ५७०)।

**दक्षम्** < √दक्ष् ( वृद्धौ, गति, हिंसा ) + घञ् करण में (करणाधिकरणयोश्च, पा० ३. ३ ११७), दक्षन्त्यनेन, दक्ष्यन्तेऽनेन शत्रव इति वा दक्षम् – बलम्, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[3]। स्कन्द – √दक्ष (उत्साह कर्मा)[4]।

( तु० IE Prototype, déks, 'to take, Lith, desim, Gr. dexios, Lat. dexter, Goth. taihsus )

**दक्षाय्य**< √दक्ष् (वृद्धौ) + आय्य प्रत्यय (द्रुदक्षिस्पृहिभ्य आय्यः, उ० सू० ३. ९०)[5]।

**दक्षिणा**< √दक्ष् (वृद्धौ) + इनन् (द्रुदक्षिभ्यामिनन्, उ० सू० २. ५२), दक्षते वर्धतेऽनयेति दक्षिणा सत्कारपूर्वकं दीयमानद्रव्यविशेषः, नित्स्वर[6]। ब्राह्मण भी √दक्ष से निर्वचन करते हैं[7]। यास्क √दक्ष (वृद्धौ)[8]।

( तु० IE dek, to receive, to show, honour, Gr. dékomai, ch. Sl. desiti )

**ददाशुषे**< √दाशृ (दाने) + क्वसु, सम्प्रसारण (क्वसोः सम्प्रसारणम्, पा० ६. ४. १३१), षत्व (शासिवसिघसीनां च, पा० ८. ३. ६०)[9]।

---

१. देव० नि० २. १. ३।
२. सा० ऋ० १. १२२. १०।
३. ,, ,, १. २. ९, १५. ६, ५१. २, ७६. १, ५. १०. २, १०. २५. १, द्र० उद्० १०. २५. १।
४. स्क० ऋ० १. ५१. २, द्र० देव० नि० २. ९. १४।
५. सा० ऋ० १. ९१. ३।
६. ,, ,, १. १८. ५, २. २७. ११, ३. ३६. ५, द्र० सा० अ० ३. २७. २, ११. १०. २२।
७. श० ब्रा० २. २. २. २ – तं देवा दक्षिणाभिरदक्षयंस्तद् यदेनं दक्षिणाभिरदक्षयंस्तस्माद् दक्षिणा नाम, गो० ब्रा० २. ५. १, १, २. १९, १. ३. १८, ऐ० ब्रा० १. ८–१३, ६. ३. ३५, शा० ब्रा० १. ५, ता० म० ब्रा० ६. १. ५, ९. ८. २, ष० वि० ब्रा० ३. १, ४. १–७, ५. १०।
८. निरु० १. ७ दक्षिणा दक्षतेः समर्द्धयति कर्मणः।
९. सा० ऋ० १. ११२. २०।

**ददिः** < √दा ( दाने ) + कि प्रत्यय ( आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च, पा० ३. २. १७१), द्विर्वचन, अभ्यास कार्य, आकारलोप (आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४), प्रत्यय स्वर[१]।

**ददुषः** < √दा + क्वसु + जस्[२]।

**ददृशुषीः** < √दृश् + क्वसु + ङीप् = ददृशुषी + जस्, पूर्वसवर्णदीर्घ (वा छन्दसि, पा० ६. १. १०६)[३]।

**दधिक्रा** < दधि + √क्रम् ( पादविक्षेपे ) + विट् ( जनसनखनक्रमगमः०, पा० ३. २. ६७), आत्व (विड्वनोरनुनासिकस्यात्, पा० ६. ४. ४१), कृदुत्तरपद-प्रकृतिस्वर[४]। दधि < √धा (धारणपोषणयोः) + किन् (आदृगम०, पा० ३. २. १७१), द्विर्भाव, आकारलोप, दधाति पुष्णातीति दधि, आद्युदात्त[५]। ऋ० सं० में दधि की व्युत्पत्ति √धा से ही संकेतित है[६]। ब्राह्मण √धि से निर्वचन करते हैं[७]। यास्क – √धा + √क्रम, √धा + √क्रन्द, √धा + आ + कार[८]।

( तु० दधि – Opers-dadan, Goth. daddyan )[९]

**दधीचः** < दधि + √अञ्च + क्विन् + ङस्, ष० ए०, विभक्ति उदात्त (अञ्चेश्छन्दस्य-सर्वनामस्थानम्, पा० ६. १. १७०)[१०]। यास्क – √ध्यै + √अञ्च्[११]। देवराज० ध्यान + √अञ्च् + क्विन् – पृषोदरादि होने से ध्यान को दधि भाव[१२]। पीटर्सबर्ग सायण की व्युत्पत्ति का अनुसरण करता है। ग्रासमान – दधि + √अच्, जैसे – घृताच्, (वोबू० ५७४)।

( तु० IE dhaia, to see, Av. daena, MPers. didan, Lith, dimsta )

---

१. सा० ऋ० १. १५. १०, ८१. ७, ११०. ७, २. १७. ८, १० १३३. ३।

२. ,, ,, १. ५४. ८।

३. ,, ,, १०. १३९. ४।

४. ,, ,, ३. २०. १. ५।

५. ,, ,, दध्याशिरः १. ५. ५।

६. ऋ० सं० १०. ४६. १ – दधिर्यो, धायि।

७. श० ब्रा० १. ६. ४. ८ "यदब्रवीत् धिनोतिमेतिदस्माद्दधिः" तु० १. ८. १. ७, ३. ३. ३. २, ऐ० ब्रा० २. २९।

८. निरु० २. २७ – दधिक्रा इत्येतत् दधत् क्रामतीति वा, दधत् क्रन्दतीति वा, दधद् आकारी भवतीति वा।

९ संस्कृत लैंग्वेज, पृ० २१।

१०. सा० ऋ० १. ८४. १३।

११. निरु० १२. ३३ – दध्यङ् प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा, प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा।

१२. देव० नि० ५. ६. २१।

**दध्याशिरः**<दधि + आशिर् + जस्, प्र० ब०, आशिर् < √शॄ (हिंसायाम्) + क्विप्, इत्व ( ॠत इद्धातोः, पा० ७. १. १०० ), रपरत्व ( उरण् रपरः, पा० १. १. ५१), शृणाति हिनस्ति सोमेऽवनीयमानं सत् सोमस्य स्वाभाविकं रसमृजीषत्वप्रयुक्तं नीरसं दोषं वा इत्याशीः, दध्येव आशीर्येषां सोमानां ते दध्याशिरः, पूर्वपदप्रकृतिस्वर ( बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्, पा० ६. २. १)[1]।

**दभीति** <√दम्भ् (दम्भे) + कीति प्रत्यय (औणादिक)। सायण के अनुसार इस नाम के कोई राजर्षि थे[2]।

**दभ्रेभिः**< √दम्भ् + रक् प्रत्यय (स्फायितञ्चि०, उ० सू० २. १३), भिस् को ऐस् का अभाव (बहुलं छन्दसि पा० ७. १. १०)[3]। यास्क√दभ्[4]।

( तु० IE. Prototype, dhomb – to injure, Gr. àtembo, I injure )

**दमूनस्** (क) < √दम् (उपशमे) + ऊनसि प्रत्यय ( दमेरूनसिः, उ० सू० ४. २४० ), दाम्यतीति दमूनाः।

(ख) दान्त + मनस्, दान्त को दभाव, मनस् के मकार से पर अकार को ऊकार छान्दस, औपसंख्यानिक आद्युदात्त ( वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)[5]। यास्क – दम + मनस्, दान + मनस्, दान्त + मनस्।[6] ग्रासमान – √दम्, ( वोबू० ५७७ )। डा० सिद्धेश्वर वर्मा – दमू + नस् (प्रत्यय)[7]।

( तु० IE domus, house, Lat. domus )

**दर्मन्**<(क) √दृ (विदारणे) + मनिन् (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५)।
(ख) √दारि + मनिन्, णि लोप,
(ग) √दॄ ( भये ) + मनिन्[8]।

**दर्शत** < √दृश् + अतच् (भृमृदृशियजिपर्विपच्यमिनमिहर्योऽतच्, उ० सू० ३. १०३, (दृश्यत इति दर्शतः, सोमः – श्वे०) चित्स्वर[9]।

---

१. सा० ऋ० १. ५. ५।
२. „ „ १. ११२. २३, २. १५. ४।
३. „ „ १. ३१. ६।
४. निरु० ३. २० – दभ्रं दभ्नातेः सुदम्भं भवति, द्र० देव० नि० ३. २. ८।
५. सा० ऋ० १. ६०. ४, १४१. ११, ३. ३१. १६, ४. ११. ५, ५. ४२. १२, द्र० उद्० १०. ३१. ४।
६. निरु० ४. ४ दमूना दम मना वा, दान मना वा, दान्त मना वा। द्र० देव० नि० ४. १५।
७. एटि० यास्क – ९७।
८. सा० ऋ० दर्माणम् – १. ६१. ५, दर्मा १. १३२. ६. द्र० वोबू० ५८०।
९. „ „ १. २. १, ३६. ९, ६४. ९, १०२. २, ११६. ११, ३. १०. ६, २७. १३।

**दशन्** < √दंश् (दंशने) + कनिन् प्रत्यय (नुदंशेर्गुणश्च, उ० सू० १. १४४), नित्स्वर (पा० ६. १. १९७)[1] । यास्क – √दृश, √दस्[2] ।

( तु० IE dek̂m. ten, Gr. déka, 'ten' )

**दशद्युम्** < दशन् + √दिव् ( प्रकाशनार्थ ) + क्विप्, ऊठ् ( च्छ्वोः शूड०, पा० ६. ४. १९), दश दिक्षु द्यूः यस्यासौ दशद्युः, छान्दस ह्रस्व, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर[3] ।

**दस्म** < √दस् (उपक्षये) + मक् (इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक् उ० सू० १. १३१), दस्यति उपक्षयं करोति द्रव्यस्य दक्षिणादिना इति दस्मः यजमानः[4] । अन्यत्र सायण ने √दसि दंसनदर्शनयोः से व्युत्पन्न किया है (द्र० दस्मत्)। ऋ० सं० में √दंस् एवं √दस् परस्पर संबद्ध हैं[5] । गेल्डनर् – √दंस, ( ऋ० ग्ला० ८० ) ।

**दस्मत्** < √दंस् (दसि दंसनदर्शनयोः) + मक् (उ० सू० १. १३१) = दस्मम्>दस्मत्, वर्णव्यापत्ति से तकार[6] ।

**दस्यु** < √दस् ( उपक्षये ) + यु प्रत्यय ( यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युः, उ० सू० ३. २० ), दस्यन्तीति दस्यवः शत्रवः, आद्युदात्त (वृषादि)[7] ।

( तु० IE des, to devide, Nor. dial, tasa 'to separate the threads').

**दस्र** < (क)—√दस् (दसि दंसनदर्शनयोः) + रक् प्रत्यय (स्फायितञ्चि०, उ० सू० २. १३), नुम् का अभाव (आगमानुशासनस्यानित्यत्वात्),

(ख)— √दस् ( उपक्षये – उपतापे) + रक्[8] । ऋ० सं० में √दस् एवम् √दंस – दोनों ही परस्पर सम्बद्ध हैं । अतः दोनों से व्युत्पत्ति संकेतित है[9] ।

---

१. सा० ऋ० ३. २३. ३ ।

२. निरु० ३. १० – दश दृष्टार्था वा दस्ता संख्या ।

३. सा० ऋ० १. ३३. १४ ।

४. ,, ,, १. ४. ६, ४२. १०., ६२. ५ ।

५. ऋ० सं० १. ६२. ६, १२, ११७. २१, ११८. ६, ११९. ७ ।

६. सा० ऋ० १. ७४. ४ ।

७. ,, ,, १. ७८. ४, १००. १८, ३. २९. ९, द्र० सा० अ० १. ७. १, द्र० निरु० ७. २३ – दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थात्, उपदस्यन्त्यस्मिन् रसा उपदासयति कर्माणि ।

८. सा० ऋ० दस्रा – १. ३. ३, दस्र – १. ४२. ५, द्र० स्क० १. ४६. २, उद्० १०. २६. १ ।

९. ऋ० सं० ५. ५१. ५, ८ ८१. ६, द्र० वै० वा० भा० चि० पृ० ७३. ७७ ।

**दात्रम्** < √दा ( दाने ) + त्र प्रत्यय (औ०, दादिभ्यश्छन्दसि, उ० सू० ४. १७६)[१]। लवन साधन दात्र आद्युदात्त तथा दिया जाने वाला धन का वाचक –अन्तोदात्त। श्वेतवनवासी – √दाप् (लवने) + त्रन्[२]।

(तु०) दात्र – अवे० दाथ्र – dāthra )

**दानः**<(क)— √दान् (अवखण्डने) + अच्[३]।
(ख)— √दा + ल्युट् अधिकरण में[४]।

**दानुः**<(क)— √दो (अवखण्डने) + नु प्रत्यय (दाभाभ्यां नुः, उ० सू० ३. ३२),
(ख)— √दाण् (दाने + नु[५]। ग्रासमान – √दा, (वोबू० ५९४)।

**दानुपिन्व**< दानु + √पिन्व् (पिवि सेचने) + अण् (कर्मण्यण्, पा० ३. २. १)[६]।

**दावने**< √दा (दाने) + वनिप् (आतो मनिन्०, पा० ३. २. ७४), छान्दस अल्लोप का अभाव, प्रत्यय स्वर (आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३)[७]।

( तु० Gr. dūvanoi, Av. dāvai 'to give' )

**दाश्वान्**<(क)— √दाशृ ( दाने ) + क्वसु ( दाश्वान्साह्वान्०, पा० ६. १. १२ ) प्रत्ययान्त निपातित।
(ख)—√दाशृ (दाने) + क्विप् ( संपदादि ) + मतुप्, प्रत्यय के पित् होने से अनुदात्त, धातुस्वर[८]। दाशुषे<दाश्वस् + ङे, च० ए०, सम्प्रसारण, षत्व, प्रत्यय स्वर से उकार उदात्त[९]।

**दास** < (क)— √दस् (उपक्षये) + घञ् करण में, ञित्स्वर,
(ख)— √दस् + णिच् (हेतुमति च, पा० ३. १. २६), दासि + अच् (नन्दि-

---

१. सा० ऋ० १, ११६. ६, द्र० ऋ० सं० ८. ७८. १०, निरु० २. २, "दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु।
२. उ० वृ० श्वे० ४. १७६, द्र० त० बो० एवं बा० म० पा० ८. २५ ६।
३. सा० ऋ० ८. ४. ८।
४. ,, ,, २. १३. ७, द्र० ऋ० ग्ला० ८१, वोबू० ५९३।
५. ,, ,, १. ३२. ९, ० मत् ० १. ५१. ४, द्र० स्क० निरु० ११. १२।
६. ,, ,, ९. ९७. २३।
७. ,, ,, १. ६१. १०, १३४. १, द्र० देव० नि० ४. १. ३२, निरु० ४. १८ – दावने दानस्य, स्क० निरु० ४. १७।
८. सा० ऋ० १. ७४. ८, ३. ११. ७ ४. २. ८।
९. ,, ,, १ १. ६, २. ३, ३. ७, ८. ८, ९, २५. ६, २७. ६, ३५. ८, ४४. १, ४५. ८, ४७. १, ७४. ९, ८१. ६, ११३. १८, ३. २४. ५, दाशुषः – ३. ५१. ९, द्र० सा० अ० २. २४. १।

ग्रहि०, पा० ३. १. १३१), दासयतीति दासो वृत्रः, अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[1]।

**दास्वत्** < √दा (दाने) + असुन् + मतुप्, धातु स्वर से आद्युदात्त[2]।

**दितिम्** < √दाण् (दाने) + क्तिन् प्रत्यय कर्ता में[3]। गेल्डनर (ऋ० ग्ला० ८२) तथा ग्रासमान (वोबू० ५९९) √दा से व्युत्पन्न मानते हैं।

**दिदृक्षेण्यः** < √दृश् (प्रेक्षणे) + सन् + केन्य प्रत्यय (कृत्यार्थे तवैकेन्०, पा० ३. ४. १४), (आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३)[4]।

**दिद्युम्** < दिद्युत् < √द्युत् (दीप्तौ) + क्विप्, द्वित्व (द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे चेति वक्तव्यम्, वा० पा० ३. २. १७८), द्विर्वचन, अभ्यास को सम्प्रसारण (द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्, पा० ७. ४. ६७), अन्त्यलोप छान्दस = दिद्यु + अम्[5]। यास्क √द्यु, √द्युत्, √दो[6]। देवराज० – √द्युत्. √द्यत्[7]।

( तु० IE. diū – to shine, Lat. jū (piter, Jupiter))

**दिधिषाय्यः** < √धा + साय्य प्रत्ययान्त निपातित (दधि साय्यः, उ० को० ३. ९७)[8]।

**दिधिषू** < √धा (धारणपोषणयोः) + √सो (अन्तकर्मणि + कू प्रत्यय (अन्दूदृन्भूजम्बूकफेलूककर्कन्धूदिधिषूः, उ० सू० १. ९१), द्विर्वचन तथा इषुक् का आगम्, प्रत्ययस्वर। दिधिष्वः, प्र० ब० विभक्ति को स्वरित (उदात्तस्वरितयोर्यणः, पा० ८. २. ४)[6]।

**दिवक्षस्** < (क)—दिव् + √अक्ष् + असुन्, दिवं व्याप्नोतीति दिवक्षाः।
(ख)—दिव् + √वक्ष् ( रोषे, सायण 'व्याप्ति' ) + असुन्, वलोप (लोपो व्योर्वलि, पा० ६. १. ६६), दिवं वक्षन्ति व्याप्नुवन्तीति –, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर।
(ग)—दिव् + √वह[10]।

---

१. सा० ऋ० ० पत्नीः १. ३२. ११, ३. १२. ६, दासम् ३. ३४. १, द्र० २. १७ – दासो दस्यतेः, उपदासयति कर्माणि, वोबू० ५९८।
२. ,, ,, दास्वतः – ५. ९. २।
३. ,, ,, ४. २. ११।
४. सा० ऋ० १. १४६. ५।
५. ,, ,, १. ७१. ५, द्र० सा० अ० १. २. ३, २. २. ४।
६. निरु० १०. ७ – दिद्युत् द्युतेर्वा द्योततेर्वा, द्यतेः।
७. देव० नि० २. २०. १।
८. सा० ऋ० १. ७३. २।
९. ,, ,, १. ७१. ३, द्र० उज्ज्व० उ० वृ० १. ९५, ऋ० ग्ला० ८२, वोबू० ६००।
१०. ,, ,, दिवक्षाः ३. ३०. २१, दिवक्षसः ३. ७. २, १०. ६५. ७।

**दिवित्मत्**<(क)— √दिव् (क्रीडा०) + इक् प्रत्यय (इक्शितपौ धातुनिर्देशे, वा० पा० ३. ३. १०८), दिवि ( = दीप्ति) + मतुप्, तकारोपजन छान्दस।

(ख)— √दिव् + किन् ( = क्विन्) (कृविघृष्वि०, उ० सू० ४. ५८)>दिवि + मतुप्।

(ग)— √दिव् + इतक्>दिवित् + मतुप[1]।

**दिवोदास**<दिव् + ङस् + दास –, षष्ठी का अलुक (दिवश्च दासे षष्ठ्या अलुग् ववतव्यः, वा० पा० ६. ३. २१) पूर्वपद का आदि उदात्त – (दिवोदासादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्, वा० पा० ६. २. ९१)[2]।

**दीदिवि** < √दिव् + क्विन द्विर्वचन, अभ्यास दीर्घ, (दिवो द्वे दीर्घश्चाभ्यासस्य, उ० सू० ४. ५५), वलि लोप, दीव्यन्ति अस्मिन्निति दीदिवः स्वर्गः, अभ्यास का आदि उदात्त (अभ्यस्तानामादिः, पा० ६. १. १८९)[3]।

**दीद्यग्नी** <(क)— √दिव् + विच् (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५), वकारलोप ( वलि लोपो वलीयान् ) छान्दस द्विर्वचन, अभ्यास दीर्घ ( तुजादीनाम्, पा० ६. १. ७)।

(ख)— √दिव् + यङ्, यङ् का लुक् द्वित्व, दीर्घ, गुणाभाव (संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः, परि० ९४)>दीदि + अग्नि = दीद्यग्नि + औ, आमन्त्रित आद्युदात्त[4]।

**दुघान** < √दुह् (प्रपूरणे) + शानच्, छान्दस घत्व, आद्युदात्त (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)[5]। ऋ० सं० में 'सबर्दुघा' के साथ 'दोहते' के प्रयोग से 'दुह' से ही इसकी व्युत्पत्ति अभीष्ट प्रतीत होती है, साथ ही √दुह् तथा √दुघ दोनो में परस्पर सम्बन्ध भी द्योतित है[6]।

**दुच्छुनाः**< दुर् + शुन ( सुखनाम ), दुष्टं सुखं यासाम् तास्तथोक्ताः, उत्तरपदाद्युदात्त (परादिश्छन्दसि बहुलम्, पा० ६. २. १९९)[7]।

---

१. सा० ऋ० १. २६. २।
२. ,, ,, १. ११२. १४, ११६. १८, १३०. ७, १०।
३. ,, ,, दीदिविम् १. १. ८, द्र० ओ० प० ४. १६४
४. ,, ,, १. १५. ११, द्र० स्क० वहीं।
५. ,, ,, १. १००. ३, ३. ३१. १०।
६. ऋ० सं० १. १३४ ४ – तुभ्यं धेनुः सबर्दुघा विश्वावसूनि दोहते।
७. सा० ऋ० १. ११६. २१।

**दुध्रः**<(क)—दुर् + √धृ (धृञ् अवस्थाने) + क प्रत्यय (वा० पा० ३. २. ५), यणादेश, छान्दस रेफ लोप[1]।

(ख)—दुर् + √धृ + खल् प्रत्यय कर्म में (ईषद्दुःसुषु०, पा० ३. ३. १२६), छान्दस गुण का अभाव[2]।

**दुरः** <(क)— √दा (दाने) + उरच् प्रत्यय बाहुलक (मन्दिवाशिमथिचतिचङ्क्यङ्किभ्य उरच्, उ० सू० १. ३८, दश० ८. २१), आकारलोप।

(ख)— <द्वार, सम्प्रसारण (रयेर्मतौ बहुलम्, वा० पा० ६. १. ३७)[3]।

**दुरिता** < दुर् + √इ (गतौ) + क्त + शस्, शेर्लोप (शेश्छन्दसि बहुलम्, पा० ६. १. ७०), अन्तोदात्त (थाथघञ्०, पा० ६. २. १४४)[4]।

**दुरेव**<(क)—दुर् + √इ (गतौ) + वन् (इण्शीङ्भ्यां वन्, उ० सू० १. १३८)।

(ख)—दुर् + √इ (गतौ) + खल् (पा० ३. ३. १२६)[5]।

**दुरोकशोचिः**<दुर् + ओक + शोचिः। ओक<√उच् (समवाये) + खल् (ईषद्दुःसुषु०, पा० ३. ३. १२६), बाहुलक कुत्व, लित्स्वर से प्रत्यय से पूर्व को उदात्त, दुरोकं शोचिस्तेजो यस्य,बहुव्रीहि में पूर्वपद प्रकृतिस्वर[6]। स्कन्द – दुरोकस् + शोचिः, छान्दस सकार लोप मानते हैं[7]। ग्रासमान – ओक = ओकस्, (वोबू० ६१४)।

**दुरोण**<दुर् + √अव् (रक्षणे) + नक् प्रत्यय तथा रुट् का आगम, औणादिक, (रास्नासास्नासुम्नद्युम्ननिम्नशिश्नकृत्स्नाक्ष्णश्लक्ष्णाभीक्ष्णतीक्ष्णस्तेनफेनश्येनच्यौत्नादयः, सरस्व० २. २. १८४) गुण[8]।

**दुर्ग** < दुर् + √गम् + ड प्रत्यय (सुदुरोरधिकरणे, वा० पा० ३. २. ४८), दुःखेन गच्छन्तीति दुर्गाणि[9]। ग्रासमान – दुर् + √गा, (वोबू० ६१४)।

**दुर्गृभिश्वनः**<दुर् + √ग्रह् (उपादाने) + √अश् (व्याप्तौ), पृषोरादि[10]। स्कन्द – दुर्गृभि (= दुर्ग्रहवचन) + शु (क्षिप्रवाची० तु० नि० २. १५) + अन्

१. सा० ऋ० १. ५६. ३।
२. ,, ,, ० कृतः १. ६४. ११।
३. ,, ,, १. ५३. २, ११३. ४।
४. ,, ,, १. ३५. ३।
५. ,, ,, १. ११७. ४, ३. ३०. १५, द्र० ऋ० ग्ला० ८४, वोबू० ६१४।
६. ,, ,, १. ६६. ३।
७. स्क० ऋ० १. ६६. ३।
८. सा० ऋ० ३. २५. ५. द्र० निरु० ४. ५ – 'दुरोण इति गृहनाम दुर वा भवन्ति'। देव० नि० ३. ४. ७।
९. ,, ,, १. ४१. ३, ८६. १।
१०. ,, ,, १. ५२. ६।

+ङस्, ष० ए०, दुर्गृभिः श्वा क्षिप्रप्रश्वासः यस्य स दुर्गृभिश्वा शु अननं तस्य दुर्गृभिश्वनः[1]। दुर्गृभि < दुर् + √ग्रह् + इन् (औणादिक), सम्प्रसारण (ग्रहिज्या०, पा० ६. १. १६), हकार के स्थान पर भकार (हृग्रहोर्भश्छन्दसि, वा० पा० ८. २. ३१), आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७), समास में गति स्वर (गति०, पा० ६. २. १३९)। ग्रासमान – गृभि < √ग्रभ्, (वोबू० ६१५)।

( तु० Av. gerb, gaury, .Goth. greipa, G greife, Lith. grebju, grablju, Hib. grabaim, 'I devour'. )

**दुर्मायु** < दुर्+√मा (माने – मिनोतेः) + उण् (कृपावाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्, उ० सू० १. १)[2]।

**दुर्यः** < दुर + यत् ( भवे छन्दसि, पा० ४. ४. ११० ), दुरं भवः दुर्यः, आद्युदात्त (यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३)[3]। देवराज० – √दुर्वी (हिंसार्थ)+यत्, दुर्+√या+क[4]।

**दुर्हणायून्** (क)—<दुर् + √हृणी ( हृणीङ् लज्जायाम्, ( हानिकर्मा ) + यक् (कण्ड्वादि) = दुर्+हृणीय + उण् प्रत्यय बाहुलक, अतो लोप, वर्ण-व्यापत्ति से आकार।

(ख)—दुर्हणीय+कु प्रत्यय (मृगय्वादयश्च, उ० सू० १. ३७)[5]। सायण ने अथर्ववेद – १८. १. ६ में √हृणी को क्रोधकर्मा भी माना है।

**दुहितृ**<√दुह् (प्रपूरणे)+तृच् (नप्तृनेष्टृ०, उ० सू० २. ९६), निपातन से इट् का आगम, गुणाभाव, चित्स्वर[6]। यास्क – दुर् + √धा, दुट् + √धा, √दुह्[7]।

( तु० IE Prototype is dhug (h) ter, Av. dugδdar )

**दूळभ**<(क)—दुर्दभ<√दभ् ( हिंसायाम् )+खल् (?) रेफ को उत्व (दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वं वक्तव्यम्, वा० पा० ६. ३. १०९) तथा उत्तरपदादि को ष्टुत्व – दुर्दभ, दम्भितुं हिंसितुमशक्य इति[8]।

---

१. स्क० ऋ० १. ५२. ६।
२. सा० ऋ० दुर्मायवः ३. ३०. १५।
३. " " १. ५१. १४, द्र० ऋ० ग्ला० ८४, वोबू० ६१६।
४. देव० नि० ३. ४. ९ – दुःखेन प्राप्यन्ते, दुरः गृहद्वाराणि अर्हन्तीति वा दुर्या गृहा उच्यन्ते, इति उवटः।
५. सा० ऋ० १. ८४, १६।
६. " " दुहितुः ३. ३१. १।
७. निरु० ३. ४ दुहिता दुर्हिता दूरेहिता दोग्धेर्वा।
८. सा० ऋ० २. २८. ८, ३. ५६. ८।

(ख)—दु र् + √दह् (भस्मीकरणे) + खल् (ईषद्०, पा० ३. ३. १२६), बाहुलक उकार का ऊकार, रेफ लोप, दकार का अकार, हकार का भकार, दुःखेन दह्यते इति दुर्दहम्, प्रत्यय से पूर्व को उदात्त (लिति, पा० ६. १. १९३)[1]। स्कन्द √दभ् (वधार्थक), से निष्पन्न मानते हैं[2]। वस्तुतः दूलभ<दुर्दभ <दुर् + √दम्भ + खल् – से व्युत्पत्ति ही संगत प्रतीत होती है। पर न्यासकार ने घञ् के द्वारा निष्पन्न किया है[3]। आचार्य क्षितीश चन्द्र चटर्जी के अनुसार सा० ऋ० १. १५. ६ में दम्भेः की जगह "दग्धेः" पाठ प्रमादवश हो गया है[4]। ग्रासमान – दुस् + √दभ्, (वोबू० ६२३)। टर्नर – दुष् + √दभ्, (तु० को० ३७०)।

**दूढ्यः** < दुर् + √ध्यै (चिन्तायाम्) + क्विप्, सम्प्रसारण, उत्व तथा ढत्व (दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वं वक्तव्यमुत्तरपदादेः ष्टुत्वं च, वा० पा० ६. ३. १०९)। दूढ, स्त्री० में दूढी + शस् यणादेश, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर से अन्तोदात्त, विभक्ति के साथ एकादेश होने पर "शस्" को स्वरित (उदात्तस्वरितयोर्यणः, पा० ८. २. ४)[5]। यास्क – दुर् + √ध्यै[6]। गेल्डनर – दुस् + √धी, (ऋ० ग्ला० ८५)। वस्तुतः – दुर + √ध्यै + क प्रत्यय (आतश्चोपसर्गे, पा० ३. १. १३६), धातु को आत्व (आदेच उपदेशेऽशिति, पा० ६. १. ४५) = दुर् + √ध्या + क, धातु के आकार का लोप (आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४), उपसर्ग के रेफ को उत्व, सवर्णदीर्घ, धकार को ष्टुत्व से ढकार व्युत्पत्ति व्याकरण सम्मत है[7]।

**दूणशा** < दुर् + √नश् + खल्, रेफ को उत्व, उत्तरपदादि को ष्टुत्व, लित्स्वर[8]।

**दूत** < √दु (टुदु उपतापे) + क्त प्रत्यय (दुतनिभ्यां दीर्घश्च, उ० सू० ३. ८९) तत्संनियोग से धातु को दीर्घ, दूतः इतस्ततः संचारी, दुनोति पथो गमनेनेति

---

१. सा० ऋ० १. १५. ६।

२. स्क० ऋ० १. १५. ६।

३. पा० म० – ६. ३. १०९ – "दरो दाशनाश – "कैयट वहीं – दुःखेन दम्यते इति खल् दम्भेर्नलोपोऽत एव निपात्यते", नागेश वहीं – तत्र रेफस्योत्वे सवर्णदीर्घे, तथा काशिका वहीं, सि० कौ०, पा० ६. ३. १०९ – दुःखेन दम्यते इति दूलभः", न्यास काशिका ६. ३. १०९।

४. मंजूषा, अंक जनवरी १९६० पृ० १४१–१४२ तथा जुलाई १९६० पृ० २७४, २७५।

५. सा० ऋ० १. ९४. ८, १०५. ६, ३. १६. २, द्र० ऋगर्थ सार १. ९४. ८।

६. निरु० ५. २३ – दूढ्यः दुर्धियः पापधियः।

७. सि० कौ० पा० ६. ३. १०९, द्र० बा० म० वहीं।

८. सा० ऋ० ३. ५६. ८, द्र० ऋ० ग्ला० ८५, वोबू० ६२६।

दूतः प्रेषकः, प्रत्ययस्वर[1]। यास्क – √जु, √द्रु, √वारय् (√वृ)[2]।

( तु० IE dū 'to move forward spatially', M. G. Zuwen, to move forward ).

**दूत्यम्** < दूत + यत् ( दूतस्य भागकर्मणी, पा० ४. ४. १२० ), दूतस्य भागः कर्म वा दूत्यम्, तित्स्वरित (तित्स्वरितम्० पा० ६. १. १८५), आद्युदात्त (यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३) का अभाव (सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते)[3]।

**दूर** < दुर् + √इ (गतौ) + रक् प्रत्यय तथा धातु का लोप (दुरीणो लोपश्च, उ० सू० २. २२), रेफलोप (रोरि, पा० ८. ३. १४), पूर्व को दीर्घ (ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः, पा० ६. ३. १११), दुःखेन गन्तव्य इति दूरं विप्रकृष्टम्[4]। यास्क – √द्रु, दुस् + √इ[5]। ग्रासमान – √दु, (वोबू० ६२४)। सजातीय शब्दों के लिए द्र० दूत।

**दूरेअन्ते** <दूर + ङि + अन्त + ङि, अन्त<√अम् + तन् प्रत्यय (असिमृग्रि०, उ० सू० ३. ८२), अमति समाप्नोत्यनेनेति अन्तं समापनम्, बहुव्रीहि (सप्तम्युपमान-पूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः, वा० पा० २. २. २४), सप्तमी का अलुक् (हलदन्तात्० पा० ६. ३. ९), पूर्वपदस्वर[6]।

**दृशीक** < √दृश् (प्रेक्षणे) + कीकन् ( = ईकन्) (अनिदृशीभ्यामीकन्, उ० सू० ४. २१), पश्यतीति दृशीकः, आद्युदात्त[7]।

**दृशे** < √दृश् + के प्रत्यय तुमर्थ में (दृशे विख्ये च, पा० ३. ४. ११)[8]।

**दृषद्वती**<√दृ (विदारणे) + अदि प्रत्यय, षुक् का आगम तथा धातु को ह्रस्व (दृणातेः षुग्घ्रस्वश्च, उ० सू० १. १२०) दीर्यत इति दृषत् उपलम्, दृषत् + मतुप् + ङीप, प्रत्यय स्वर[9]।

---

१. सा० ऋ० ३. १७. ४, द्र० वोबू० ६२४।

२. निरु० ५. १. दूतो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा. द्र० देव० नि० ४. ३. ९९।

३. सा० ऋ० १. १२. ४, ४४. १२, ७१. ४, १६१. १, १०. ११५. १, दूत्याय० १०. ७०. ३।

४. सा० ऋ० दूरे अन्ते – ३. ५४. ७।

५. निरु० ३. १९ – दूरं कस्मात्, द्रुतं भवति दुरयं वा।

६. सा० ऋ० ३. ५४. ७, द्र० देव० नि० ३. ३०. २३।

७. ,, ,, १. २७. १०, ६६. ५।

८. ,, ,, १. २३. २१, ५०. १, ५, ११२. ५, १०. १२३. ७, द्र० सा० अ० १. ६. ३, २. १. ५, ७. २३. १।

९. सा० ऋ० वत्याम् – ३. २३. ४।

**देव** < √दिव् (दान – दीपन – द्योतन) + अच् प्रत्यय (पा० ३. १. १३४), अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[1]। यास्क – √दा, √दीप्, √द्युत, √दिव्[2]। भगवान् पतंजलि ऐश्वर्यकर्मा √ दिव् से व्युत्पन्न मानते हैं (पा० म० ५. ४. २४)।

(तु० IE dyaus, divas, Lat. deuo, Av. daēva OPers, daiva)

**देवताति**<देव + तातिल प्रत्यय स्वार्थिक (सर्वदेवात्तातिल्, पा० ४. ४. १४२), देव एव देवतातिः। देवताति शब्द से यज्ञ लक्षित होता है (तु० नि० ३. १७. १० – देवतातामखः), लित्स्वर से प्रत्यय से पूर्व उदात्त[3]। देवताता<देवताति + ङि, विभक्ति को डादेश (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९)[4], अथवा देव + √तन् + क्त, अनुनासिक लोप (अनुदात्तोपदेश, पा० ६. ४. ३७) व्यत्यय से आत्व, पूर्वपद प्रकृतिस्वर (तृतीया कर्मणि, पा० ६. २. ४८)[5]।

**देवत्त** < देवदत्त, देवैर्दत्तम्, छान्दस वर्णलोप (द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ, का० ६. ३. १०९), पूर्वपदप्रकृतिस्वर (तृतीया कर्मणि, पा० ६. २. ४८)[6] स्कन्द √देङ् (रक्षणे) + त प्रत्यय छान्दस (अच उपसर्गात्तः, पा० ७. ४. ४७) अथवा √दा – से व्युत्पन्न मानते हैं[7]।

**देवत्रा** < देव + त्रा (देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्, पा० ५.४.५६), प्रत्ययस्वर[8]।

**देवद्रीचा**<देव + अञ्च् + क्विन्, देव की "टि" को अद्र्यादेश (विष्वगदेवयोश्च-टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये, पा० ६. ३. ९२), देवद्रीच् + टा, तृ० ए०, अद्र्यादेश

---

१. सा० ऋ० १. १. १, ३. ८, १९. २, ३. ४. १. ६, ३. १५, ५. ९. १, द्र० स्क० ऋ० १. १. १, ६. ५०. २, तै० ब्रा० २. २. ९. ९ – दिवा वै नोऽभूदिति तद्देवानां देवत्वम्। २. ३. ८. ३, ३. ७. ६. २, श० ब्रा० ११. १. ६. ७, ३. ६. ३. १८, ३. ७. ३. ११, ष० वि० ब्रा० ४. १ – यद्दिवा देवानसृजत तद्देवानां देवत्वम्, छा० उप० शा० भा० १. २. १, दीव्यते द्योतनार्थस्य शास्त्रोद्भासिता इन्द्रियवृत्तयः।

२. निरु० ७. १५ देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा।

३. सा० ऋ० ३. १९. २, ४, ०तातये० ३. २६. २, ९. ६५. २७।

४. ,, ,, १. ३४. ५, ५२. १, ३. १९ १, द्र० स्क० ६. ६८. २, देव० नि० ३. १७. १०।

५. ,, ,, १. ९५. ८।

६. ,, ,, १. ३७. ४।

७. स्क० ऋ० १. ३७. ४।

८. सा० ऋ० १. ५० १०, ९३. ९, १०५. १०, ३. ८. ७, ८. १९. १, १०. ११०. २, १८८. ३. द्र० स्क० ऋ० १. ५०. १०।

अन्तोदात्त ( अद्रिसध्र्योरन्तोदात्तनिपातनं कृत्स्वरनिवृत्त्यर्थम्, वा० पा० ६. ३. ९५)[१]।

**देवयुः** < देव + क्यच् + उ (क्याच्छन्दसि, पा० ३. २. १७०)[२]।

**देवरः** < सायण यास्क की व्युत्पत्ति से सहमत हैं[३], यास्क ने द्वितीय + वर = देवर, अथवा √दिव् से निर्वचन किया है[४]। वैयाकरण – √दिव् + अर प्रत्यय चित् ( अर्तिकमिचमिभ्रमिदिविवासिवाशिभ्यश्चित्, उ० सू० ३. १२७), दीव्यतीति देवरः, व्युत्पन्न करते हैं। देवर = पति का छोटा भाई, इसके मूल यास्क हैं। अन्यथा महाभारत में – कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वाऽनुप्रवेक्ष्यति ( – आदि० १०६. २) देवर का प्रयोग ज्येष्ठ भ्राता के लिए हुआ है।

( तु० IE dai – uer, Gr. daer – husbands brother )

**देवहूति** < देव + हूति < √ह्वे + क्तिन्, देवानां हूतय आह्वानान्यासु स्तुतिष्विति स्तुतयः, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर[५]।

( तु० IE Ĝhu 'to call', Av Zbayeiti, he calls )

**देवावी** < देव + √अव् + ई प्रत्यय (अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः, उ० सू० ३. १५२) अवतीति अवीः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर। देवाव्यः < देवावी + जस्, विभक्ति स्वरित (उदात्तस्वरितयोर्यणः, पा० ८. २. ४)[६]।

**देष्ण** < √दा (दाने) + इष्णुच् प्रत्यय (गादाभ्यां चेष्णुच्, उ० सू० ३. १६) अत्यर्थं ददातीति देष्णः, चित्स्वर[७]।

**दोषावस्तः** < दोषा + वस्तर्, 'दोषा' रात्रिवाची शब्द है तथा 'वस्तर्' अहर्वाची, द्वन्द्व समास, आद्युदात्त (कार्तकौ जयादयश्च, पा० ६. २. ३७)। संबुद्धि पक्ष में षाष्ठिक आद्युदात्त[८]।

---

१. सा० ऋ० १. ६३. ८, द्र० स्क० वहीं।
२. ,, ,, १०. १७६. ३, द्र० सा० अ० ४. २१. २।
३. ,, ,, १०. ४०. २।
४. निरु० ३. १५ देवरः कस्मात्? द्वितीयो वर उच्यते, दीव्यतिकर्मा।
५. सा० ऋ० तिभिः १. १२. १२, द्र० निरु० ५. २५ ये देवान् आह्वयन्त।
६. ,, ,, ३. २९. ८, ६. ७४. ५, ९७. २६।
७. ,, ,, देष्णस्य ३. ३०. १६।
८. ,, ,, १. १. ७, ४. ४. ९।

**द्यु** < (क)√द्युत् (दीप्तौ) + डु प्रत्यय (अश्र्वादयश्च उ० सू० ५. ३१) द्योतते किरण-संबन्धादिति द्युः अन्तरिक्षम्, नित्स्वर (पा० ६. १. १९७)[1]।

(ख)— √द्यु (अभिगमने) + डुन् प्रत्यय (द्युद्रुभ्याम्, सरस्व० २. १. ३४)[2]। ऋ० सं० में √दिव् से व्युत्पत्ति संकेतित प्रतीत होती है[3]। यास्क – द्युत्[4]।

( तु० IE diu̯ – dei 'to shine' Gr. deélos, visible )

**द्यावापृथिवी**<द्यौश्च पृथिवी च, द्यावापृथिव्यौ, दिव् के स्थान पर अन्तोदात्त द्यावादेश (दिवसश्च पृथिव्याम्, पा० ६. ३. ३०), निपातित। द्यावापृथिवी + औ, पूर्वसवर्णदीर्घ (वा च्छन्दसि, पा० ६. १. १०६), उभयपदप्रकृतिस्वर (देवताद्वन्द्वे च, पा० ६. २. १४१)[5]।

**द्युम्न**<√द्युत् (दीप्तौ) + नक् प्रत्यय तथा म् अन्तादेश निपातित (०सुम्नद्युम्ननिम्न०, सरस्व० २. २. १८४), प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त[6]। देवराज० – √द्युत् तथा √द्यु (अभिगमने) तथा मक् का आगम निपातित (क्षीरस्वामी)[7]। गेल्डनर – √द्यु, (ऋ० ग्ला० ८८)।

**द्रविण**<√द्रु ( गतौ ) + इनन् (द्रुदक्षिभ्यामिनन्, उ० सू० २. ५२) गुण, अवादेश, द्रूयते गम्यते इति द्रविणं धनं सत्यं च – श्वे०)[8]।

( तु० IE drou̯ (free) Gr. droón 'strong' ),

**द्रविणसः**<(क)—द्रविणसः सोमस्य इस अर्थ में छान्दस सकारोपजन, आद्युदात्त।

(ख)—द्रविण + क्यच् + क्विप्, मुक् का आगम (सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायां सुग्वक्तव्यः, वा० पा० ७. १. ५१) = द्रविणस्य, अतोलोप

---

१. सा० ऋ० द्यवि ३. २७. १२।
२. „ „ द्यून् ३. २३. २।
३. ऋ० सं० ४.४ . ८ दोषावस्तर्दीदिवांसमनु द्यून्।
४. निरु० १. ६ द्युरित्यह्नो नामधेयम्, द्योतत इति सतः।
५. सा० ऋ० १. ३१. ८, ३५. ९, ५२. १४, १०१. ३, ११२. १, १५९. ५. ३ ३०. ४, ८. ९७. १४, १०. १०९. १०, द्र० सा० अ० २. १. ४, १२. १, ३. १५. २।
६. „ „ ५. १०. १, द्र० वेङ्क वहीं।
७. देव० नि० २. १०. १३।
८. सा० ऋ० द्रविणोदेषु १. ५३. १, द्रविणः ३. ७. १०, द्रविणा ३. ८. १, द्र० निरु० ८. १ – धनं द्रविणमुच्यते यदेनमभिद्रवन्ति, बलं वा द्रविणं यदनेनाभिद्रवन्ति।

यलोप, व्यत्यय से आद्युदात्त[1]। यास्क – द्रविण + √सादय्, द्रविण + √सानय्[2]। पीटर्सवर्ग में द्रविणस् = द्रविण, माना गया है, यहाँ 'स्' को यास्क क्रिया मान बैठे हैं[3]।

**द्रविणोद**<द्रविण + √दा + क प्रत्यय (आतोऽनुपसर्गे कः, पा० ३. २. ३) पूर्व पद को सुक् का आगम (सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायां सुग्वक्तव्यः वा० पा० ७. १. ५१), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[4]।

**द्रविणोदा**<द्रविण + √दा + विच्, पूर्वपद को छान्दस सुक का आगम[5]। ब्राह्मण द्रविण + √दा ( दाने ) से निर्वचन करते हैं[6]।

**द्रविणोदाः**<द्रविणोदस् < द्रविण + √दा + क्विप्, पूर्वपद को सकारोपजन छान्दस, द्रविणस् दा + असुन्, बाहुलक आकार लोप, सकार को रुत्व, उत्व = द्रविणोदस्, अथवा – द्रविण + क्यच्, पूर्व पद को सुक् का आगम (सर्वप्रातिपदिकेभ्यो०, वा० पा० ७. १. ५१) = द्रविणस्य + क्विप् भाव में (संपदादि), अतो लोप, यलोप = द्रविणस् + √दसु (उपक्षये) + क्विप् ( क्विप् च, पा० ३. २. ७६ ), द्रविणमात्मन इच्छन्ति द्रविणस्यन्ति, द्रविणेच्छां दास्यति यथेष्टधनप्रदाने न उपक्षपयतीत्यर्थः[7]। देवराज० सायण की पहली व्युत्पत्ति से सहमत हैं (नि० ५. २. १)।

**द्राधिष्ठ** < दीर्घ + इष्ठन्; दीर्घ को द्राघ् आदेश ( प्रियस्थिर०, पा० ६. ४. १५७), आद्युदात्त[8]। ग्रासमान (√द्राघ् – वोबू० ६६४) द्राघ् का आतिशायनिक रूप मानते हैं (वोबू० ६४६)।

**द्राघीयस्**< दीर्घ + ईयसुन्[9]।

**द्राघ्मन्** <दीर्घ + इमनिच्, द्राघ् आदेश (प्रियस्थिर०, पा० ६. ४. १५७) अकार को इकार वर्ण व्यापत्ति से, पश्चात् अलोप, द्राघ्मा = द्राधिम्ना[10]।

---

१. सा० ऋ० १. १५. ७, द्र० स्क० वहीं।
२. निरु० ८. १ – द्रविणस इति द्रविणसादिन इति वा द्रविणसानिन इति वा।
३. एटि० यास्क० पृ० ६५।
४. सा० ऋ० द्रविणोदेषु १. ५३. १।
५. ,, ,, १. ९६. १।
६. द्रविणं ह्येभ्यो ददाति – श० ब्रा० ६. ३ ३. १३-१४, ६. ७. २. ३, तु० ऐ० ब्रा० ३. ३५, तै० ब्रा० ३. १०. १. ३, ता० म० ब्रा० १७. १. १०-१२, १८. १. ४।
७. सा० ऋ० १. १५. ७, ८, द्र० द्रविणदः १. १५. १०।
८. ,, ,, ३. ६२. १७।
९. ,, ,, १. १५३. ११, द्राघीयांसः १०. ११७. ५, द्र० सा० अ० ८. २. २।
१०. ,, ,, १०. ७०. ४।

**द्रापिम्** < √द्रा (कुत्सायां गतौ) + णिच्, पुक् का आगम (अर्तिह्री०, पा० ७. ३. ३७), द्रापयति इषून् कुत्सितां गतिं प्रापयति इति द्रापिः कवचम्, द्रापि + इ प्रत्यय (औणादिक), णिलोप[1]।

**द्रुह्युः**<√द्रुह् (जिघांसायाम्) + क्विप् (संपदादि) + क्यच् (छन्दसि परेच्छायाम्, वा० पा० ३. १. ८), द्रुह्य + उ ( क्याच्छन्दसि, पा० ३. २. १७० ), द्रुह्यं परेषामिच्छन्ति[2]। देवराज० – औणादिक क्विप् से व्युत्पन्न करते हैं[3]।

**द्वयाविनः**<द्वय + विनि मत्वर्थीय (बहुलं छन्दसि, पा० ५. २. १२२), दीर्घ (अन्येषामपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७)[4]। अन्यत्र सायण ने "बहुलं छन्दसि" के प्रकरण में आए "अष्ट्रामेखलाद्द्वयोभयरुजाहृदयानां दीर्घश्च" इस वचन से 'विनि' प्रत्यय तथा तत्संनियोग से दीर्घ किया है[5]।

**द्वर** < √द्वृ + अच् (पचादि), द्वरति आवृणोतीति द्वरः, चित्स्वर से अन्तोदात्त[6]।

( तु० Russ. dver, Av. dvar )

**द्वरिषु** < √द्वृ + इ प्रत्यय (अच इः, उ० सू० ४. १४८)[7]। स्कन्द के अनुसार √द्वृ वरणे इस शुद्ध धातु को भी आङ्पूर्वार्थ ही समझना चाहिए[8]। ऋ० सं० में √वृ ( वरणे ) से इसकी व्युत्पत्ति संकेतित है[9]। ग्रासमान – √द्वर् (वोबू० ६५०)।

**द्वीप** < द्वि + अप्, अ को ईत्व (द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्, पा० ६. ३. ९७), समासान्त प्रत्यय ( ऋक्पूरब्धूः०, पा० ५. ४. ७४ ) द्वयोः पार्श्वयोः आपो येषु तानि उदकमध्यस्थानानि[10]। ऋ० सं० में 'द्वीप' के साथ 'आपः' के प्रयोग से सूचित किया गया है कि इसमें उत्तरपद 'अप्' है[11]।
( तु० Av. dvaēpa )

---

१. सा० ऋ० १. २५. १३।
२. ,, ,, द्रुह्युषु – १. १०८. ८।
३. देव० नि० २. ३. १६।
४. सा० ऋ० १. ४२. ४ ।
५. सा० अ० १. २८. १।
६. सा० ऋ० १. ५२. ३ ।
७. ,, ,, १. ५२. ३।
८. स्क० ऋ० १. ५२. ३।
९. ऋ० सं० १. ५२. ३ सहिद्वरोद्वरिषुवव्रऊधनि – द्र० ५. ४५. १, ७. ९५. ६, ८. ५. २१।
१०. सा० ऋ० द्वीपानि ८. २०. ४।
११. ऋ० सं० १. १६९. ३ अग्निश्चिद्धिष्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि ।

**द्वेषः** < √द्विष् (अप्रीतौ) + विच् कर्ता में (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५), लघूपधगुण[1]।

( तु० Av. dvaēšah – tbaēšah )

# ध

**धक्षु** < √दह् + सन्, द्विर्वचन का अभाव ( द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वेति वक्तव्यम्, वा० पा० ६. १. ८ ), धक्ष + उ = धक्षु[2]।

**धनञ्जय**<धन + √जि ( जये ) + खच् प्रत्यय (संज्ञायां भृतृवृजिधारिसहितपिदमः, पा० ३. २. ४६), पूर्वपद को मुम् का आगम (अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्, पा० ६. ३. ६७), गुण, अयादेश, धनानि शत्रुसंबन्धीनि जयति अपहरति इति धनञ्जयः, चित्स्वर से अन्तोदात्त[3]।

**धनसा** < धन + √सन् ( संभक्तौ ) + विट् प्रत्यय (जनसनखनक्रमगमो विट्, पा० ३. २. ६७), आत्व (विड्वनोरनुनासिकस्यात्, पा० ६. ४, ४१)[4]।

**धनस्पृतम्**<धन + √स्पृ ( प्रीतिबलयोः ) + क्विप्, तुक का आगम, धनैरस्मान् स्पृणोति प्रीणयतीति धनस्पृत्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[5]।

**धनुत्रीः**<√धन् ( धान्ये ) + उत्र प्रत्यय ( अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ, उ० सू० ४.१७२) + ङीन् प्रत्यय (शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्, पा० ४. १. ७३), नित्स्वर[6]।

**धन्वन्**<√धव् (रिविरविधविगत्यर्थाः) धातु को नुम् का आगम> √धन्व् + कनिन् (कनिन्युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः, उ० सू० १. १४२) धन्वन् + शस् द्वि० व०, विभक्ति का लुक् (सुपां सुलुक्, ० पा० ७. १. ३९), नलोप, नित्स्वर[7]। यास्क – √धन्[8]। यास्क की तरह सायण भी इसे अन्तरिक्ष-

---

१. सा० ऋ० १. ३४. ११, ४८. ८, द्र० ऋ० ग्ला० ८६, तु० को० ३८२।

२. ,, ,, धक्षोः १०. ११५. ४, द्र० वोबू० ६५३।

३. ,, ,, १. ७४. ३, ३. ४२. ६, द्र० सा० अ० ३. १४. २. ४२. ६, २०. २४. ६।

४. ,, ,, १. ११२. ७, ८. ३. १५।

५. ,, ,, १. ३६. १०, द्र० ऋ० ग्ला० ८९, वोबू० ६५५।

६. ,, ,, ३. ३१. १६ ऋ० ग्ला० ९०।

७. सा० ऋ० धन्व १ ३५. ८।

८. निरु० ६. ५ धन्वाऽन्तरिक्षं धन्वन्त्यस्मादापः।

वचन मानते हैं। देवराज – √धव्, √धन्[1]।

( तु० IE dhen 'to run', Lat. fons 'a spring' Eng. fountain )

**धरुण** < √धृञ् ( धारणे ) + णिच् = √धारय् + उनन् प्रत्यय (धारेर्णिलुक् च, उ० सू० ३. ५६), व्यत्यय से नित्स्वर का अभाव, प्रत्यय स्वर[2]। धरुण शब्द वेद में सर्वत्र मध्योदात्त है। नारायण ने प्रत्यय स्वर ही माना है[3]। ब्राह्मणों में √धृ अथवा √धर् से निर्वचन किया गया है[4]।

( तु० Av. dar 'to hold' )

**धर्णसि** < √धृ (धृञ्, धारणे) + असिच् प्रत्यय निपातित ( सानसिधर्णसिपर्णसि०, उ० सू० ४. ११७), ध्रियतेऽनेन राज्यादिरिति धर्णसिः, औपसंख्यानिक अन्तोदात्त (उञ्छादीनां च, पा० ६. १. १६०)[5]।

( तु० Av. der, Gr. thro – nos, thra – nos, thresasthai, (fri – tus) Lat. fri – tus, fri-num, prob. Eng. throne )

**धर्मन्** < √धृ ( धारणे ) + मनिन् प्रत्यय कर्ता में ( अन्येभ्योऽपि दृश्यते, पा० ३. २. ७५), छान्दस ह्रस्व, नित्स्वर[6]। वैयाकरण √धृञ् धारणे तथा √धृङ् अवसाने – दोनों से व्युत्पन्न मानते हैं[7]।

( तु० IE dher 'to support', Gr. therápōn 'servant' )

**धातवे** < √धे ( पाने ) + तवेन् प्रत्यय तुमर्थ में[8]।

**धानाः** < √धा ( धारणपोषणयोः ) + न प्रत्यय ( धापॄवस्यजतिभ्यो नः, उ० सू० ३. ६ ), धीयन्ते इति धानाः प्रत्ययस्वर[9]। ऋ० सं० में इसी से मिलता

---

१. देव० नि० १. ३. ५।

२. सा० ऋ० १. २३. १३, ५२. २, ७३. ४, १२१. २, द्र० सा० अ० धरुणी ३. १२. ३, देव० नि० १. १२. २४, ऋ० ग्ला० ६०, वोबू० ६५८।

३. द्र० दश० ५. ६० पर युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी।

४. तद्यत् तमाह धरुण इति यदाह्येवैषोऽस्तमेति, अथेदं सर्वं ध्रियते – श० ब्रा० ८. ४. १. १२, द्र० ४. ६. ९. ९, ५. २. १. २५, तै० ब्रा० ३. ७. ६. ८, ३. ८. ३. ६, ता० म० ब्रा० १. १०. ६, २. २. १४।

५. सा० ऋ० १. १०५. ६।

६. ,, ,, १. ५५. ३. ३. १७. १, द्र० निरु० ९. २५ धारयितारम्।

७. दश० ७. २६, उज्ज्व० १. १३९, श्वे० १. १२७, उ० म० दी० १. १३०।

८. सा० ऋ० १०. ११५. १।

९. ,, ,, १. १६. २, ३. ३५. ३।

जुलता शब्द 'धान्य' भी प्रयुक्त है, जिसकी व्युत्पत्ति √धा से संकेतित है। अतः यह भी √धा से ही व्युत्पन्न है[1]।

**धायसे** (क)—<धायस् < √धा + असुन् (वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि, उ० सू० ४. २६), युक् का आगम (आतो युक् चिण्कृतोः, पा० ७. ३. ३)।

(ख)—< √धेट् ( पाने )[2]। स्कन्द ने √धेट् पाने से ही व्युत्पन्न माना है[3]। गेल्डनर √धो, (ऋ० ग्ला० ६३), ग्रासमान – √धा (वोबू० ६७८)।

**धायु** < √धा + उण् प्रत्यय (औणादिक)[4]।

**धासि** < (क)— √धे ( पाने ) + सि प्रत्यय ( औणादिक ), धीयते पीयते इति धासिः।

(ख)— √धा + सि, प्रत्ययस्वर[5]। देवराज – √धा + क्सि प्रत्यय बाहुलक, ( प्लुषिशुषिकुषिभ्यः क्सिः, उ० सू० ३. १४६ ), बाहुलक इत्व का अभाव[6]।

**धितावानम्**<धित + वन, धित < √धा + क्त, धातु को छान्दस धि आदेश, वन < √वन् ( संभक्तौ ) + घञ् प्रत्यय कर्म में, बहुव्रीहि में धित निष्ठान्त का पूर्व निपात ( निष्ठा, पा० २. २. ३६ ), पूर्वपदप्रकृतिस्वर, संहिता में – धितावानम्[7]।

**धियंजिन्व** < धियम् + जिन्व, धियम् < √ध्यै ( चिन्तायाम् ) + क्विप्, ध्यायन्तीति धियः स्तोतारः, धियम् + √जि ( प्रीणनार्थक ) + खच् बाहुलक ( कृत्यल्युटो बहुलम्, पा० ३. ३. ११३ ), पूर्वपद को अम् का आगम ( इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च, पा० ६. ३. ६८)[8]।

**धियंधाः** <धियम् + √धा + क प्रत्यय ( आतोऽनुपसर्गे कः, पा० ३. २. ३ ), द्वितीया विभक्ति का बाहुलक अलुक् ( तत्पुरुषे कृति बहुलम्, पा० ६. ३. १४ )[9]।

---

१. ऋ० सं० ५. ५३. १३, ६. १३. ४, द्र० निरु० ५. १२ धाना भ्राष्टे हिता भवन्ति, फले हिता भवन्तीति वा।

२. सा० ऋ० १. ३१. १३, ७२. ६, ६४. १२, १३०. २, २. १७. २, ३. ३८. ३।

३. स्क० ऋ० १. ३१. १३।

४. सा० ऋ० ३. ३०. ७ द्र० वोबू० ६७८।

५. ,, ,, १. ६२. ३, ३. ७. १।

६. देव० नि० २. ७. ११।

७. सा० ऋ० ३. २७ २, ४०. ३।

८. ,, ,, १. ८९. ५, द्र० स्क० भा० वहीं।

. ,, ,, १. ६७. २, ७२. २।

**धिषणा** < √धृष् ( प्रागल्भ्ये ) + क्यु प्रत्यय तथा धातु को धिष आदेश ( धृषेर्धिष च संज्ञायाम्, उ० सू० २. ८२ ), धृष्णोत्यनयेति धिषणा स्तुतिः, प्रत्यय-स्वर[१] । यास्क – √धिष्, धी + √सद्, धी + √सन्[२] । उद्गीथाचार्य ने अधिषवण का अकार-वकार लोप, लिंगवचन व्यत्यय से संक्षिप्त रूप माना है[३] । स्कन्द – धी + √ष्णै ( वेष्टने )[४] । देवराज० – धी + √सन् + अच्, √धृष् + क्यु, √धिष् ( धारण ) + क्यु[५] ।

( तु० IE dhds, religious feelings devotionon, Lat. fānum, sacred place, Av. daresh, Gr. tharsos, tharses, Lith. dristu, Goth. gadars, Ang. Sax. dors te, Eng. durst )

**धिष्ण्याः**<धी + √उष् ( दाहे ) + यत् प्रत्यय, नुट् का आगम, धातु का आदि लोप, उपपदह्रस्व निपातित (सानसिधर्णसि० उ० सू० ४. ११७), नित्स्वर[६] । श्वेतवनवासी – √धिष्, √धृष् ( प्रागल्भ्ये ) + कन्यन्, दुर्ग – √धिष् + न्यक् णत्व (धिषेर्न्यक्, उ० सू० ६. ६०), भोज – √धृष + नु, धातु को धिष आदेश ( सरस्व० २. ३. ४ ), महादेव वेदान्ती – √धृष् + ण्य (तु० को० ४. १०७) ।

**धीति**< √धे ( पाने ) + क्तिच्, अन्तोदात्त[७] । देवराज० √धी ( दिवादि )[८] ।

**धुरः** < √धुर्व् ( हिंसार्थ ) + क्विप्, वकारलोप ( राल्लोपः, पा० ६. ४. २१ ) उपधादीर्घ ( र्वोरुपधायाः०, पा० ८. २. ७६ ), विभक्ति को उदात्त ( सावेकाचः०, पा० ६. १. १६८)[९] । यास्क – √धूर्व्, √धारय्[१०] ।

**धूम** < √धू ( कम्पने ) + मक् प्रत्यय (इषियुधीन्धि०, उ० सू० १. १३१), कित् होने से गुण का अभाव, धुनोति कम्पयति दाह्यानीति धूमोऽग्निः, प्रत्ययस्वर[११] ।

---

१. सा० ऋ० १. २२. १०, ३. ३१. १३ ।
२. निरु० ८. ३ धिषणा वाग् धिषते दधात्यर्थे, धीसादिनीति वा, धीसानितीति वा द्र० दुर्ग वहीं ।
३. उद्० ऋ० धिषणायाः – १०. १७. १२ ।
४. स्क० ऋ० धिष्ण्या – १. ३. २ ।
५. देव० नि० १. ११. ४४ ।
६. सा० ऋ० ३. २२. ३ ।
७. ,, ,, ३. १२. ७, १३. ५ ।
८. देव नि० २. ५. ७ ।
९. सा० ऋ० धूर्षु – ३. ३५. २ ।
१०. निरु० ३. ९ – धूर्वूर्वतेर्वधकर्मण इयमपीतराधूरेतस्मादेव विहन्ति वहं धारयतेर्वा, द्र० दुर्ग वहीं, देव० नि० २. ५. १८ ।
११. सा० ऋ० ३. २९. ९, द्र० केतुभ् – १. ४४. ३ वोबू० ६८९ ।

**धृष्णु**<√धृषा (प्रागल्भ्ये)+क्नु प्रत्यय (त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः, पा० ३. २. १४०), प्रत्ययस्वर[१]। सायण ने अन्यत्र (अ० सं० ७, १२१. १)√धृष् प्रसहने से व्युत्पन्न किया है।

**धेना**< √धे ( पाने )+न प्रत्यय तथा ईकार अन्तादेश (धेट ई च, उ० सू० ३. ११), गुण, धयन्ति ताम् इति धेना वाक्। यहाँ व्यत्यय से आद्युदात्त। अन्यत्र (ऋ० १. २. ३) प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त[२]। यास्क – √धा[३]। देवराज० √धा+शानच्, √धे+न, √धिवि (प्रीणनार्थ)+न प्रत्यय[४]।

**धेनु** < (क)— < √धे ( पाने ) + नु प्रत्यय ( धेट ई च, उ० सू० ३. ११ ), धयन्ति पिबन्ति यस्याः सा धेनुः, प्रत्यय स्वर ( आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३ )।

(ख)— √धिन्व् ( प्रीणनार्थक ) + नु प्रत्यय, वकारलोप[५]। ब्राह्मण√धी से निर्वचन करते हैं[६]। यास्क – √धे[७]। ग्रासमान – √धा (वोबू० ६६५)।

( तु० IE dhēin, dhēi 'to suck', sūckle, Av. daēnu Irish. deniom swidish. die )

**ध्रजीमान्**< √ध्रज् ( गतौ, तु० नि० २. १४ ) + इन् + मतुप्, ध्रजनं ध्रजिः, ध्रजिरस्ति अस्मिन्निति ध्रजिमान्, संहिता में दीर्घ (शरादीनां च, पा० ६. ३. १२०)[८]।

**ध्राजि**<√ध्रज्+णिच्+इञ् (वसिवपियजिराजिव्रजिध्राजि०, उ० सू० ४. १३४)[९]।

**ध्वसन्ति**<√ध्वंस् ( गतौ ) + झिङ् ( औणादिक ), न लोप ( अनिदिताम्० पा० ६. ४. २४), झ को अन्तादेश (झोऽन्तः, पा० ७. १. ३)। यह एक ऋषि का नाम है[१०]।

---

१. सा० ऋ० १. ६. २, २३. ११, ३०. १४, ३. ३६. ४, ५. १०. ५, १०. १०२. १, १२०. ४, द्र० सा० अ० १. १३. ४, २. १४. १, वोबू० ६९५।
२. सा० ऋ० ३. ३४. ३।
३. निरु० ६. १७. – धेना दधातेः।
४. देव० नि० १. ११. ३९।
५. सा० ऋ० धेनवः ३. ७. २, ८. ४. ८, द्र० उद्० ऋ० १०. २७. १४।
६. शा० ब्रा० १२. १ – आपो वै धेनव आपो हीदं सर्वं धिन्वन्ति, द्र० २३. १, २६. १४।
७. निरु० ११. ४२ – धेनुर्धयतेः, द्र० देव० नि० १. ११. ५२।
८. सा० ऋ० १. ७९. १, द्र० स्क० वहीं।
९. „ „ ध्राज्या – १०. ९७. १३, द्र० सा० अ० ३, १, ५, ६. १८. १, वोबू० ६९७।
१०. „ „ ० तिम् १. ११२. २३।

## न

**नक्षत्र** < (क)— √नक्ष् ( गतौ ) + अत्रन् प्रत्यय (अमिनक्षियजिबन्धिपतिभ्योऽत्रन्, उ० सू० ३. ६८), आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ ) ।

(ख)—न + √क्षर्, न क्षरते इति नक्षत्रम्, निपातन से (नभ्राण्नपान्न-वेदानासत्या०, पा० ६. ३. ७५) ।

(ग)—न + √क्षि, न क्षीयत इति नक्षत्रम्, निपातन से (पा० ६. ३. ७५)[१] । ब्राह्मणों में इसके तीन निर्वचन उपलब्ध होते हैं :—

क— √नक्ष्[२]

ख— न + क्षत्र[३]

ग— न + √क्षि[४] ।

यास्क ने √नक्ष् ( प्राप्त्यर्थक ) से निर्वचन किया है, जो तै० ब्रा० ( १. ५. २. ५) से प्रभावित प्रतीत होता है[५] । ग्रासमान – √नक्ष, (वोबू० ७०४) । मेयरहाफ़र √नक्त + क्षत्र[६] । औफ़ेक्ट तथा बेबर, नक्त + त्र = रात्रि का रक्षक व्युत्पत्ति देते हैं[७] । मैक्डोनेल नक् + क्षत्र = रात्रि पर शासन करने वाला, व्युत्पत्ति देते हैं[८] । सायण की व्युत्पत्ति व्याकरण-सम्मत है[९] ।

( तु० IE enk̑, nek̀, nk̑ 'to bring', 'to reach', Lith. ně̌sti, Lett. nest, ch. sl. nesti, Nositi, Av. nas. )

**नदी** < √नद् ( अव्यक्ते शब्दे ) + अच् (नन्दिग्रहि०, पा० ३. १. १३४ ), नदतीति नदः, स्त्री चेत् नदी, नद + ङीप् (नदट्, पा० ३. १. १३४ ग० में पाठ होने

---

१. सा० ऋ० १. ५०. २, ३. ५४. १६, १०. १५६. ४, द्र० सा० अ० ३. ७. ७ ।

२. तै० ब्रा० १. ५. २. ५ – यो हवा इह यजते । अमुं स लोकं नक्षते । तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम् ।

३. श० ब्रा० २. १. २. १८ – १९ – 'यथैवासौ सूर्य एवं (नक्षत्रं), तेषामेष उद्यन्नेव वीर्यं क्षत्रमादत्त', १. २. २ १९ 'यानि वै तानि क्षत्राण्यभूवन्न वै तानि क्षत्राण्यभूवन्निति । तद्वै नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम् । तै० ब्रा० २. ७. १८. ३ ।

४. गो० ब्रा० ३. १. ८ तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम् । यन्न क्षियन्ति ।

५. निरु० ३. २० – नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः ।

६. ए कन्साइज़ एटिमोलाजिकल डिक्शनरी, भाग २ पृ० १२३ ।

७. वैदिक कोश पृ० २२३ – २४ ।

८. वैदिक ग्रामर पृ० ७४ पं० ८ ।

९. श्वे० उ० वृ० ३. ९८, सि० कौ० पा० ६. ३. ७५ ।

से (टिड्ढाणञ्०, पा० ४. १. १५)[१]।

( तु० IE nedo, 'reed', Arm net 'arrow', M Pers. nai 'bamboo', 'reed' )

**नपात्**<(क)—न+पात् < √पा ( रक्षणे ) + शतृ प्रत्यय लट् के स्थान में, पातीति पात्, न पातीति नपात्, प्राप्त नलोप (नलोपो नञः, पा० ६. ३. ७३) का तथा नुम् का निपातन (नभ्राण्नपात्, पा० ६. ३. ७५) से अभाव।

(ख)—न + √पा + क्विप्, तुक् का आगम।

(ग)—न + √पत् ( गतौ ) + णिच् + क्विप्, णिलोप ( बहुलमन्यत्रापि संज्ञाच्छन्दसोः, पा० ६. ४. ५१), न पातयतीति नपात्, अव्ययपूर्वपद-प्रकृतिस्वर[२]। ऐ० ब्रा० में √पा ( रक्षणे ) से निर्वचन किया गया है[३]। देवराज० (नि० २. २. १३) सायण की तीसरी व्युत्पत्ति से सहमत हैं।

**नभस्**<(क)— √नह् (बन्धने) +असुन् तथा भ अन्तादेश (नहेर्दिविभश्च, उ० सू० ४. २१६) नह्यतीति नभः।

(ख)— √नभ् (हिंसाकर्मा) + क्विप्[४]। यास्क - √नी ( नये ) भास्, √भन् ( चमकना ) का विपरीत, न + न + √भा[५]। स्कन्द √नभ् (हिंसाकर्मा, तु० नि० २. १६) से तथा वेङ्कटमाधव √नभ् (व्याप्त्यर्थ) से व्युत्पन्न मानते हैं[६]।

( तु० Gr. nephos )

**नभन्यम्**< √नभ् (वधकर्मा, तु० नि० २. १६. १०)। सायण ने प्रत्यय का संकेत नहीं किया है। पर यह नभस्यम्>नभन्यम् - छान्दस रूप प्रतीत होता है,

---

१. सा० ऋ० १. ५५. २, ३. ३३. ४, द्र० सा० अ० १. ८. १, १५. ३, ३. १३. १, तै० सं० ५. ६. १. २, तै० ब्रा० २. ७. १६. ४, २. ८. ९. २, श० ब्रा० १. ४. १. १४, १४. ६. ८. ९, गो० ब्रा० १. २. १०, १४, षड् ब्रा० ५. १०, निरु० २. २४ - नद्यः कस्मान्नदना इमे भवन्ति, शब्दवत्यः, वोबू० पृ० ७०६।

२. सा० ऋ० १. २२. ६, ३७. ११, ५८. ८, ११७. १२, ३. ६०. ३, द्र० सा० अ० १. १३. २, २६. ३।

३. ऐ० ब्रा० २. ४ - प्राणो वै तनू नपात्. स हि तन्वः पाति।

४. सा० ऋ० १. ७१. १०, १७४. ८।

५. निरु० २. १४ - नभ आदित्यः - नेता भासाम् - अपि वा भन एव स्याद् विपरीतः, न न भातीति वा।

६. स्क० तथा वेङ्, ऋ० १. ७०. ८।

नभस्+यत् (तत्र भवः, पा० ४. ३. ५३) नभसि आकाशे भवः नभन्यः, स्वरित (तित्स्वरितम्, पा० ६. १. १८५)[1]।

**नमुचि** < न < √मुञ्च्+कि प्रत्यय (औणादिक), नञ् को निपातन से प्रकृतिभाव (नभ्राण्नपात् पा० ६. ३. ७५), अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[2]। वस्तुतः न + √मुञ्च् + इन्, न मुञ्चतीति नमुचिः – व्युत्पत्ति वैयाकरणों को अभीष्ट है[3]।

**नरः**<(क)—√नृ ( नये ) + अप् (ऋदोरप्, पा० ३. ३. ५७), आद्युदात्त।

(ख) – √नी (प्रापणे) + ऋ प्रत्यय (नयतेर्डिच्च, उ० सू० २. १०१), डित् होने से टिलोप, नयन्ति कर्माणि, नीयन्ते कर्माण्येभिरिति वा नरः[4]। काशकृत्स्न तथा चन्नवीर (धा० १. ६१४) √नृ से व्युत्पन्न मानते हैं।

**नराशंस**< नर+ √शंस् ( स्तुतौ ) + घञ् (हलश्च, पा० ३. ३. १२१), शंसन्त्यस्मिन्निति शंसः, आद्युदात्त, नराणां शंसः, संहिता में दीर्घ (अन्येषामपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७), समास में पूर्वोत्तर पद में प्रकृतिस्वर (उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्, पा० ६. २. १४०)[5]।

पीटर्सबर्ग के अनुसार वैदिक रूप नर् है। नर कहीं भी वैदिक भाषा में स्वीकृत नहीं है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार 'नराँ न शंसः' है (ऋ० २. ३४. ६)[6]। यह अग्नि का विरुद है।

**नव** < √नु (स्तुतौ) + अप् (ऋदोरप् पा० ३. ३. ५७), नूयते इति नवम्[7]। यास्क आ + √नी, से व्युत्पत्ति देते हैं, जो नितान्त काल्पनिक है[8]।

( तु० IE newo, newyo, Gr. néos, O Eng. nūve, Av. nava )

**नव (नवन्)**<√नु (स्तुतौ) + कनिन् (नुदंसेर्गुणश्च, उ० सू० १. १४४) तथा धातु

---

१. सा० ऋ० १. १७३. १।
२. ,, ,, १. ५३. ७।
३. पा० ६. ३. ७५ पर सि० कौ० एवं त० बो०।
४. सा० ऋ० १. ८. ६, १२१. २, ३. २६. ५, ५१. २।
५. सा० ऋ० १. १३. ३, १०६. ४, ३. २९. ११, श० ब्रा० १. ८. २. १२, ऐ० ब्रा० २. ४, ६. २७, ३२, द्र० निरु० ६. ३ – ० स अग्निरिति शाकपूणिः, नरैः प्रशस्यो भवति, देव० नि० ५. २. ४, स्क० निरु० ९. ९।
६. एटि० यास्क पृ० ५९, ७९।
७. सा० ऋ० १. २०. ६, द्र० देव० नि० ३. २८. १।
८. निरु० ३. १९, नवं कस्माद् आनीतं भवति।

को गुण एकादेश, आद्युदात्त[१]। यास्क – न – √वन् (संभक्तौ), न + √आप्[२]।

( तु० IE neun, 'ninə', Lat. novem 'nine' ).

**नवग्वाः** (क) < नवन् + √गम् + ड्व प्रत्यय ( औणादिक ), नवभिर्मासैर्गच्छन्तीति नवग्वाः।

(ख) नवन् + √गम् + क्विप् , अनुनासिकलोप (गमः क्वौ, पा० ६. ४. ४०), अकार को ऊकार ( ऊ च गमादीनामिति वक्तव्यम्, वा० पा० ६. ४० ) नवगूः, नवभिः गमनं येषां ते नवग्वाः, नवगू + जस्, यणादेश (ओः सुपि, पा० ६. ४. ८३ ), छान्दस दीर्घ बहुव्रीहि में पूर्वप्रद प्रकृतिस्वर[३]। यास्क नव ( नूतन ) + √गम्, नवनीत + √गम्[४]। ग्रासमान, नवन् + ग्व, (वोबू० ७१४)।

**नवेदस** < न + √विद् + असुन् ( औणादिक), नञ्समास, नकार को प्रकृतिभाव (नभ्राण्नपात्०, पा० ६. ३. ७५)[५]। सायण की व्युत्पत्ति व्याकरण सम्मत है, पर स्कन्दस्वामी न + न + √विद् + असुन्, एक नञ् का लोप; दूसरे का प्रकृतिभाव न न वैतीति नवेदः – व्युत्पत्ति देते हैं[६]। उद्गीथ ने भी इसकी पुष्टि की है[७]।

**नहुष** < √ नह् ( बन्धने ) + उषच् प्रत्यय ( नहिकलिहनिलसिभ्य उषच्, उ० सू० ४. ७९ ), आद्युदात्त (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)[८]। देवराज०- √ नह् + उस् प्रत्यय बाहुलक ( जनेरुसिः, उ० सू० २. ११६ )[९]।

**नाक** < न + अक ( न + क = सुख ), कं सुखम्, तत् यस्मिन्नस्ति असौ अकः, न अको नाकः निपातन से (नभ्राण्नपात्०, पा० ६. ३. ७५) नलोप का अभाव, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर से उदात्त (तत्पुरुषे तुल्यार्थ० पा० ६. २.

१. सा० ऋ० ३. ६. ६।
२. निरु० ३. १० – नव न वननीया नावाप्ता वा, द्र० दुर्ग वहीं।
३. सा० ऋ० १. ३३. ६, ६२. ४, ३. ३९. ५।
४. निरु० ११. १९ नवग्वा :—नवगतयोनवनीतगतयो वा, द्र० दुर्ग वहीं।
५. सा० ऋ० १. ३४. १, १०. ३१. ३।
६. स्क० ऋ० ५. १४. ३, द्र०. देव० नि० ३. १५. ९।
७. उद्० ऋ० १०. ३१. ३।
८. सा० ऋ० १. ३१. ११, द्र० वोबू० ७२१।
९. देव० नि० २. ३. ९।

२)[1] । यास्क – √नी (नये), न+अ+क[2] । जिनेन्द्र बुद्धि के अनुसार यह रूढ़ शब्द है तथा यथाकथञ्चित् व्युत्पन्न किया जा सकता है । (पा० ६. ३. ७५) ।

**नान्द्यम्** < √नन्द् (समृद्धौ)+ण्यत् (ऋहलोर्ण्यत्, पा० ३. १. २४), नन्दितुं योग्यम् नन्द्यम्, नान्द्यम् वा, स्वरित अन्त अक्षर पर (तित्स्वरितम्, पा० ६. १. १८५)।[3]

**नाभिः** < नह् (बन्धने)+इञ् प्रत्यय, धातु को नभ आदेश अथवा भकार अन्तादेश (न हो भ च, उ० सू० ४. १३५), नह्यतीति नाभिः मध्यस्थानम्, आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)[4] । नाभा – नाभि+ङि, स० ए०, विभक्ति को डादेश ।[5] ब्राह्मणों में न+भि< √भि (भये) – निर्वचन मिलता है[6] । यास्क – √ नह[7] । ग्रासमान – √नभ् (वोबू० ७२३) ।

(तु० IE nǒbh navel, Ang. Sax. nafu, navel of wheel, Litt. naba, OHG nabal o, M. HG nabel, NH G nabal, O Pers, nābis, Av. nāfa' N Pers naf. navel).

**नाम** < √नम् (प्रह्वत्वे)। मनिन् प्रत्यय (नामन्सामन्०, उ० सू० ४. १६२) तथा निपातन से मकारलोप – दीर्घ, नमयन्ति स्वाश्रयभूतान् पुरुषानिति नामानि तेजांसि, नामन्+सु, विभक्ति लुक् (सुपां सुलुक्० पा० ७.

---

१. सा० ऋ० १. १६. ६, ३४. ८, ५. १७. २, द्र० सा० अ० १. ९. २, ३. २६. ३, ६. १२२. ४, १६. ७. १, द्र० श० ब्रा० ८. ४. १. २४ – नाक इति नहि तत्र गताय कस्मै च नाकं भवति, ता० ब्रा० २१. ८. ४, छा० उप० २. १०. ५, जै० ब्रा० २. ३. ४५ ।

२. निरु० २. १४ नाकःनेता । रसानाम्, नेता भासां ज्येतिषां प्रणयः । कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिध्यते ।

३. सा० ऋ० १ ३४. ४ ।

४. ,, ,, १. ५९. १, १०४. ४, द्र० नाभा – १. ४३. १, ३. २६. ४, सा० अ० १. १३ ३, ४. ३५. १ ।

५. ,, ,, १. ४३. ९, ३. २९. ४ ।

६. ऐ० ब्रा० १. २०—प्राणो वै अयम् सन्नाभेरिति तस्मान्नाभिस्तन्नाभेर्नाभित्वम्, द्र० श० ब्रा० १. १. २. २३, तथा द्र० सायणभाष्य वहीं ।

७. निरु० ४. २१ – नाभिः सन्नहनात् ।

१. ३६), नलोप, नित्स्वर[१]।

(तु० IE nōmen a name, Lat. nomen, Av. naman)

**नासत्या** < (क) न + असत्य<न + सत्य<सत् + य (तत्र भवः, तत्र साधुः) सत्सु भवौ सत्यौ न सत्यौ असत्यौ, न असत्यौ नासत्यौ, नकार को प्रकृतिभाव ( नभ्राण्नपात्, पा० ६, ३. ७५)।

(ख) सत्य + √नी ( नये ), सत्यस्य नेतारौ (अश्विनौ)।

(ग) नासिका ( नासिका प्रभवौ )[२]। सायण की व्युत्पत्ति यास्क पर आधारित है। यास्क के अनुसार पहली व्युत्पत्ति और्णवाभ आचार्य की तथा शेष दोनों आग्रायण को हैं[३]। ग्रासमान – न + असत्य (वोबू०७२६)।

**निजुरः** < नि + √जूर् ( जूरी हिंसार्थः ) + क्विप् ( संपदादिलक्षण ), छान्दस ह्रस्व[४]।

**नितोशनम्** < √नितोश् ( वधकर्मा, तु० नि० २. १६. १६ ) + ल्युट्[५]। ग्रासमान – नि + √तुश्, (वोबू० ७२६)।

**निनमे** < नि + √नम् + केन् प्रत्यय कृत्य अर्थ में[६]।

**निबाढ्हः** < नि + √वाह् ( प्रयत्ने, यहाँ उपसर्ग के सामर्थ्यवश पतन अर्थ ) + क्त प्रत्यय, इट् का अभाव ( अनित्यमागमशासनम्), ढत्व, गति को प्रकृतिस्वर (गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४६ )[७]।

**नियुत्** < नि < √यु (मिश्रणे) + क्विप, नितरां युवन्ति मिश्रयन्ति आत्मानं रथेष्विति नियुतो बडवाः[८]।

ऋ० सं० में वसिष्ठ मैत्रा० वरुणि ने नि + यु से इसकी व्युत्पत्ति

---

१. सा० ऋ० ३. २०. ३, ३८. ४, द्र० निरु० ४. २७ – इदमपीतरन्नामैतस्मादेव, अभिसन्नामात्।

२. सा० ऋ० १. ३. ३, २०. ३, ३४. ७, ४७. ७, ११६. १, ३. ५४. १६, ८. ५. २३।

३. निरु० ६. १३ – नासत्या सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः, सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः, नासिकाप्रभवौ वभूवतुरिति वा, द्र० दुर्ग वहीं।

४. सा० ऋ० २. २६. ६।

५. „ „ १०. ६०. २।

६. „ „ ३. ५६. १।

७. „ „ १. १०६. ६, द्र० ऋगर्थसार वहीं।

८. „ „ १. १३५. १, ७, ३. ३१. १४, ५८. ७।

संकेतित की है[1]। यास्क – नि + √यम्, नि + √युज्[2]। देवराज० – नि + √यु ( मिश्रणे ), नि + √यम्[3]। गेल्डनर (ऋ० ग्ला० ६६) तथा ग्रासमान – (वोबू० ७३२) सायण की उत्पत्ति से सहमत हैं।

( तु० √यु – IE i̯ ǔ 'to connect', Lett. jutis 'a joint')

**निरष्टाः**<(क)—निस् + √अश् ( व्याप्तौ ) + क्त प्रत्यय भाव में, इट् प्रतिषेध (यस्य विभाषा, पा० ७. २. १५), षत्व, ष्टुत्व, निस् के साथ बहुव्रीहि-समास, पूर्वपदप्रकृतिस्वर।

(ख)—निस् + √अस् + क्त कर्म में, सकार को छान्दस षत्व, गति को प्रकृतिस्वर (गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४६)[4]। स्कन्द √अशू व्याप्तौ से ही व्युत्पन्न मानते हैं[5]।

**निर्ऋतिभ्** < निर् + √ऋ + क्तिन, गति को प्रकृतिस्वर ( तादौ च०, पा० ६. २. ५०, अथवा 'गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४६)[6]। देवराज – ने स्कन्द स्वामी के मत में निर् + √रम् + क्तिन् (कृत्यल्युटो बहुलम्, पा० ३. ३. ११३), अनुनासिक लोप ( पा० ३. ३. ६४ ), सम्प्रसारण (रयेर्मतौ बहुलम्, वा० पा० ६. १. ३४) व्युत्पत्ति दी है[7]।

**निष्षपी** <निस् + √सप् ( समवाये ) + अच् ( पचादि ), सपति समवैति योऽन्या संगच्छते इति सपः शेपः, निर्गतो नित्योद्धृतः सपः शेपो यस्य स स्त्रीव्यसनी निष्षपः। वर्णव्यापत्ति से ईकार – निष्षपी[8]। यास्क – निस् + √सप् (स्पृशतिकर्मा, तु० नि० ४. २. ५६)[9]। देवराज० ने सप् (स्पृशतिकर्मा)

१. ऋ० सं० ७. ६१. ५ – नियुवाना नियुतः स्पार्हः – वीरा इन्द्रवायू, स रथं यातमर्वाक्।
,, ,, ७. ९२. ३ – प्रयाभिर्यासिदाश्वांसमच्छा, नियुद्भिर्वायविष्टये दुरोणे, नि नो रयिं सु – भोजसं युवस्व।

२. निरु ५. २८ – नियुतो नियमनाद्वा, नियोजनाद्वा। द्र० उद्० ऋ० १०. २६. १।

३. देव० नि० १. १५. १०।

४. सा० ऋ० १. ३३. ६।

५. स्क० ऋ० १. ३३. ६।

६. सा० ऋ० १. २४. ९, ११६. ७ द्र० श० ब्रा० ७. २. १. ११ – इयं वै तं निरर्पयति यो निर्ऋच्छति, तु० तै० ब्रा० १. ६. १. १।

७. देव० नि० १. १. १६।

८. सा० ऋ० १. १०४. ५।

९. निरु० ५. १६ – निष्षपी स्त्रीकामो भवति विनिर्गतसपा, सपः सपतेः स्पृशति-कर्मणः।

+ असुन्, सकार-पकार विपर्यय, निष्षपा > निष्षपी, व्युत्पत्ति दी है[१]। ग्रासमान निस्+√सप् > निष्षपिन् – व्युत्पत्ति देते हैं – (वोबू० ७३६)। सम्भव है, यह पसस् का विपर्यय से बना रूप हो[२]। सायण का पाठान्तर भी 'विनिर्गतपसा' मिलता है[३]।

**निष्षिध्वरीः**<निस् + √षिध् (संराद्धौ) + क्विप् भाव में (संपदादिलक्षण), निस्सिध्+वनिप् (छन्दसीवनिपौ वा० पा० ५. २. १०६), निस्सिध्वन् +ङीप् तथा रेफादेश (वनो र च, पा० ४. १. ७) निस् के सकार का छान्दस अनादर कर षत्व (उपसर्गात्०, पा० ८. ३. ६५), अनुदात्त (अनुदात्तौ सुप्पितौ, पा० ३. १. ४) होकर धातुस्वर[४]।

**नीचावयाः**<(क)—न्यच्+औ (प्र० द्वि०)+वयस्+औ, न्यञ्चौ वयसौ यस्याः सा नीचावयाः, न्यच् + औ में विभक्ति के स्थान पर टा (तृ० ए०) आदेश (सुपां सुपो भवन्ति), बहुव्रीहिसमास, अकारलोप (अचः, पा० ६. ४. १३८), दीर्घ (चौ०, पा० ६. ३. १३८) दीर्घ को उदात्त (अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम्, पा० ६. १. १७०), समास में विभक्ति-लुक् का अभाव छान्दस, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर।

(ख)—नीच+औ+वयस्+औ, नीचौ निकृष्टौ वयसौ यस्याः सा, पूर्वपद को छान्दस दीर्घ[५]।

**नीचीनाः**<नि+अञ्च्+क्विन्+ख प्रत्यय स्वार्थ में (विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम्, पा० ५. ४. ८) ख को ईन आदेश (आयनेयी०, पा० ७. १. २) ईकार उदात्त (आयनादिषूपदेशिवद्वचनं स्वरसिद्ध्यर्थम, वा० पा० ७. १. २), अकार लोप (अचः, पा० ६. ४. १३८), दीर्घ[६]।

**नीथ**< √नी (प्रापणे) + क्थन् प्रत्यय (हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्, उ० सू० २. २), स्त्री० में नीथा[७]।

**नूतन** < नव + तनन् प्रत्यय तथा नव को 'नू' आदेश (नवस्य नू आदेशः, त्नप्तनप्खाश्च, वा० पा० ५. ४. २५), नित्स्वर (पा० ६. १. १९७)[८]।

---

१. देव० नि० ४. २. ५६।
२. एटि० यास्क पृ० ६४।
३. सा० ऋ० १. १०४. ५ पर पाठ भेद तथा देव नि० ४. २. ५६।
४. सा० ऋ० ३. ५५. २२।
५. ,, ,, १. ३२. ९।
६. ,, ,, १. २४. ७।
७. ,, ,, १. १०४. ५, द्र० नीथविदः ३. १२. ५।
८. ,, ,, १. १. २, ३. ३२. १३, ४७. ५, द्र० देव० नि० ३. २८. ३, ऋ० ग्ला० १०२, बोबू० ७४७।

**नृचक्षस्** <नृ + √चक्ष् ( व्यक्तायां वाचि ) + असुन् प्रत्यय ( चक्षेर्बहुलं शिच्च, उ० सू० ४. २३७), शित् होने से सार्वधातुकत्वात् (तिङ्शित्सार्वधातुकम्, पा० ३. ४. ११३), ख्याञादेश का अभाव (असनयोश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः, वा० पा० २. ४. ५४), नॄन् चष्टे इति नृचक्षाः, नृभिः मनुष्यैः ख्यायते दृश्यते उपास्यत्वेन साक्षात्क्रियत इति वा नृचक्षाः[1]। यास्क चक्षिङ् को पश्यतिकर्मा मानते हैं (निरु० . ११)।

**नृतु, नृतू**<(क)— √नृत् (गात्रविक्षेपे) + कू प्रत्यय (नृतिशृध्योः कू, उ० सू० १. ८६), नृत्यतीति नृतू सर्वस्य नर्तयिता, नृतु<नृतू, छान्दस ह्रस्व।

(ख)—नृ + √तुर्व ( हिंसार्थ ) + क्विप् (क्विप् च, पा० ३. २. ७६) वलोप ( राल्लोपः, पा० ६. ४. २१ ), दीर्घ ( र्वोरुपधायाः ०, पा० ८. २. ७६ ) ।

(ग)— √नॄ ( नये ) + तु प्रत्यय (औणादिक), धातु को छान्दस ह्रस्व, नृतु = नेता[2]। सायण की प्रथम व्युत्पत्ति वैयाकरणों को अभीष्ट है[3]।

**नृवाहसा**<नृ + √वह् + असुन् + अनै, नित्स्वर (पा० ६. १. १९७), कृदुत्तरपदप्रकृति-स्वर से वही शेष रहता है[4]।

**नृषाचः** < नृ + √सच् (षच् समवाये) + ण्विप्रत्यय ( वहश्च, पा० ३. २. ६४) = नृषाच् + जस्, प्र० ब०[5]।

**नृषाह्य** < नृ + √सह् (मर्षणे) + यत् प्रत्यय (शकिसहोश्च, ३. १. ९९), छान्दस षत्व ( पूर्वपदात्, पा० ८. ३. १०६ )। आद्युदात्त ( यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३), संहिता में धातु के अकार को दीर्घ (अन्येषामपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७)। समास में कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[6]।

**नेमे** < नेम + जस्, विभक्ति के स्थान में 'शी' आदेश (पा० ७. १. १७) गुण, व्यत्यय से आद्युदात्त (त्वत्त्वसमसिमेत्यनुच्चानि, फि० सू० ७८)[7]। यास्क – अप + √नी[8]। रामचंद्र दीक्षित √नी + मन् ( अर्तिस्तु०, उ० सू० १. १३९),

---

१. सा० ऋ० ०चक्षसम – १. २२. ७, ०चक्षाः ३. १५. ३, २२. २, द्र० सा० अ० १. ५. ५, ४. १६. ७, २९. २।

२. सा० ऋ० ० इव – १. ९२. ४, नृतुः ८. ९२. ३, द्र० स्क० ऋ० १०. २९. २।

३. श्वे० उ० वृ० १. ८९, द्र० वोबू० ७५२।

४. सा० ऋ० १. ६. २।

५. ,, ,, १. ५२. ९।

६. ,, ,, १. ३३. १४, १००. ५, ११२. २२, द्र० वोबू० ७५३।

७. ,, ,, १. ५४. ८।

८. निरु० ३. २० – नेमोऽपनीतः।

नयतीति नेमः व्युत्पत्ति दी है[१]। यह अर्ध का वाचक सर्वनाम है।
( तु० Av. naēma, N Pers. Nēm )

**नेमधिता**<नेम + √धा + क्त, धातु को 'धि' भाव निपातित (सुधितवसुधित०, पा० ७. ४. ४५), पूर्वपदप्रकृतिस्वर (तृतीया कर्मणि, पा० ६. २. ४८), नेमधित + टा, तृ० ए०, विभक्ति को आकार (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९)[२]।

**नोधस्** < नव + √धा + असुन्, नव को नो भाव[३]। सायण की व्युत्पत्ति यास्क पर आधारित है[४], वैयाकरण √नु + असि, प्रत्यय को धुट् का आगम (नुवो धुट् च, श्वे० उ० वृ० ४. २३१), पुगन्त गुण, व्युत्पत्ति देते हैं।

**नैचाशाखम्**<नीचाशाख (<नीचैः शाख) + अण् ( तस्येदम्, पा० ४. ३. १२० ), प्रत्ययस्वर। शाखा<√शक्[५]।

**नौः** < √नुद् ( प्रेरणे ) + डौ प्रत्यय (ग्लानुदिभ्यां डौ, उ० सू० २. ६५) नुद्यत इति नौः प्लवः[६]। ऋ० सं० में इसकी व्युत्पत्ति √नु (स्तुत्यर्थक) से सूचित है[७]। यास्क √नुद्, √नम्[८]।

( तु० IE nau, Gr. néo's (= nāvas) Lat. nāvio, nauta, G. nachen )

**न्यृष्टः** < नि + √ऋष् ( गतौ ) + क्त प्रत्यय, इट्प्रतिषेध ( श्वीदितो निष्ठायाम्, पा० ७. २. १४ ), गति प्रकृतिस्वर ( गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४९ )[९]। उद्गीथ √ऋ ( गतौ ) से व्युत्पन्न मानते हैं[१०]।

---

१. उ० म० दी० १. १३०, पृ० ८४।
२. सा० ऋ० १. ७२. ४।
३. ,, ,, १. ६१. १४।
४. निरु० ४. १६ नोधा ऋषिर्भवति नवनं दधाति।
५. सा० ऋ० ३. ५३. १४।
६. ,, ,, नावः – १. २५. ७।
७. ऋ० सं० ९. ४५. ५ – समी सखायो अस्वरन्वनेक्रीळन्तमत्यविमिन्दुं नावा अनूषत।
८. निरु० ५. २३ – नौः प्रणोत्तव्यो भवति, नमते वा।
९. सा० ऋ० १०. १०८. ७,न्यृष्टे – ३. ५५. २०।
१०. उद्० ऋ० न्यृष्टम् १०. ४२. २।

# षष्ठ अध्याय

# प

**पतत्रिणः** < √पत् (गतौ) + अत्रन् प्रत्यय (अमिनक्षि०, उ० सू० ३. ६८) पतत्यनेनेति पतत्रम् + इनि प्रत्यय मत्वर्थीय ( अत इनिठनौ, पा० ५. २. ११५ ), पतत्रिन् + जस्, प्र० ब०[१]। श्वेतवनवासी – (पतेरत्रिन्, उ० सू० ४. ७१) अत्रिन् प्रत्यय द्वारा पतत्रि निष्पन्न करते हैं। सायण के अनुसार पतत्रिन् का रूप 'पतत्रिणः' है।

**पति** < √पा (रक्षणे) + डति प्रत्यय ( पातेर्डतिः, उ० सू० ४. ५६ ), डित्सामर्थ्य से टिलोप, प्रत्ययस्वर[२]। ऋ० सं० में √पा से ही निर्वचन का संकेत मिलता है[३]। यास्क √पा, √पाल[४]। ग्रासमान – √पा, (वोबू० ७६४)। ( तु० IE Poti – s, 'master' Lat. patis 'capable' Av. paiti )

**पत्सुतः शीः** < (क)—पाद + तस् + √शी + क्विप्, पाद शब्द को पदादेश (पद्दन्०, पा० ६. १. ६३), मध्य में छान्दस 'सु' शब्दोपजन।

(ख)—पाद + सु (स० ब०) + तसिल् + √शी + क्विप्, विभक्ति के लुक् का अभाव छान्दस[५]।

**पदवी** < पद + √वी ( गति कान्त्यादिषु ) + क्विप्, पादेन वियन्ति गच्छन्तीति पदव्यः, अथवा पदानि वेत्ति परस्परं संगतानि करोतीति पदवीः कविः[६]। स्कन्द ने √वी को पश्यतिकर्मा माना है[७]।

**पदवीयम्** < पदवी + यत् (अचो यत्, पा० ३. १. ९७), गुण का अभाव (संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वात्, तु० परि० ९४), पदेन यातव्यः पन्थाः पदवीयः[८]।

**पनस्युम्** < √पन् (स्तुत्यर्थ) + असुन् = पनस् + क्यच् + उ प्रत्यय. पनः स्तोत्रमात्मन इच्छन्तीति पनस्युः[९]।

---

१. सा० ऋ० १. ४९. ३, द्र० सा० अ० १. १५. १।
२. ,, ,, १. ९. ४, १८. ६, २३. ३, ३. ७. ३।
३. ऋ० सं० ४. ५५. ५ – पात्पतिर्जन्यादहंसोनो.....।
४. निरु० १०. ११-१२, पातारं वा पालयितारं वा।
५. सा० ऋ० १. ३२. ८।
६. ,, ,, १. ७२. २, ३. ३१. ८, ५६. ४।
७. स्क० ऋ० १. ७२. २।
८. सा० ऋ० १०. ७१. ३।
९. ,, ,, १. ३८. १५, द्र० स्क० वहीं।

**पन्वा** < पनु + टा, तृ० ए०। पनु < √पन् ( स्तुतौ ) + उ प्रत्यय भाव में (औणादिक)[१]।

**पपुरिः** < √( पॄ ) + किन् प्रत्यय ( आदृगमहन०, पा० ३. २. १७१), कित्करण-सामर्थ्य से गुण (ऋच्छत्यृताम्, पा० ७. ४. ११) का अभाव, उत्व (उदोष्ठ्य-पूर्वस्य, पा० ७. १. १०२), नित् होने से आद्युदात्त[२]। ऋ० सं० में √पृ से ही इसकी व्युत्पत्ति अभीष्ट प्रतीत होती है[३]। यास्क - √पृ, √प्री[४]। गेल्डनर - √पृ (ऋ० ग्ला० १०५) तथा ग्रासमान (वोबू० ७७३) √पर् अथवा √पुर् से व्युत्पन्न मानते हैं।

**पप्रिम्** < √पॄ (पालनपूरणयोः) + किन् प्रत्यय (आदृगमहन०, पा० ३. २. १७१), छान्दस यणादेश, लिड्वद्भाव होने से द्वित्व, उरदत्व, हलादिशेष, आद्युदात्त[५]। पप्रा<पप्रि + सु, प्र० ए०, विभक्ति को डादेश (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९)[६]। ऋ० सं० में √पृ ( पूरण ) से व्युत्पत्ति का संकेत मिलता है[७]। शिरिम्बिठि काण्व ने सम्भवतया इसे 'पार जाना' अर्थवाली √पृ से प्रेरणा अर्थ में निष्पन्न माना है[८]। ग्रासमान - √ पर्, ( वोबू० ७७३ )।

**परावृजम्**<परा + √वृज् ( वर्जने ) + क्विप्, परावृणक्ति तपसा पापं विनाशयतीति परावृक्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर। अथवा परितः पापान् वृणक्ति दहतीति परावृक् कश्चिद् ऋषिः[९]।

**परिजर्भुराणः**<परि + √हृ (यङ्लुगन्त) = परिजर्भुर् + शानच् व्यत्यय से, अभ्यस्त का आदि उदात्त (अभ्यस्तानामादिः, पा० ६. १. १८९)[१०]।

**परिज्मन्**<(क)—परि + √अज् ( गतिक्षेपणयोः ) + मनिन् (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५), छान्दस अकारलोप, आमन्त्रित निघात, अन्यत्र नित् होने से आद्युदात्त।

---

१. सा० ऋ० १. ६५. २।
२. ,, ,, १. ४६. ४।
३. ऋ० सं० १. ४६. ४, १२५. ४।
४. निरु० ५. २४ - पपुरिरिति पृणाति निगमौ वा प्रीणाति निगमौ वा, द्रु० दुर्ग वहीं - पृणात्यर्थो वा प्रीणयत्यर्थो वा।
५. सा० ऋ० १. ५२. ३, ६१. २१, २. २३. १०, द्र० स्क० ऋ० ६. ५०. १३।
६. ,, ,, १. ६६. १-२।
७. ऋ० सं० १. ५२. ३-४ सहि पप्रिरन्धरूः। आयं पृणन्ति दिवि सद्म बर्हिषः।
८. ,, ,, ८. १६. ११ - स न पप्रिः पारयति स्वस्ति नावा पुरुहूतः। इन्द्रो विश्वा अतिद्विषः।
९. सा० ऋ० १. ११२. ८, २. १३. १२।
१०. ,, ,, १. १४०. १०।

(ख)—परि + √अज् + मनिन् निपातन से ( श्वन्नुक्षन्०, उ० सू० १. १४६) ।

(ग) परि + √अज् + कनिन् ( उ० सू० १. १४६)[1] । स्कन्द – √अज् (गतौ)[2] । श्वेतवनवासी – परि + √ज्वर + कनिन्, धातु को ज्मादेश – व्युत्पत्ति देते हैं[3] । उज्ज्वलदत्त (उ० पृ० १. १५८) परिज्वा रूप मानते हैं, पर पेरुसूरि इसे उचित नहीं मानते[4] । दश० – परि + √जन् ( प्रादुर्भावे ) + कनिन्, परि का उपधा लोप, तथा 'म' अन्तादेश[5] । रामभद्रदीक्षित – परि + √जस् (जसि प्रादुर्भावे) से व्युत्पन्न मानते हैं[6] । ग्रासमान – परि + √गम्, (वोबू० ७८५) ।

**परितक्म्य**<परि + √तक् (हसने, गतौ) + मक् प्रत्यय (औणादिक), = परितक्म + य प्रत्यय अर्ह अर्थ में (छन्दसि च, पा० ५. १. ६७), प्रादिसमास (प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया, वा० पा० २. २. १८) अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर[7] ।

**परिधि** < परि + √धा (धारणपोषणयोः) + कि प्रत्यय कर्म में (उपसर्गे घोः किः, पा० ३. ३. ९२) आकारलोप ( आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४ ), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[8] ।

**परिभ्वे** < परि + √भू + क्विप् = परिभू + केन् प्रत्यय (कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः, पा० ३. ४. १४), स्वरित (उदात्तस्वरितयोर्यणः, पा० ८. २. ४)[9] ।

**परीणशे**< परि + √ नश् ( व्याप्तिकर्मा ) + केन् प्रत्यय (कृत्यार्थे तवैकेन्०, पा० ३. ४. १४ ), आद्युदात्त, पूर्वपद को दीर्घ ( निपातस्य च, पा० ६. ३. १३६)[10] ।

---

१. सा० ऋ० १. ६. ९, २०. ३, ४६. १४, ६३. ८, ११२. ४, ५. १०. ५ ।

२. स्क० ऋ० १. २०. ३, ४६. १४ ।

३. उ० वृ० ४. १४६, पृ० ५६-५७ ।

४. औ० प० १. ८१६ – केचित्तु जोर्यणादेशे परिज्वेति बभाषिरे, न तत्साधु, यतो लक्ष्यविरोधः सर्वतः स्फुटः ।

५. दश० उ० वृ० ६. ५५, द्र० सि० कौ०, उ० सू० श्वन्नुक्षन्० तथा प्रौ० मनो०, त० बो० ।

६. उ० म० दी० १. १५३ ।

७. सा० ऋ० १. ३१. ६, १०. १०८. १, द्र० स्क० ऋ० १. ३१. ६, वे० ऋ० ५. ३०. १३, निरु० ११. २५, देव० नि० ४. १. २७, वोबू० ७८६ ।

८. ,, ,, १. ५२. ५, ३. ३३. ६, १०. १०३. ३, द्र० सा० अ० ४. ९. १, वोबू० ७८६ ।

९. ,, ,, २. १६. ३ ।

१०. ,, ,, १. ५४. १, द्र० स्क० वहीं ।

**परीणस्**<(क)—परि + √नस् (कौटिल्ये, यहाँ व्याप्त्यर्थ) + क्विप्, परिप्राप्तं नस् व्यापनं यस्य तत्तथोक्तम्, परितो नसन्ति गच्छन्तीति वा परीणसः, पूर्वपद को दीर्घ (निपातस्य च, पा० ६. ३. १३६), णत्व (उपसर्गादसमासेऽपि०, पा० ८. ४. १४), बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर।

(ख)—परि + √नश् (गतिकर्मा) + क्विप्, शकार के स्थान में सकार[१]।

**पर्जन्य** < सायण ने यास्क की व्युत्पत्ति उद्धृत कर दी है—

√तृप्, आद्यन्तविपर्यय द्वारा>√पर्त् + जन्य, पर + √जि, पर + √जन्, प्र + √अर्ज् ( < √ऋज् )[२]। स्कन्द ने यास्क के निर्वचनों की स्पष्टता दी है[३]:

(क)— √पर्त् ( < √तृप् ) + जन्य < जन + य ( हितार्थ में ) नामकरण।

(ख)—√पर्त् + जन + य, हितार्थ में, तर्पयिता चासौ जन्यश्चेति,

(ग)—पर + √जि + न्य प्रत्यय, पर के अकार का लोप,

(घ)—पर + √जन् + य, नामकरण,

(ङ)—प्र + √अर्ज् + न्य प्रत्यय, प्र का रेफलोप, अकारद्वय का पररूप।

वररुचि ने √तृप् + जन्य से आद्यन्तविपर्यय तथा तकारलोप द्वारा व्युत्पन्न माना है[४]। शौनक ने प्र + √अर्ज् से व्युत्पत्ति दी है[५]। क्षीरस्वामी - √पृष् ( सेचने )[६]। उणादि वृत्तिकारों में इस शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर पर्याप्त मतभेद है। उज्ज्वलदत्त √पृष् ( सेचने से ) निपातित मानते हैं[७]। श्वेतवनवासी √अर्ज ( आर्जने ) + अन्य प्रत्यय तथा धातु को पुट् का आगम कर व्युत्पत्ति देते हैं[८]। दश० - परि + √वृष् ( सेचने ) + अन्य, परि + √गर्ज + अन्य प्रत्यय निपातन से, परिवर्षति परिगर्जति वा पर्जन्यः[९]। दण्डनाथ नारायण √प्रु + क्यप् तथा जुट् का आगम[१०]। दुर्ग सिंह - √पृच् ( सम्पर्के ) + अन्य

---

१. सा० ऋ० ०णसः १. ५६. २, ०णसम् ३. २४. ५, ०णसा ५. १०. १।

२. ,, ,, ५. ८३. १, निरु० १०. १० द्र० देव० नि० ५. ४. ५।

३. स्क० निरु० १०. १०।

४. निरु० समु० मं० ७०, पृ० ६७।

५. बृ० दे० २. ३७-३८ – यदिमां प्रार्जयत्येको रसेनाम्बुरजेन गाम्।

६. क्षीर० १. ४६४।

७. उ० सू० ३. १०३ – पर्जन्यः, द्र० उ० को० वहीं।

८. ,, ,, ३. ९६ ,, ।

९. ,, ,, ८. ७, पृ० २८५।

१०. सरस्व० २. ३. ४, पृ० ७९।

प्रत्यय निपातन[1] से। भट्टोजिदीक्षित – √पृषु (सेचने) + ष > ज, से व्युत्पन्न करते हैं[2]।

(तु० IE Per – g'to strike', Lith. Percúnas, 'the God of thunder')

**पर्फटीका** < (क)— √फल् (त्रिफला विशरणे) + ईक प्रत्यय निपातित (पर्फटीकादयश्च, उ० सू० ४. २०)।

(ख)— √पृ (पालनपूरणयोः) + ईकन्, निपातित।

(ग)— √फर्व् (पूरणार्थ)[3]। वेंकट माधव – √फर् (फरिर्गमनकर्मा) से व्युत्पन्न मानते हैं[4]। उज्ज्वलदत्त – √स्फुट् (स्फुरणे), धातु व पर्फरादेश[5]। श्वेतवनवासी – √फल् (निष्पत्तौ) + ईकन्, धातु को पर्फरभाव[6]। पेरुसूरि – √स्फुट्, √फल, पर्व् तथा √पृ से निपातनात्[7]।

**पर्वत** < (क)—पूर्व् (पूरणे) + अतच् प्रत्यय (भृञ्दृशियजिपर्विपच्यमिनमिहर्योऽतच्, उ० सू० ३. १०३), पर्वति पूरयति भूमिमुदकेन इति पर्वतो मेघः, प्रत्यय-स्वर।

(ख)—पर्व + त प्रत्यय मत्वर्थीय, पर्ववान् पर्वतः[8]।

ऋग्वेद संहिता में मरुतों द्वारा पर्वतों को पर्व-पर्व (टुकड़े-टुकड़े करने की बात कही गई है। जिससे पर्वन् + त व्युत्पत्ति संकेतित प्रतीत होती है[9]। यास्क – पर्वन् (< √पृ, √प्री)[10] i कात्यायन – पर्व + त[11]।

---

१. उ० सू० ३. ४. पृ० २९।
२. सि० कौ, उ० सू पर्जन्य.।
३. सा० ऋ० १०. १०६. ६, द्र० मा० धा०, भ्वा० ३७३. पृ० १५७।
४. वे० ऋ० वहीं।
५. उ० सू० ४. २०।
६. ,, ,, पृ० १४३।
७. औ० प० ४. ८२ – स्फुरतेर्वा फलेः पर्वैः पृणातेर्वा निपातनात्।
८. सा० ऋ० १. १९. ७, ३७. ७, ५१. ४, १५५. १, ३. २६. ४, ५. ५६. ४।
९. ऋ० सं० ८. ७. २३ – विवृत्रं पर्वशो ययुर्विपर्वतां अराजिनः।
१०. निरु० १. २० – पर्वतः समुद्गीर्णो भवति, पर्ववान् पर्वतः, द्र० देव० नि १. १०. ९।
११. तप् पर्वमरुद्भ्याम् – बा० पा० ४. २. १२१।

पतंजलि – तप् प्रत्यय से ही व्युत्पन्न मानते हैं[१], पर काशिकाकार 'तप् पर्वमरुद्भ्याम्' वार्तिक में 'तप्' के स्थान पर 'तन्' पाठ मानते हैं[२]। नागेशभट्ट इसे अपपाठ मानते हैं[३]।

( तु० IE Per 'a knot', Gr. peirénante, Av. paurvatā )

**पर्षणिम्**<(क)— √पार् ( पारतीरकर्मसमाप्तौ ) + सन् + इन् प्रत्यय ( छन्दसि वनसन०, पा० ३. २. २७ ), पृषोदरादि।

(ख)— √पृ +सनि प्रत्यय (औणादिक)[४]।

**पवित्र**< √पृ ( पवने ) + इत्र प्रत्यय ( कर्तरि चर्षिदेवतयोः; पा० ३. २. १८६ ), पुनन्ति इति पवित्रा अग्निवायुसूर्याः, प्रत्ययस्वर[५]।

( तु० IE pǔ. to purify', Lat. pūrus 'pure' )

**पाक**< √पा (रक्षणे) + कन् प्रत्यय (इण्भीकापा०, उ० सू० ३. ४३), पायते रक्ष्यते राजादिना इति पाकः, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[६]। ऋ० सं० में पाक को √पच् के साथ प्रयुक्त कर दोनों में व्युत्पत्तिगत सम्बन्ध को सूचित किया गया है[७]।

( तु० IE pegu – to cook, Gr. péssō 'I cook' )

**पाजस्**<√पा (रक्षणे) + असुन् प्रत्यय तथा जुट् का आगम (पातेर्बलेर्जुट् च, उ० सू० ४. २०८), पातीति पाजः बलम्, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[८]। गेल्डनर – √पज्, (ऋ० ग्ला० १०८)।

( तु० IE pǎg 'to make firm' Gr. pegnumi, 'I make firm' )

---

१. पा० म० ५. २. १२१ भा० १ पृ० ५९६।

२. काशिका, पा० ५. २. १२१ ० तन् वक्तव्यः, द्र० हरदत्त – वहीं – आद्युदात्तार्थो नकारः।

३. पा० म० ५. २. १२१, वा० पर्वमरुद्भ्यां तप्, पर उद्योत – 'पिदयम्। नित्पाठस्तु लेखकप्रमादात्। मरुत्तस्य मध्योदात्तस्यैव इष्टेः।

४. सा० ऋ० १. १३१. २।

५. ,, ,, ३. २६. ८, द्र० निरु० ५. ६., दे० नि० १. १२. ८२।

६. ,, ,, पाकाय – ३. ९. ७, निरु० ३. १२, देव० नि० ३. ८. ८।

७. ऋ० सं० १. १६२. १०. – मेधं शृतपाकं पचन्तु।

८. सा० ऋ० १. ११५. ५, ३. १५. १, द्र० निरु० ६. १२, पाजः पालनात् देव० नि० २. ९. २।

**पाथस्**<√पा ( रक्षणे ) + असुन् प्रत्यय तथा थुट् का आगम (उदके थुट् च, उ० सु० ४. २०८, अन्ने च, उ० सू० ४. २०६) पातीति पाथोऽन्नम्, नित्स्वर[1]। ऋ० सं० में √पा ( रक्षणे ) से व्युत्पत्ति संकेतित है[2]। यास्क – √पा ( पाने ) से निर्वचन देते हैं[3]। देवराज० – √पथ्, √पन्थ, √पा ( पाने )[4]। गेल्डनर – √पा ( ऋ० ग्ला० १०८ )।

**पापीः** < पाप + ई प्रत्यय ( छन्दसीवनिपौ वा० पा० ५. २. १०६ ) = पापी + जस् विभक्ति के स्थान में सु आदेश[5]। यास्क – पाप < √पा ( पाने ), √पत्[6]।

( तु० IEt pēi – 'to curse', Goth, Faian 'to blame' )

**पायु**< √पा ( रक्षणे ) + उण् प्रत्यय (कृवापाजि०, उ० सू० १. १) युक् का आगम ( आतो युक् चिण्कृतोः, पा० ७. ३. ३३ ), प्रत्ययस्वर[7]। ऋ० सं० में √पा से ही व्युत्पत्ति संकेतित है[8]।

**पावक** < (क)— √पू ( पवने ) + ण्वुल्, वृद्धि, वु> अक आदेश (युवोरनाकौ, पा० ७. १. १), छान्दस अन्तोदात्त।

(ख)—पाव (=पवन) + √कै ( शब्दे ) + क प्रत्यय (आतोऽनुपसर्गे कः पा० ३. २. ३), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर से अन्तोदात्त[9]।

**पाष्या** < पाषी + टा ( तृ० ए० ), यणादेश, स्वरित ( उदात्तस्वरितयोर्यणः०, पा० ८. २. ४ )। पाषी < √पिष् ( संचूर्णने ) + इन् (औणादिक), बाहुलक उपधा को आकार, पाषि + ङीष् (कृदिकारादक्तिनः, पा० ४. १. ४५ – ग०) प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त[10]।

---

१. सा० ऋ० ३. ३१. ६, द्र० १. १५४. ५, ३. ८. ९।

२. ऋ० सं० ३. ५५. १० – विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथः। द्र० २. २. ४।

३. निरु०६. ७ उदकमपि पाथ उच्यते, अन्नमपि पाथ उच्यते, पानादेव।

४. देव० नि० ४. ३. ३०।

५. सा० ऋ० १०. १०८. ६।

६. निरु० ५. २. ०पापः पातापेयानाम्, पापत्यमानोऽवाङ्व पततीति वा।

७. सा० ऋ० १. ३१, १२. ८९. ५, ३. १५. ४, १०. १००. ९, द्र० सा० अ० ६. ३. २, ऋ० ग्ला० १०८, वोबू० ८०६।

८. ऋ० सं० १. ९५. ९, १३०. १०, १४३. ८, १८९. ४, २. २. ४, ५. ७०. ३, ६. ७१. ३, ७. ३८. ३, ८. ६०. ८।

९. सा० ऋ० १. ३. १०, १३. १, ०शोचिषम् – ३. ९. ८, पावक ३. १०. ८, द्र० स्क० ऋ० १. ३. १०, ऋ० ग्ला० १०६।

१०. ,, ,, १. ५६. ६।

**पितृ** < √पा ( रक्षणे ) + तृच् तथा निपातन से इत्व (नप्तृनेष्टृ०, उ० सू० २. ९६), पाति पालयतीति पिता पालकः, अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[१]। यास्क √पा ( रक्षणे ), √पाल्[२]।

**पितरा** < पिता च माता च, पितरौ, पितृ का एकशेष (पिता मात्रा, पा० १. २.७०), पितृ + औ ( प्र० द्वि० ), विभक्ति को डादेश ( सुपां सुलुक्० पा० ७. १. ३९ )[३]।

( तु० IE pǝter, father, Gr. pater )

**पिप्रु** < √पृ (पालनपूरणयोः) + कु प्रत्यय (पृभिदिव्यधि०, उ० सू० १. २३) उत्व का अभाव (बहुलं छन्दसि, पा० ७. १. १०३), छान्दस द्विर्वचन, अभ्यास को उदत्व, हलादिशेष, अभ्यास को बाहुलक इत्व ( अर्तिपिपर्त्योश्च, पा० ७. ४. ७७), यणादेश[४]।

**पिबध्यै** < √पा (पाने) + शध्यै प्रत्यय (तुमर्थे०, पा० ३. ४. ९), धातु को पिबादेश (पाघ्राध्मा०, पा० ७. ३. ७८), नित्स्वर[५]।

**पियारुम्**< √पी ( हिंसाकर्मा )[६]। सायण ने प्रत्यय का संकेत नहीं किया है। यह व्युत्पत्ति यास्क पर आधारित है[७]। गेल्डनर - √पीय् (ऋ० ग्ला० १०९) गेल्डनर √ पी (वोबू० ८१७)।

(तु० IE pī̌, to curse', OHG 'fīēn : to hate')

**पीत्वी**< √ पा (पा (पाने) + क्त्वा प्रत्यय, निपातन से 'त्वी' आदेश (स्नात्व्यादयश्च, पा० ७. १. ४९) ईत्व (घुमास्था०, पा० ६. ४. ६६)' प्रत्यय-स्वर[८]।

**पुमांसम्** <पुमस् + अम् (द्वि० ए०)। पुमान् < √पा ( रक्षणे ) + डुम्सुन् प्रत्यय (पातेर्डुम्सुन्, उ० सू० ४. १८३), डित् होने से टिलोप, पातीति पुमान्,

---

१. सा० ऋ० पितरम् २. २७. ९।
२. निरु० ४. २१ पिता पाता वा पालयिता वा।
३. सा० ऋ० १. ११०. ८, ० इव० ३. ५८. २।
४. ,, ,, १. ५१. ५, १०३. ८।
५. ,, ,, १. ८८. ४, ३. ३२. १५।
६. ,, ,, १. १९०. ५।
७. निरु० ४. २५ पियारु देवपीयुं, पीयतिर्हिंसाकर्मा।
८. सा० ऋ० ३. ४०, ७, १०. ११३. १.।

नित्स्वर ( पा० ६. १. १९७ ), पुंस् को असुङ् आदेश ( पुंसोऽसुङ्, पा० ७. १. ८९)[1] । यास्क – √पुंस् तथा पुरु + √मन्[2] ।

( तु० IE pumes 'man', Lat. pūbēs 'adult' )

**पुरंदर** < पुरु + √दृ (विदारणे) + खच् प्रत्यय (पूः सर्वयोर्दारिसहोः, पा० ३. २. ४१), निपातन से पूर्व पद को अम् का आगम (वाचंयमपुरंदरौ च, पा० ६. ३. ६९), अन्तोदात्त[3] ।

**पुरंधि** < पुरम् + धी । पुरंधी < ।

(क) —पुरु + धी, •पृषोदरादि (पा० ६. ३. १०९) से उकार को अमादेश तथा ईकार को ह्रस्व, आद्युदात्त (आद्युदात्तप्रकरणे दिवोदासादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्, वा० पा० ६. २. ९१) ।

(ख)—पुरम् + √धा + कि प्रत्यय ( कर्मण्यधिकरणे च, पा० ३. ३. ९३), विभक्ति का छान्दस अलुक्, पुरं शरीरं धीयतेऽस्यामिति पुरंधीः, आद्युदात्त (नब्विषयस्यानिषन्तस्य, फि० सू० २६), पूर्वपदप्रकृतिस्वर (दासीभारादित्वात्)[4] । श० ब्रा० में 'रूपम् + √धा' <पुरंधि ( = योषा) निर्वचन मिलता है[5] । यास्क – पुरु + धी (< √धी) पुरु + √दृ[6] । गेल्डनर तथा ग्रासमान – पुरम् + धी (< √धा) मानते हैं[7] ।

**पुराणम्** < पुरा + ट्यु प्रत्यय, शैषिक अर्थ में (सायंचिरम्०, पा० ४. ३. २३), तुट् का अभाव निपातन से (पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु, पा० ४. ३. १०५) यु को अनादेश, निपातन से अन्तोदात्त[8] । यास्क – पुरा + नव[9] ।

**पुरीष** < √पृ (पालनपूरणयोः) + ईषन् प्रत्यय (शॄपॄभ्यां कित्, उ० सू० ४. २८) कित् होने से गुण का अभाव, उत्व (उदोष्ठ्यपूर्वस्य, पा० ७. १. १०२), रपर,

---

१. सा० ऋ० ३. २९. १३ ।

२. निरु० ९. १५ – पुमान् पुरुमना भवति ।

३. सा० ऋ० १. १०२. ७, १०९. ८, ३. ५४. १५ ।

४. ,, ,, १. ५. ३, ११६. ७, १२३. ६, द्र० देव० नि० ३. ३०. २ ।

५. श० ब्रा० १३. १. ९६ – पुरंधिर्योषेति । योषित्येव रूपं दधाति तस्माद्रूपीणी – युवतिः प्रिया भावुका ।

६. निरु० ६. १३ पुरंधिर्बहुधीः, पुरां च दारयितृतमः ।

७. ऋ० ग्ला० ११०, । वोबू० ८२४ ।

८. सा० ऋ० ३. ५४. ९, द्र० पुराणो १. ९२. १० ।

९. निरु० ३, १९ ।

पृणाति पूर्यते वेति पुरीषम्[१] । यास्क – पॄ, √पुर्[२] ।

( तु० IE pelə, pete – to fill Irish lan Lat. 'plere to fill' )

**पुरु** < √पॄ ( पालनपूरणयोः ) + कु प्रत्यय ( पॄभिदिव्यधिगृधिधृषिदॄशिभ्यः, उ० सू० १. २३), उत्व ( पा० ७. १. १०२ ), रपर (उरण् रपरः, पा० १. १. ५१), पूरयतीति पुरु, प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त[३] ।

( तु० Av. paru, pouru )

**पुरुक्षु** < (क)—पुरु + √क्षि + डु प्रत्यय (मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम्, वा० पा० ३. २. १८०),

(ख)—पुरु + √क्षु ( शब्दे ) + डु प्रत्यय, पूर्ववत् ।

(ग)—पुरु + √क्षु + क्विप् (औणादिक), तुक् का अभाव (अनित्यमागमशासनम् ) ।

(घ)—पुरु + क्षुध्, अन्त्यलोप छान्दस, पुरः क्षुधोऽन्नानि यस्येति पुरुक्षुः[४] । स्कन्द ने 'क्षु' को कीर्तिवचन माना है ( तु० ऋ० २. ६. ५ कृधिक्षुमन्तम्)[५] ।

**पुरुतम / पुरूतम** < पुरु + √तम् ( ग्लानौ ) + अच् ( पचादि ), उत्तरपदाद्युदात्त ( परादिश्छन्दसि बहुलम्, पा० ६. २. १९९ )[६] । स्कन्द – पुरु + √तम् (अभिकांक्षायाम्) । यहाँ उदात्त तथा अर्थसम्भव के कारण आतिशायनिक तमप् की सम्भावना नहीं है[७] ।

**पुरुत्रा** < पुरु + त्रा प्रत्यय, सप्तमी अर्थ में (देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्, पा० ५. ४. ५६)[८] ।

**पुरूरवस्** < पुरु + √रु ( शब्दे ) + असुन् प्रत्यय तथा पूर्वपद को दीर्घ निपातन से

---

१. सा० ऋ० पुरीष्यासः – ३. २२. ४, पुरीषा १०. १०६. ५, द्र० सा० अ० ११, १. ३२, द्र० देव० नि० १. १२. १२ ।
२. निरु० २. २२, पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा ।
३. सा० ऋ० १. ५. ४, द्र० १. ५. २ ।
४. ,, ,, पुरुक्षो ३. २५. २, ९. ९१. ५, ० क्षुः १०. १२८. ८ ।
५. स्क० ऋ० १. ६८. ९-१० ।
६. सा० ऋ० तमस्य ३. ३९. ७, द्र० सा० सा० उत्त० १. २. १०, २ ।
७. स्क० ऋ० १. ५. २ ।
८. सा० ऋ० १. ३२. ७, ७०. ५, १४६. ५, ३. ५५. ३, ४, ६१. ७, ७. १०३. ६, १०. १०६. ३, १२७. १, द्र० स्क० ऋ० ६. ४७. ३९ ।

( पुरूरवाः, उ० सू० ४. २३७ ), पुरु रौतीति पुरूरवाः[१]। ग्रासमान रवस् <र व, (वोबू० ८३४)।

**पुरोळा** < पुरस् + √दाश्रृ ( दाने ) + ण्विन् प्रत्यय कर्म में (मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्, पा० ३. २. ७१), निपातन से दकार के स्थान पर डकार ( अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च, पा० ८. २. ६७ ), पुरो दाशन्ते एनामिति पुरोडाः, पुरोडाशः, ड का ळ बह्वृच सम्प्रदाय से (द्र० ऋ० प्रा० १. ६२), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[२]।

**पुरोहित**< पुरस् + हित, पुरस्<पूर्व + अस् तथा पूर्व को पुरस् आदेश (पूर्वाधरा०, पा० ५. ३. ३६), प्रत्ययस्वर (पा० ३. १. ३)। हित<√धा (धारणपोषणयोः) + क्त, धातु के स्थान पर 'हि' आदेश(दधातेर्हिः, पा० ७. ४. ४२), प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त, पुरस् + हित, समास में पूर्वपदप्रकृतिस्वर (गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४६ )[३]। ब्राह्मण और निरुक्त से इस व्युत्पत्ति की पुष्टि होती है[४]।

( तु० पुरस् – IE peres, before, Gr. pres-bus 'old'
हित IE dhi 'to place', Lat. creditus, 'believed' ).

**पूषण्वान्**<√पुष् ( पुष्टौ ) + कनिन् प्रत्यय (श्वन्नुक्षन०, उ० सू० १. १४६), पूषन् + मतुप्, पूषा अस्यास्तीति पूषण्वान्, मतुप् के मकार को वत्व, (मादुपधायाः०, पा० ८. २. ६), नलोप, नुट् का आगम (अनो नुट्, पा० ८. २. १६), णत्व (रषाभ्यां नो णः०, पा० ८. ४. १.) मतुप् उदात्त (ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्, पा० ६. १. १७६)[५]। ब्राह्मण भी √पुष् से ही निर्वचन करते हैं[६]।
( तु० IE pūs, Gr. pan, 'hermed' )

---

१. सा० ऋ० ०रवसे १. ३१. ४, द्र० निरु० १०. ४६, देव० नि० ५, ४. ३२।

२. ,, ,, ३. २८. २, द्र० श० ब्रा० १. ६. २. ५, ऐ० ब्रा० २. २. ३।

३. ,, ,, १. १. १, ४४. १०, ५५. ३, ६४. ६, ५. ११. २, १०. १२२. ४, द्र० सा० अ० ३. १९. १।

४. ऐ० ब्रा० ८. २४ – 'न ह वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नमदन्ति तस्माद् राजा यक्ष्यमाणो ब्राह्मणं पुरोदधीत। निरु० २. १२ – पुर एनं दधति, द्र० ऋ० ग्ला० ११२ वोबू० ८३५।

५. सा० ऋ० १. ८२. ६. ०वते – १४२. १२, ३. ५२. ७, द्र० सा० अ० १. ९. १, निरु० १२. १६, देव० नि० १. १. १९, वोबू० ८४८।

६. तै० ब्रा० १. २. १. १९ – पुष्णः पोषेण मह्यम्, १. ६. २. २ – पूषा पोषयत्, द्र० बृ० दे० २. ६३, काशिका, पा० ६. २. १४२ – पूषा अन्तोदात्तो निपात्यते।

**पूषर्या**<√पुष् (पुष्टौ) + अरन् प्रत्यय भाव में (औणादिक), दीर्घ, पूषर + यत् ( भवे छन्दसि, पा० ४. ४. ११०), तित्स्वरित[1]।

**पृक्षः** < (क)— √पृच् (सम्पर्के) + क्विप् तथा धातु को षुक् का आगम (औणादिक)।
(ख)— √पृच् + असुन् + जस्, विभक्ति का लुक् (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९.)[2]। इसकी व्युत्पत्ति √पृष् ( सेचने ) + स (उ० सू० ३. ६२ – स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्) अथवा असुन् प्रत्यय से भी सम्भव है।

**पृतनाः**<√पृ (पृङ्, व्यायामे) + तनन् प्रत्यय (कृपृभ्यां कित्, तु० सरस्व० पृपूभ्यां कित् – २. २. २०६), व्याप्रियन्तेऽत्र योद्धारः इति पृतनाः सेनाः, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[3]। ग्रासमान – √पृत्, (वोबू० ८५४)। पृत्सु – पृतना + सु (स० ए०), पृतना को पृत् आदेश (पादादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम्, वा० पा० ६, १. ६३.), विभक्ति उदात्त (सावेकाचः, पा० ६. १. १६८)[4]।

( तु० Av. pǝ̌sana, pǝ̌sanā, parǝt, ch. sl. pǐretǐ )

**पृतनाजम्**<(क)—पृतना + √अज् (गतिक्षेपणयोः) + क्विप्, वीभाव का अभाव (वलादावार्धधातुके विकल्प इष्यते, वा० पा० २. ४. ५६)।
(ख)—पृतना + √जि + ड प्रत्यय[5]। यास्क √जि से ही निर्वचन करते हैं[6]। अर्थ की दृष्टि से सायण की व्युत्पत्ति उपयुक्त है।

**पृतनाज्यम्**<पृतना + √अज् + णिच् + यत् (अचो यत्, पा० ३. १. ९७), पृतनानाम्, आज्यं पृतनाज्यम्, एकादेशस्वर[7]। यास्क – पृतना + √अज्, पृतना + √जि[8]। देवराज० – पृतना + √अञ्ज् + यत् (अघ्न्यादित्वात्)[9]। यह भी सम्भव है, 'अञ्जतेः' के स्थान पर 'अजतेः' पाठ हो।

( तु० पृतना –, पृत् IE pr, per, 'to strike', Lith. pertĭ, 'to strike' √अज् IE aĝ, 'to drive', Lat. ago, 'I drive', Av. azaiti 'he drives' )

---

१. सा० ऋ० १०. १०६. ५।
२. ,, ,, १. ३४. ४, ७१. ७, द्र० स्क० ऋ० ६. ६३. ७, देव० नि० २. ७.५।
३. ,, ,, ३. ३४. ४, द्र० देव० नि० २. ३. २५।
४. ,, ,, १. २७. ७, ५४. १, ६४. १४, १२२. १०, ३. ४९. ३, ५. ९. ७।
५. ,, ,, १०. १७८. १, द्र० सा० अ० ७. ९०. १।
६. निरु० १०. २८ – पृतनाजितम्।
७. सा० ऋ० ३. ३७. ७।
८. निरु० ९. २४. ०ज्यमिति संग्रामनाम, पृतनानां·········जयनात्, अजनात्।
९. देव० नि० २. १७. ९।

**पृथिवी** < √प्रथ् (प्रख्याने) + षिवन् प्रत्यय तथा प्रत्यय के सन्नियोग से सम्प्रसारण (प्रथेः षिवन्सम्प्रसारणं च, उ० सू० १. १३६), पृथिव + ङीष् (षिद्गौरादिभ्यश्च, पा० ४. १. ४१)[१]। उज्ज्वलदत्त तथा रामभद्र दीक्षित ने गौरादित्वात् ही ङीष् माना है[२]। ऋ० सं० में √प्रथ् से ही व्युत्पत्ति संकेतित है[३]। ब्राह्मण तथा निरुक्त भी यही निर्वचन देते हैं[४]। उज्ज्वलदत्त (१. १५१) तथा पेरुसूरि (औ० प० १. ६७४) पृथिवी पृथवी दोनों ही युक्त मानते हैं।

( तु० IE plt 'broad and flat', Gr. platus, Lith. platús 'broad' )

**पृथु** < √प्रथ् (प्रख्याने) + कु प्रत्यय तथा रेफ को सम्प्रसारण (प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च, उ० सू० १. २८), ऋकार का परपूर्वत्व, कित् होने से लघूपधगुण का अभाव, प्रत्ययस्वर[५]। ऋ० सं० में √प्रथ् से ही व्युत्पत्ति संकेतित है[६]।

**पृशन्यः** < √स्पृश् ( संस्पर्शने ) + क्यु प्रत्यय बाहुलक (कृपृवृजि०, उ० सू० २. ८१) स्पृशनं स्पर्शः, स्पृशन + यत्, साधु अर्थ में, सलोप छान्दस, तित्स्वरित[७]।

**पृश्निगुम्** < पृश्नि + गो, पृश्नयो नानावर्णा गावो यस्य स तथोक्तः, गो को ह्रस्व (गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य, पा० १. २. ४८)[८]। यास्क ने पृश्नि का निर्वचन प्र + √अश्, प्र + √स्पृश् से किया है[९]। श्वेतवनवासी √पृष् ( सेचने ) + नि प्रत्यय, शकार अन्तादेश तथा गुण का अभाव निपातन से (घृणिपृश्निपार्ष्णिभूर्णिः, उ० सू० ४. ५४) तथा दशपादी वृत्तिकार √स्पृश् ( संस्पर्शने ) से व्युत्पत्ति देते हैं[१०]। सायण वैयाकरणों से सहमत हैं[११]।

---

१. सा० ऋ० १. २२. १३, ५९. २, ३. ७. १०, ८. ८, द्र० सा० अ० ७. ७. १।

२. उ० सू० १. १४१।

३. ऋ० सं० २. १५. २, ५. ५८. ७, ६. ७२. २, ८. ८६. ५, १०. ६२. ३, द्र० ५. ८७. ७।

४. तै० ब्रा० १. १. ३. ६-७ – तत् पुष्करपर्णेऽप्रथयत् तत् पृथिव्यै पृथिवीत्वम्, निरु० १. १३, देव० नि० १. ३. ९।

५. सा० ऋ० १. ९. ७, ४८. १५, ३. १५. १, द्र० निरु० २. २, वोबू० ८५७, टर्नर ४७४।

६. ऋ० सं० २. २४. १, ५. ८७. ७।

७. सा० ऋ० १. ७१. ५।

८. ,, ,, १. ११२. ७, द्र० स्क० वहीं।

९. निरु० २. १४. – पृश्निः प्राश्नुत एनं वर्णः, संस्पृष्टो भासा वा।

१०. श्वे० उ० वृ० ४. ५४, दश० १. २२।

११. सा० ऋ० पृश्निमातरः १. २३. १०।

( तु० पृश्नि – IE prk̂ 'variegated', OHG. forhana 'trout' ( a kind of fish )

**पृष्टः** (क)— < √स्पृश् + क्त, छान्दस सकारलोप ।
(ख)— √पृष् (सेचने) + क्त, इट् प्रतिषेध, (यस्य विभाषा, पा० ७. २. १५) ।
(ग)— √प्रच्छ् (ज्ञीप्सायाम्) + क्त प्रत्यय, सम्प्रसारण, षत्व[1] ।

**पेरुः** < √पा (रक्षणे) + रुन् प्रत्यय (मापोरुरी च, उ० सू० ४. ११०), पा का अन्त्य-लोप तथा इकार अन्तादेश, पिबति रश्मिः जलजातमिति पेरुः, आदित्यः, प्रजापतिश्च[2] । सायण ने अन्यत्र ( ऋ० १. १५८. ३ ) पेरुः का अर्थ पारण-कुशलः किया है । सम्भव है, उन्हें √पृ से भी व्युत्पत्ति अभीष्ट हो ।

**पैद्वः** < पेदु + अण् ( तस्येदम्, पा० ४. ३. १२० ), छान्दस वर्णलोप, पेदोः सम्बन्धी[3] । देवराज०, पद् ( गतौ ) + 'व' प्रत्यय बाहुलक (उ० सू० १. १४१ ) पृषोदरादि[4] । सायण के अनुसार पेदु एक राजा हैं ।

**प्रकेतः** < प्र + √ कित् ( प्रज्ञाने ) + घञ् प्रत्यय कर्म में, उत्तरपदान्तोदात्त ( थाथघञ्० पा० ६. २. १४४ )[5] । गेल्डनर – प्र + √ चित्, ( ऋ० ग्ला० ११५), ग्रासमान – प्र + √कित् ( = चित् ), ( वोबू० ८६४ ) ।

**प्रतरम्** < प्र + तरप् ( द्विवचन०, पा० ५. ३. ५७ ) अद्रव्यप्रकर्ष में अमु प्रत्यय ( अमुच्छन्दसि, पा० ५. ४. १२ ), प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त, ( आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३ )[6] । ऋ० सं० में प्र + √ तृ से व्युत्पत्ति संकेतित प्रतीत होती है[7] । यद्यपि प्रत्ययों को अव्युत्पन्न ही माना जाता है, पर सम्भव है, पुराकाल में उन्हें भी व्युत्पन्न माना जाता रहा हो, जैसा प्रतर में दृष्टिगोचर होता है[8] ।

**प्रत्नम्** < प्रग + त्न प्रत्यय तथा गलोप (प्रगस्य छन्दसि गलोपश्च, वा० पा० ४. ३. २३ ), प्रत्ययस्वर[9] । देवराज०—'न' प्रत्यय द्वारा (नश्च पुराणे प्रात्, वा० पा० ५. ४. २५ ) व्युत्पन्न मानते हैं[10] ।

---

१. सा० ऋ० बन्धो ३. २०, ३ ।
२. ,, ,, पेरवः ६. ७४. ४ ।
३. ,, ,, १. ११६. ६ ।
४. देव० नि० १. १४. ११ ।
५. सा० ऋ० १. ११३. १, ३. ३०. १ ।
६. ,, ,, १. ५३. ११, ९४. ४, १४१. १३, १०. १२६. ८ द्र० सा० अ० १८. ३. ६३, ऋ० ग्ला० ११६ ।
७. ऋ० सं० १. १२. ६, १०. १२६. ८, १०. ५९. १ ।
८. वै० वा भा० चि० पृ० ६३ ।
९. सा० ऋ० ३. ९. ८ ।
१०. देव० नि० ३. २७. १ ।

**प्रथमः** < √ प्रथ् ( प्रख्याने ) + अमच् प्रत्यय ( प्रथेरमच्, उ० सू० ५. ७३ ), प्रथमः प्रथन्तेऽस्मात् द्वितीयादयः इति, अन्तोदात्त ( चितः, पा० ६. १. १६३ )[१] । यास्क – प्र + तम[२] ।

( तु० Lat. Primus, It. Primo, Fr. Premier, Sp. Primero, Goth. Frumist, fruma, O Eng. Fyrst, forma, fyrmest, M. Eng. first (e) NEng first, OHG. eristo, funsto, MHG ēr (e) st, NHG. erst, Lith. pirmais, Av. Fratǝma).

**प्रथिना** < प्रथिम्ना < पृथु + इमनिच् ( पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा, पा० ५. १. १२२), ऋकार को 'र' भाव ( र ऋतो हलादेर्लघोः, पा० ६. ४. १६१ ) टिलोप ( टेः, पा० ६. ४. १५५ ), पृथोर्भावः प्रथिमा, अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३), प्रथिमन् + टा, तृ० ए०, भ संज्ञा, अकारलोप (अल्लोपोऽनः, पा० ६. ४. १३४), छान्दस मकारलोप, विभक्ति को उदात्त (अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः, पा० ६. १. १६१)[३] ।

**प्रभु** < प्र + √ भू + डु प्रत्यय ( भुवः०, पा ३. २. १७९) की अनुवृत्तिकर "विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम्", पा० ३. २. १८०), डित् होने से टिलोप, प्रभवतीति प्रभुः; कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर से उकार उदात्त (गतिकारक०, पा० ६. २. १३९ तथा आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३ )[४] ।

**प्रभृत** < (क)—प्र + √ भृ ( भरणे ) + क्त प्रत्यय कर्म में, गतिस्वर (गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४९) ।

(ख)—प्र + √ हृ + क्त प्रत्यय, छान्दस हकार के स्थान पर भकार ( हृग्रहोर्भश्छन्दसि, वा० पा० ३. १.८४ )[५] ।

**प्रयक्षे** < प्र + √ यज् + सेन् प्रत्यय तुमर्थ में, प्रादिसमास, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर, अव्ययसंज्ञा, (कृन्मेजन्तः, पा० १. १. ३९) – विभक्ति लुक् (अव्ययादाप्सुपः, पा० २. ४. ८२)[६] ।

**प्रयज्यु** < प्र + √यज् + यु प्रत्यय कर्म में ( यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युः, उ० सू० ३. २०), यजतीति यज्युः. प्रकर्षेण यष्टव्याः प्रयज्यव :[७] ।

---

१. सा० ऋ० ३. २१. १, द्र० सा० २०. ३४. १ ।
२. निरु० २. २२ प्रथमः प्रतमः ।
३. सा० ऋ० १. ८. ५ ।
४. „ „ १. ९. ५, द्र० वोबू० ८७७ ।
५. „ „ प्रभृतः १. ५१. १२, १०. १२०. २ ।
६. „ „ ३. ७. १ ।
७. „ „ प्रयज्यवः १. ३९. ९, द्र० वोबू० ८७८ ।

**प्रयस्** < √ प्री ( प्रीङ्, तर्पणे ) + असुन् प्रत्यय[1]। ऋ० सं० में प्र + √ यम् से व्युत्पति संकेतित है[2]। स्कन्द √ या से व्युत्पन्न कर गन्तृवचन मानते हैं[3]।

**प्रवत्** < (क)—प्र + √वन् ( संभक्तौ ) + क्विप्, अनुनासिकलोप ( गमादीनामिति वक्तव्यम्, वा० पा० ६. ४. ४०), तुक् का आगम, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर।

(ख)—प्र + वति (उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे, पा० ५. १. ११८)[4]। यास्क ने √ अव् से निर्वचन किया है[5]।

**प्रवन्तवे** < प्र + √ वन् + तवेन् प्रत्यय, प्रकर्षेण वनितुं संभक्तुम्, गति को प्रकृतिस्वर ( तादौ च०, पा० ६. २. ५० )[6]।

**प्रवा** < √ प्रु ( प्रुङ्, गतौ ) + अच् (पचादि). प्रवेते गच्छतः इति प्रवौ, विभक्ति को आकार ( सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९ )[7]।

**प्रशिषम्**<प्र + √शास् (अनुशिष्टौ ) + क्विप् (क्विप् च, पा० ३. २. ७६), शास् की उपधा को इत् (शास इत्०, पा० ६. ४. ३४), षत्व (शासिवसिघसीनां च, पा० ८. ३. ६०), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[8]।

**प्रसिति** <प्र + √सि (बन्धने) + क्तिन्, प्रसीयते बध्यतेऽनयेति प्रसितिर्ज्वाला[9]।

( तु० IE sī 'to bind', Gr. hīmas 'strap' )

**प्रावणेभिः**<(क)—प्र + √वन् (संभक्तौ) + घ प्रत्यय करण में (पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण, पा० ३. ३. ११८ ), प्रकर्षेण वन्यते संभज्यते संश्लिष्यते मृदेभिरिति प्रावणानि खनित्राणि, णत्व (अनिरन्तः०, पा० ८. ४. ५) संहिता में छान्दस दीर्घ अन्तोदात्त (वनं समासे, पा० ६. २. १७८), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर, पद पाठ में अवग्रहाभाव छान्दस।

(ख)—√प्रु (प्रुङ्, गतौ) + युच् प्रत्यय ( चलनशब्दादर्थादकर्मकाद्युच्, पा० ३. २. १४८), प्रवन्ते गच्छन्ति मृत्खननं प्रति, चित्स्वर[10]।

---

१. सा० ऋ० प्रयसः २. १९. १, द्र० प्रयांसि – ३. ११. ७, ऋ० ग्ला० ११८, वोबू० ८७८।

२. ऋ० सं० १. ६१. २ – अस्मा इदुप्रयः इव प्रयंसि।

३. स्क० ऋ० १. २. ४।

४. सा०ऋ० १.३३. ६, ३५.३, १० १४२.२ द्र० स्क० १.३५. ३, सा०अ० ३.१. ४।

५. निरु० १०. २० प्रवतः—, अवतिर्गतिकर्मा।

६. सा० ऋ० १. १३१. ५।

७. ,, ,, १. ३४. ८, द्र० स्क० वहीं।

८. ,, ,, १०. १२१. २, द्र० सा० अ० ४. २. १, ऋ० ग्ला० ११९।

९. ,, ,, २. २५. ३, १०. ८७. १५, द्र० सा० अ० ८. ३. १४, निरु० ६. १।

१०. ,, ,, ३. २२. ४।

**प्रावर्गम्** < प्र + <वृज् + घञ्, उपसर्ग को दीर्घ ( उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये, पा० ६. ३. १२२ ), उत्तरपदान्तोदात्त (थाथघञ्०, पा० ६. २. १४४)[1]।

**प्राशव्यान्**<(क)—प्र + √अश् ( भोजने ) + उण् (औणादिक), प्राशु (= भक्षण) + यत् प्रत्यय साधु या हित अर्थ में।

(ख)—प्राशितव्यान्, वर्णलोप छान्दस[2]। ग्रासमान - प्र + आशु, (वोबू० ८८६)।

**प्राशूः** < प्र + आ + √शॄ ( हिंसायाम् ) + क्विप्, उत्व (बहुलं छन्दसि, पा० ७. १. १०३), दीर्घ (र्वोरुपधायाः०, पा० ८. २. ७६), प्रकर्षेण आ समन्तात् शृणाति हिनस्तीति प्राशूः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[3]।

**प्रुष्णवत्**< √प्रुष् (स्नेहनसेचनपूरणेषु) + नक् प्रत्यय (औणादिक), प्रुष्ण + मतुप्, मतुप् को उदात्त का अभाव छान्दस[4]।

**प्रेणिम्** < √प्रेण् ( गतिप्रेरणश्लेषणेषु ) + इ प्रत्यय (औणादिक)[5]। ग्रासमान - √प्री, (वोबू० ८९४)।

**प्सरः**< √प्सा ( भक्षणे ) + डर प्रत्यय ( औणादिक ), प्साति भक्षयतीति प्सरो रूपम्[6]। ग्रासमान - प्सर = प्सरस् ( √प्सा ) मानते हैं।

( तु० मधुप्सरस्, सुप्सरस्, वोबू० ८९५ )।

## फ

**फर्वरेषु** < √फर्व् ( पूरणार्थक ) + रन् प्रत्यय (औणादिक)[7]। ग्रासमान + √फर्, ( वोबू० ८९६ )।

**फलिगम्**<फलि + √गम् + ड प्रत्यय ( डोऽन्यत्रापि दृश्यते वा० पा० ३. २. ४८, अथवा अन्येष्वपि दृश्यते, पा० ३. २. १०१ )। फलि < √फल् (विशरणे) + अच् = फल + इन्, मतुबर्थ में, फलि उदकं तेन गच्छति फलिगः[8]।

---

१. सा० ऋ० ८ ४. ६।
२. ,, ,, ८. ३१. ६।
३. ,, ,, १. ४०. १।
४. ,, ,, ३. १३, ४।
५. ,, ,, १. ११२. १०, द्र० स्क० वहीं।
६. ,, ,, १. ४१. ७।
७. ,, ,, १०. १०६. २।
८. ,, ,, १. ६२. ४, ४. ५०. ५, द्र० देव० नि० १. १०. १७।

**फारि - वा** < फारि + वनिप् मत्वर्थीय (छन्दसीवनिपौ च, वा० पा० ५. २. १०६)। फारि < √स्फुर् + णिच् + इ प्रत्यय, आत्व ( चिस्फुरोर्णौ, पा० ६. १. ५४), छान्दस सकारलोप, फारि - वन् + औ, विभक्ति को डादेश (सुपां सुलुक्० पा० ७. १. ३९), फारिरायुधम्, तद्वन्तौ भवन्तः[१]।

## ब

**बद्बधानस्य** < √बाध् ( विलोडने) + चानश्, ताच्छीलिक, शप्, श्लुभाव, द्वित्व, हलादिशेष का अभाव तथा धातु को ह्रस्व छान्दस, अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[२]।

**बन्धुता** < √बन्ध् ( बन्धने ) + उ प्रत्यय कर्ता में (शॄस्वृहिष्णिहि०, उ० सू० १. १०) "धान्ये नित्", उ० सू० १. ९ से नित् की अनुवृत्ति कर 'उ' प्रत्यय को नित् मानकर आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ )। बध्नाति अनेनेति बन्धुः, बन्धु + तल् प्रत्यय समूह अर्थ में (ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्, पा० ४.२.४३), लित्स्वर[३]। यास्क ने √बन्ध् से ही निर्वचन किया है[४]।

( तु० IE bhend to bind', Ang. sax. bindan, 'to bind', Eng. bind )

**बप्सता** < √भस् ( भक्षणदीप्त्योः, तु० नि० २. ८ ) + शतृ + औ, विभक्ति को डादेश[५]।

**बर्जहम्** < √वृ (वृङ् संभक्तौ) + विच्, वृणीते संभजते गामिति बः पयः, तज्जहातीति बर्जहः, वर् + √हा ( त्यागे ) + खश् प्रत्यय बाहुलक ( खश् प्रकरणे वातशुनीतिलशर्धेष्वजधेट्तुदजहातिभ्य उपसंख्यानम्, वा० पा० ३. २. २८), खश् के सार्वधातुक होने से कर्ता में शप्, शप् श्लुभाव, द्वित्व, ब तथा व में अभेद होने से बत्व, पूर्वपद का आदि उदात्त (दिवोदासादित्वात्)[६]।

**बर्हणा** < (क)—√बर्ह् (बर्हवल्ह-परिभाषणहिंसाच्छादनेषु) + क्यु प्रत्यय (औणादिक), व तथा ब में अभेद होने से बकार, प्रत्ययस्वर, बर्हन् + टा, तृ० ए०, विभक्ति को डादेश।

---

१. सा० ऋ० १०. १०६. २।

२. " " १. ५२. १०।

३. " " ३. ६०. १, द्र० सा० अ० २. १. ३, देव० नि० २. १०. २१।

४. निरु० ४. २१, बन्धुः संबन्धात्, द्र० वोबू० ८९८।

५. सा० ऋ० १. २८. ७, बप्सत् - १०. १४२. ३, द्र० स्क० १. २८. ७।

६. " " १. ९२. ४।

(ख)—बृह् √ ( वृद्धौ ) + युच् बाहुलक, आद्युदात्त व्यत्यय से[1]। निघण्टु में (२. १६. ३०) निबर्हयति वधकर्मा है और पाणिनीयतंत्र में भी बर्ह् हिंसायाम् ( चुरादि ) है।

( तु० IE bhelgh, 'to swell', Av. bar – ezǐs, 'cushionat a sacrifice' )

**बर्हिस्** < √बृह् ( वृद्धौ ) + इस् प्रत्यय तथा नलोप (बृंहेर्नलोपश्च, उ० सू० २. ११०) बृंहति बृंहयतेर्वा बर्हिः, प्रत्ययस्वर से इकार उदात्त[2]। यास्क – √बृह् (परिच्छेदन)[3]। दुर्ग परिच्छेदन तथा वृद्धि दोनों ही अर्थ स्वीकारते हैं[4]। पीटर्सबर्ग भी दोनों ही अर्थ स्वीकार करता है।

**बस्तः** < √वस् ( निवासे ) + तन् (हसिवसीण् जॄगॄमृवादम्यमिलूपूधूर्विस्तन्, सरस्व० २. २. १३०), व > ब, अभेद से[5]।

**बहुसूवरी**<बहु + √सू (प्रेरणे ) + क्वनिप् + ङीप् तथा रेफ आदेश ( वनो र च, पा० ४. १. ७ ), बह्वीनां प्रजानां सावित्री, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[6]।

**बाहुशर्धी**<(क)—बाहु + शर्ध + इनि प्रत्यय मत्वर्थीय, बाह्वोर्बलम्, बाहुबलम्, शर्धो बलम्, तद्वान्।

(ख)—बाहु + √शृध् ( प्रसहने ) + णिनि प्रत्यय (सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये, पा० ३. २. ७८), बाहुभ्यां शर्धयति अभिभवतीति बाहुशर्धी[7]।

( तु० बाहु Av. bāzu, N Pers. bāzū )

**बुध्ने**< √बन्ध् ( बन्धने ) + नक् प्रत्यय तथा धातु को ब्रध तथा बुध् आदेश ( बन्धेः ब्रधिबुधी च, उ० सू० ३. ५), प्रत्ययस्वर[8]।

---

१. सा० ऋ० १. ५२. ११, ५४. ३, ५६. ५, ०णाः ३. ३४. ५, ०वत् ३. ३९. ८, द्र० वोबू० ६०१।

२. ,, ,, १. १२. ४, १३. ५, ९, १६. ६, ३. ९. ६, द्र० देव० नि० १. ३. ४।

३. निरु० ८. ८, बर्हिः परिबर्हणात्।

४. दुर्ग० नि० ८. ८ – परिबर्हणात् = परिच्छेदनात्, लूनं हि तद्भवति, परिवृद्धं वा।

५. सा० ऋ० १. १६१. १३।

६. ,, ,, २. ३२. ७।

७. ,, ,, १०. १०३. ३, द्र० सा० अ० १९. १३. ४।

८. ,, ,, ३. ३९. ३, द्र० सा० अ० २. १४. ४, निरु० १. ४४ बुध्नमन्तरिक्षं बद्धा अस्मिन् धृता आप इति, इदमपीतरद् बुध्नमेतस्मादेव, बद्धा अस्मिन् धृताः प्राणाः।

( तु० IE Fhud-men, Gr. puthmen, ground' Lat. fundus, Gr. bodam, bodəm, boden, Ang Sax. botm, Eng. bottom )

**बृहस्पति**< बृहत् + पति, तलोप तथा सुट् का आगम ( तद्बृहतोः करपत्योश्चोर-देवतयोरभिधेययोः सुट् तलोपो वक्तव्यः, वा० पा० ६. १. १५७ ) । वामन के अनुसार बृहत् शब्द को कुछ लोग आद्युदात्त पढ़ते हैं । पति < √पा ( रक्षणे ) + डति प्रत्यय ( पातेर्डतिः, उ० सू० ५. ५ ), पातीति पतिः, प्रत्ययस्वर, समास में उभयपदप्रकृतिस्वर (उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्, पा० ६. २. १४०)[1] । ब्राह्मण – बृहती ( = वाक्) + पति, निर्वचन करते हैं[2] । बृहदारण्यक उपनिषद् में बृहत् + पति निर्वचन मिलता है[3] । यास्क – बृहत् < √बृंह् तथा पति < √पा[4] ।

**ब्रध्नम्** < √बन्ध् (बन्धने) + नक् प्रत्यय तथा धातु को ब्रध् आदेश (बन्धेः ब्रधिबुधी च, उ० सू० ३. ५), बध्ना – बध्नातीति ब्रध्नः, अन्तोदात्त ( फिषोऽन्त उदात्तः, फि० सू० १)[5] ।

**ब्रह्मन्** < √बृंह् ( वृद्धौ ) + मनिन् तथा नलोप, अम् का आगम (बृंहेरम् नलोपश्च, उ० सू० ४. १५६), यणादेश, नित्स्वर (नब्विषयस्यानिसन्तस्य, फि० सू० २६)[6] । जै० उप० ब्रा० में √वृध् से निर्वचन किया गया है[7] ।

## भ

**भगभक्तस्य**< भग + भक्त, भग< √भज् + घ (पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण, पा० ३.३.११८), कुत्व (चजोः कु घिण्ण्यतोः, पा० ७. ३. ५२), आद्युदात्त ( वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३ ), समास में पूर्वपदप्रकृतिस्वर ( तृतीया कर्मणि, पा० ६. २. ४८)[8] ।

---

१. सा० ऋ० १. १४. ३, ६२. ३, ८६. ६, १०५. १७, ३. २०. ५, ६२. ५, १०. १४१. ४, १८२. १, द्र० सा० अ० १. ८. २, २. १३. २, ३. २०. ३, २६. ६, ६. ८८. २ ।

२. श० ब्रा० १४. ४. १. २२, 'वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ।'

३. बृह० उप० पृ० १०५ – 'एष उ एव बृहस्पतिर्वाग् वै बृहतो तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ।

४. निरु० १०. ११, द्र० देव० नि० ५. ४. ६ ।

५. सा० ऋ० १. ६. १, ७. ४४. ३ ।

६. ,, ,, ब्रह्म – १. १०. ४, द्र० निरु० १. ८ ब्रह्म परिवृढं सर्वतः, देव० नि० २. ७. ७५, निरु० समु०, मं० १ पृ० ३ ।

७. जै० उप० ब्रा० ४. २४. ११ ।

८. सा० ऋ० १. २४. ५, द्र० सा० अ० १. १४. १, देव० नि० २. १०. १०, सि० कौ० पा० ३. ३. १२५ – 'खनो घ च', वोबू० ९२१ ।

ऋ० सं० में भक्त[१] <√भज् (प्राप्ति – सेवन) तथा भग[२] <√भज् ( बाँटना ) से संकेतित है। यास्क – भग <√भज् (सेवन)[३]।

( तु० IE. bhag 'to divide', o Bulg. bogatz 'rich' )

**भगेविता**<(क)—भग + अविता < √अव्ं + क्त, बहुव्रीहि में बाहुलक विभक्ति का अलुक् (तत्पुरुषे कृति बहुलम्, पा० ६. १. १४)।

(ख)—भग + √अव् + तृच्, विभक्ति को डादेश, छान्दस स्वर[४]।

**भद्र** < (क)— √भन्द् ( भदि कल्याणे सुखे च ) + रन्, तथा निपातन से नलोप (ऋजेन्द्राग्रवज्र०, उ० सू० २. ३१)।

(ख)— √भन्द् + रक् ( उ० सू० २. ३१ ), निपातन से अन्तोदात्त[५]। यास्क – √भन्द्, √भज्, अभि + √द्रु, √भू + √रम्, भाजन[६]। गेल्डनर (ऋ० ग्ला० १२४) तथा ग्रासमान ( वोबू० ९२५ ), √भन्द् से व्युत्पन्न मानते हैं। भोज रक् तथा रन् दोनों प्रत्यय से, दुर्ग – रक् से तथा शेष सभी उणादिवृत्तिकार रन् से व्युत्पन्न करते हैं[७]।

( तु० IE bhad 'good' Goth. Batiza 'better', batists, best )

**भर** < (क)—√भृ ( भरणे ) + घ प्रत्यय करण में।

(ख)—√हृ ( हरणे ) + घ, अधिकरण में।

(ग)—√भृ ( भर्त्सने ) + घ, आद्युदात्त (वृषादोनां च, पा० ६. १. २०३)[८]। यास्क ने √भृ तथा √हृ से निर्वचन किया है[९]। देवराज० √भृ (धारणपोषणयोः, भर्त्सने), √हृ (हरणे)[१०]।

( तु० IE bher, 'to bear' Gr. Pherō, 'I bear' )

---

१. ऋ० सं० ३. ३०. ७ भक्तं चिद्भजते गेह्यं सः।

२. ,, ,, ७. ४१. २ राजा चिद् भगं भक्षीत्याह। द्र० ५. ४६. ६, ४९. १।

३. निरु० १. ७ भगो भजतेः।

४. सा० ऋ० १०. १०६. ८, वोबू० ९२३।

५. ,, ,, भद्रा १. ८९. २, भद्रम् १. १. ६, ३. ९. ७, द्र० सा० अ० १. १८. १, वे० भा० सा० पृ० १२।

६. निरु० ४. १० भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयं भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा, तथा ११. १९ – भद्रं भन्दनीये भाजनवति वा।

७. सरस्व० २. ३. २१, २. ३. ३०, दुर्ग० २. १७, दश० ८. ४६, श्वे० २. ३१।

८. सा० ऋ० भरे – १. १३२. १, २. १६. १, ३. ३०. २२, भराय० ३. ५१. ८।

९. निरु० ४. २४. २५, भरः हरतेः, भर इति संग्रामनाम, भरतेः।

१०. देव० नि० २. १७. ५।

**भरतम्** < √ भृ ( भरणे ) + अतच् प्रत्यय ( भृमृदृशि०, उ० सू० ३. १०३ ), बिभर्त्तीति भरतः[1]। ब्राह्मणों में √ भृ (भरण – धारण-पोषण ) से निर्वचन मिलता है[2]। वैयाकरणों का भी यही अभीष्ट है[3]।

( तु० IE bher, Gr. phéro̅, NGr. phérno̅, Lat. Ferre, O Pers. bar, Av. bar, Arm. berem )

**भरद्वाज** < √ भृ ( भरणे ) + शतृ, प्रत्ययस्वर, भरत् + वाज, भरन्ति पोषयन्ति भोक्तॄन् इति भरन्तः, तादृशवाजा येषु, पूर्वपदप्रकृतिस्वर (मरुद्वृधादित्वात्, पा० १ ५६. ७ )[4]। ब्राह्मण तथा निरुक्त भरत् < √ भृ से ही निर्वचन देते हैं[5]।

**भरीमन्** < √ भृ (धारणपोषणयोः ) + ईमन् प्रत्यय ( भृसृहृधृस्तॄसूभ्य ईमनिन्, उ० सू० ४. १५६, दश० ६. ७६), बिभर्त्ति भ्रियते वा भरीमा, नित्स्वर[6]।

**भर्गः** < √ भ्रस्ज् ( पाके ) + असुन् ( अञ्च्यञ्जियुजिभृजां कुशश्च, उ० सू० ४. २२१ ) रोपध का लोप तथा रम् का आगम ( भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्, पा० ६. ४. ४७ ) कुत्व (न्यङ्क्वादीनां च, पा० ७. ३. ५३ )[7]।

**भवीयस्** <(क)—बहु + ईयसुन् बहु को भू आदेश ( बहोर्लोपो भू च बहोः, पा० ६. ४. १५८ ) तथा ईकारलोप का छान्दस अभाव,

(ख)—भवितृ + ईयसुन् (तुश्छन्दसि, पा० ६. ३. ५९), तृलोप ( तुरिष्ठेमेयःसु, पा० ६. ४. १५४ )[8]।

**भावृजीकम्** < भास् + ऋजीकम् < √ऋञ्ज् ( गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु ) + ईकन् प्रत्यय ( ऋजेश्च, उ० सू० ४. २२ ) भासः प्रकाशस्य ऋजीकः प्रार्जयिता, पूर्वपद का आदि उदात्त ( आद्युदात्तप्रकरणे दिवोदासीदीनां छन्दस्युपसंख्यानम्, वा० पा० ६. २. ९१), अथवा भासोऽर्जनं

---

१. सा० ऋ० भरतम् १. ९६. ३, द्र० देव० नि० ३. १८. १।

२. श० ब्रा० ६. ८. १. १४ – प्रजापतिर्वै भरतः, स हीदं सर्वं बिभर्त्ति, द्र० वहीं १. ४. २. २, १. ५. १. ८, कौ० ब्रा० ३. २, ऐ० ब्रा० २. २४।

३. दश० ६. १४।

४. सा० ऋ० ०वाजेषु १. ५९. ७, ०वाजाय० १. ११६. १८।

५. श० ब्रा० ८. १. १. ६, ( तु० १४. ५. २. ६), शा० ब्रा० ३०. ९, ऐ० ब्रा० १. २१, ३. ४६, ६. १८, तैं० ब्रा० ३. १०. ११. ३, गो० ब्रा० २. १. १८, २. ६. १, निरु० ३. १७।

६. सा० ऋ० ०मभिः १. २२. १३।

७. ,, ,, ३. ६२. १०, द्र० ऋगर्थसार वहीं।

८. ,, ,, भवीयसा १. ८३. १।

यस्मिन्, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर[1]। स्कन्द ऋजुकभाः से भात्रृजीक, ऋजु के उकार को छान्दस ईकार तथा 'भाः' का पूर्व निपात कर व्युत्पन्न करते हैं[2]।

**भानु** < ✓ भा ( दीप्तौ ) + नु प्रत्यय कर्ता अर्थ में (दाभाभ्यां नुः; उ० सू० ३. ३२ ), भातीति भानुः, प्रत्ययस्वर ( पा० ३. १. ३ )[3]। ऋ० सं० में भानु का प्रयोग ✓ भा के करण के रूप में हुआ है[4]।

**भाम** < (क)— ✓ भा ( दीप्तौ ) + मन् प्रत्यय ( अर्तिस्तु०, उ० सू० १. १२७), नित्स्वर।

(ख)— ✓ भाम् ( क्रोधे ) + घञ्, भाव में[5]। भोज ने (२. २. २४०), भामः का अर्थ क्रोध किया है, शेष उणादिवृत्तिकार ✓ भा (दीप्तौ) से ही व्युत्पन्न मानते हैं[6]।

**भीम** < ✓ भी ( भये ) + मक् प्रत्यय अपादान में ( भीमादयोऽपादाने, पा० ३. ४. ७४, भियः षुग्वा, उ० सू० १. १३४ ), बिभेति यस्मात् स भीमः, प्रत्यय स्वर[7]।

(तु० IE bhi 'to be of raid', Lith. bijoti-s SL bojati, G. biben beben)

**भुरण्यु** < ✓ भुरण् ( धारणपोषणयोः ) + 'उ' प्रत्यय ( मृगय्वादयश्च, उ० सू० १. ३७ )[8]। यास्क – भूरि + ✓ नी[9]। स्कन्द – ✓ भुरण्य (गतिकर्मा)[10]। दश० – भू + ✓या (प्रापणे) + कु प्रत्यय तथा उसे अण्युजादेश, धातुलोप, रुडागम तथा उपपद को ह्रस्व निपातित[11]।

( तु० IE. bher – 'to move violently.' Lat. fermentum, Ferment)

---

१. सा० ऋ० १. ४४. ३।
२. स्क० ऋ० वही, देव० नि० ४. ३. १९।
३. सा० ऋ० ३. २१. ४, द्र० सा० अ० १९. ७. २, देव० नि० १. ९. ३।
४. ऋ० सं० १. ४८. ९, ७. ७७. ५, १०. ६. २, ४५. ४।
५. सा० ऋ० ३. २६. ६, १०. ३. ४, ५, द्र० भामिने १. ७७. १, द्र० देव० नि० २. १३. ५।
६. श्वे० उ० सू० १. १२७, दश० १. १४३, उ० को० ३. ३२, दुर्ग २. ६।
७. सा० ऋ० १. ५५. १, १००. १२, द्र० सा० अ० ३. २५. १, ४. ३७. ८. ११. २. १८, निरु० १. २०।
८. ,, ,, भुरण्यू १. १२१. ५, ०युम् १०. १२३. ६।
९. निरु० १२. २२ – भुरण्युर्शकुनिर्भूरिम् अध्वानं नयति, द्र० सा० सा० ६. ५. ११।
१०. स्क० ऋ० १. ६८. १२, द्र० देव० नि० २. १५. १४।
११. दश० १. १२१, पृ० ७९।

**भुर्वणिः**< √भर्व् ( हिंसायाम ) + अनि प्रत्यय ( औणादिक ), अकार को उकार छान्दस[1], स्कन्द तथा वेंकटमाधव √भुर्व् को अत्तिकर्मा मानते हैं, तथा इसी से भुर्वणिः को व्युत्पन्न करते हैं[2] ।

**भूरि** < √भू (सत्तायाम्) + क्रिन् प्रत्यय (अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन, उ० सू० ४. ६७), कित् होने से गुण का अभाव, भवतीति भूरि, प्रभवति न विनश्यतीति भूरि, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[3] ।

( तु० IE bhūr, 'to be puffed up', Av. būri, 'rich', Lith. būrys 'help' )

**भूर्णि**<(क)—√भृ ( भरणे ) + नि प्रत्यय, गुणाभाव तथा ऊकार निपातन से (घृणिपृश्निपार्ष्णिभूर्णि, उ० सू० ४. ५४) ।

(ख)—√भृ (भये) + क्तिन् कर्ता में (कृत्यल्युटो बहुलम्, पा० ३. ३. ११३), उत्व (उदोष्ठ्यपूर्वस्य, पा० ७. १. १०२), दीर्घ (हलि च, पा० ८. ३. ७७) निष्ठावद्भाव (ऋकारल्वादिभ्य क्तिन् निष्ठावद्भवति, वा० पा० ८.२.४४) होने से नत्व, आद्युदात्त[4] । ग्रासमान – √भुर् (वोबू० ९५४) ।

**भृमि**< √भ्रम् (अनवस्थाने) + इन् प्रत्यय, सम्प्रसारण तथा रेफ के स्थान पर ऋकार ( भ्रमेः सम्प्रसारणं च, उ० सू० ४. १३० ), इन् के कित् होने से गुण का अभाव[5] ।

( तु० IE bhrem 'to hum, Germ. breme )

**भेषजा** < (क)—√भिषज् ( चिकित्सायाम् ) + घ प्रत्यय ( पुंसि संज्ञायाम्०, पा० ३. ३. १८), भिषज्यति अनेनेति भेषजः, भेषज + अस्, विभक्ति को आकार (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९) ।

(ख)—√भिषज्य् + अच्, अकारलोप, यलोप, निपातन से सिद्ध (सुमंगल-भेषजाच्च, पा० ४. १. ३०), शेर्लोप (शेश्छन्दसि बहुलम्, पा० ६.१.७०), प्रत्यय का आदि उदात्त (पा० ३. १. ३)[6] ।

( तु० Av. baēšaza )

---

१. सा० ऋ० १. ५६. १ ।
२. स्क० तथा वेङ् वहीं, निरु० ९. २३, भुर्वतिरत्तिकर्मा ।
३. सा० ऋ० १. १०. २, ४८. ९, ३. १८, ४, द्र० निरु० २. ७, भूरिति बहुनामधेयं प्रभवतीतिसतः । देव० नि० ३. १. ४, वोबू० ९५२ ।
४. ,, ,, भूर्णयः १. ५५. ७, द्र० १. ६६. १ ।
५. ,, ,, १. ३१. १६, ३. ६२. १, द्र० निरु० ६. २०. भृमिः भ्राम्यतेः, देव० नि० ४. ३. ८७, वोबू० ९६४ ।
६. ,, ,, १. २३. २०, ३४. ६, ११४. ५, द्र० देव० नि० १. १२. २९ ।

## म

**मख** < √मह् ( पूजायाम् ) + ख प्रत्यय तथा हलोप ( महेश्च, उ० सू० ५. २३ ), मह्यते पूज्यते सर्वैरिति मखः, अन्तोदात्त (खान्तस्याश्मादेः, फि० ६) वचन सामर्थ्य से[१]। वेंकटमाधव - √मंह् ( दानकर्मा )[२]। ग्रासमान - √मख् (वोबू० ९७०)।

**मघवा** < (क)—मघ + वनिप् मत्वर्थीय,

(ख)—√मह् ( पूजायाम् ) + कनिन् प्रत्यय घकारादेश तथा वुगागम निपातित (श्वन्नुक्षन्०, उ० सू० १. १४६)[३]। मघोनः<मघवन् + शस्, द्वि० ब०, सम्प्रसारण, ( श्वयुवमघोनामतद्धिते, पा० ६. ४. १३३)[४]। उज्ज्वलदत्त ( उ० सू० १. १५८ ) तथा पेरुसूरि (औ० प० १. ८१८) मघवन् तथा मघवत् - दो शब्द मानते हैं।

**मज्मना** < √मस्ज् ( शुद्धौ ) + मनि प्रत्यय (अथवा मसिच् औणादिक), धातुगत सकार को जश्त्व दकार (झलां जश् झसि, पा० ८. ४. ५३), श्चुत्व से जकार, प्रत्ययस्वर, अथवा चित् होने से अन्तोदात्त[५]। देवराज० √मस्ज् + मनिन् (उ० सू० ४. १४०)[६]।

**मत्सर** < √मद् (तृप्तियोगे) + सर प्रत्यय (चित्, कृधूमधिभ्यः कित्, उ० सू० ३.७०), कित् होने से गुणाभाव, इट् प्रतिषेध (तितुत्र०, पा० ७. २. ९), अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[७]। मत्सरासः < मत्सर + जस् असुक् का आगम ( आज्जसेरसुक्, पा० ७, १. ५० )[८]। सायण ने 'चितः' की अनुवृत्ति कर प्रत्यय को 'चित्' माना है, जबकि वैयाकरणों ने 'सरन्' प्रत्यय किया है[९]।

**मधु** < √मन् (ज्ञाने) + उण् प्रत्यय तथा धकार अन्तादेश (फलिपाटिनमिमनि०, उ०

---

१. सा० ऋ० मखस्य - ३. ३४. २, द्र० स्क० वहीं।

२. वे० ऋ० ३, ३४. २, द्र० स्क० निरु० ३. २१, देव० नि० ३. १७. ११।

३. सा० ऋ० १. १०३. ४, द्र० मघोनी १. ४८. ८, मघोनि - ३. ६१. १, द्र० श्वे० उ० सू० १. १४६।

४. ,, ,, १. ३१. १२, ५४. ११।

५. ,, ,, १. ५१. १०, ५५. ५, ३. ४६. ३।

६. देव० नि० २. ९. २३।

७. सा० ऋ० १. १४. ४, १३७. १, द्र० वे० ऋ० १. १४. ४, निरु० २. ५. ऋ० ग्ला० १३०, वोबू० ९७५।

८. ,, ,, १. ५१. १।

९. श्वे० उ० सू० ३. ७०, उज्ज्व० ३. ७३।

सू० १. १८), नित् की अनुवृत्ति कर आद्युदात्त अथवा प्रत्ययस्वर[1]। ऋ० सं० में √मद् से व्युत्पत्ति सकेतित प्रतीत होती है[2]। यास्क ने भी √मद् से ही निर्वचन किया है[3]। वैयाकरण √मन् से व्युत्पन्न मानते हैं[4]। इस प्रकार सायण की व्युत्पत्ति पूर्णतः व्याकरणसम्मत है, पर ऋग्वेदीय मधु √मद् से ही व्युत्पन्न प्रतीत होता है।

( तु० IE médhu 'honey', O Bulg. medŭ )

**मनु** < √मन् ( ज्ञाने ) + उ प्रत्यय ( शृस्वृष्णिहित्रप्यसि०, उ० सू० १. १० ), मन्यते इति मनुः, नित् की अनुवृत्ति कर आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[5]।

**मनुस्** < √मन् ( ज्ञाने ) + उसि प्रत्यय बाहुलक (जनेरुसिः, उ० सू० २. ११६), नित्, मानकर आद्युदात्त[6]।

**मनुष** < (क)—√मन् + उषच् प्रत्यय ( मनेर्नित् ), आद्युदात्त।
(ख)—√मन् + उषन् (औणादिक)[7]।

**मनुष्यः** < मनु + यत् प्रत्यय तथा षुक् का आगम (मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च, पा० ४. १. ६१); 'द्व्यच्' की अनुवृत्ति कर (यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३) से प्राप्त आद्युदात्त का अभाव[8]। ऋ० सं० में मन् से इसकी व्युत्पत्ति अभीष्ट प्रतीत होती है[9]। ब्राह्मण मनस् से निर्वचन करते हैं[10]। यास्क – √मन + सिव्, √मन् + √सृज्, मनु, मनुष[11]। ग्रासमान – मनुस् (वोबू० ९९८)।

---

१. सा० ऋ० १. ४. १०, १५. ११, १९. ९, ९०. ६, मधुमन्तम् १. १३. २, द्र० १. ४७. १, १५७. ४, ३. ७. २, ८. १, मा० धा० दिवा० ७१, क्षीर० दिवा० ६६।
२. ऋ० सं० ५. ६१. ११ – पिबन्तो मदिरं मधु।
३. निरु० ४. ८ मधु सोममित्यौपमिकं माद्यतेः इदमपीतरन्मध्वेतस्मादेव।
४. उज्ज्वलदत्त १. १९, उ० म० दी० १. १८।
५. सा० ऋ० ०हितः १. १३. ४, द्र० श० ब्रा० ६. ६. १. १९, तै० ब्रा० २. ३. ८. ३, निरु० १२. ३३।
६. ,, ,, मनुषः १. २६. ४, ७६. ५।
७. ,, ,, १. ३१. ११, ११७. २१।
८. ,, ,, १. ५९. ४, द्र० सा० अ० ३. २२. ३, देव० नि० २. ३. १।
९. ऋ० सं० १०. ३५. ८।
१०. तै० ब्रा० २. ३. ८. ३ स पितॄन् सृष्ट्वामनस्यैत्। तदनु मनुष्यानसृजत्। तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वम्। य एवं वेद मनस्येव भवति।
११. निरु० ३. ७ मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति, मनस्यमानेन सृष्टावा।

( तु० IE men 'to think', Goth. manna, 'man' )

**मनोतरा**<(क)—मनोतृ<मनस्+तृ+अप्, मनस् के सकार को रुत्व तथा छान्दस उत्व।

(ख)—√मन् + तृच्, पृषोदरादि[1]। स्कन्द √मन् ( ज्ञाने ) अथवा √मन् ( याच्ञाकर्मा ) से व्युत्पन्न मानते हैं[2]। ब्राह्मण – मनस् + ऊत (< √अव् रक्षणे)[3]।

**मन्तु** < √मन्+तु प्रत्यय (कमिमनिजनि०, उ० सू० १. ६९)[4]।

**मन्त्रम्** < √मन्त्र् ( मत्रि गुप्तभाषणे ) + अच् प्रत्यय (नन्दिग्रहि०, पा० ३. १. १३४), आद्युदात्त (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)[5]। यास्क तथा वैयाकरण √मन + त्रन् से व्युत्पन्न मानते हैं[6]।

**मन्थाम्**<(क)—मथिन् + अम्, द्वितीया में व्यत्यय से आत्व (पथिमथि०, पा० ७. १. ८५) प्रातिपदिकस्वर से प्राप्त अन्तोदात्त का निषेध कर आद्युदात्त (पथिमथोः सर्वनामस्थाने, पा० ६. १. १९९)।

(ख)—√मन्थ् (वलोडने) + घञ् करण में (हलश्च, पा० ३. ३. १२१), मथ्यते अनयेति मन्था ( स्त्री० ) मन्थ आद्युदात्त, (पा० ६. १. १९७)[7]।

**मन्दसानः**< √मन्द् (मदिस्तुति०) + असानच् प्रत्यय (ऋतन्यञ्जि०, उ० सू० २.८७), अन्तोदात्त (चितः, पा०, ६. १. १६३)[8]।

**मन्दिने** < √मन्द (मदिस्तुति०) + इनि प्रत्यय (औणादिक) + ङे, च० ए०[9]। यास्क ने √मन्द से ही निर्वचन किया है[10]।

( तु० IE mad 'wet', to trickle, Gr. madá o 'I flow' )

**मन्दू**< (क)—मन्दु + औ, पूर्वसवर्णदीर्घ (प्रथमयोः पूर्व०, पा० ६. १. १०२)।

---

१. सा० ऋ० १४६. २, ८. ८. १२।
२. स्क० ऋ० १. ४६. ३।
३. ऐ० ब्रा० २. १० – तिस्रो वै देवानां मनोतास्तासु हि तेषां मनांस्योतानि····।
४. सा० ऋ० मन्तवे १. ११२. २, द्र० मन्तुमः १. ४२. ५, १०. १३४. ६, वोबू० ९९९।
५. ,, ,, १. ३१. १३, ४०. ५, सा० अ० २. ७. ५।
६. निरु० ७. १२ मन्त्रा मननात्, दश० ८. ८९, सरस्व० २. ३ ८५, क्षीर० दिवा० पृ० २११, वोबू० ९९९।
७. सा० ऋ० १. २८. ४।
८. ,, ,, १. १०. ११, १००. १४, द्र० स्क० वहीं, वोबू० १००२।
९. ,, ,, १. ९. २।
१०. निरु० ४. २४ मन्दी मन्दतेः स्तुतिकर्मणः।

(ख)—मन्दु + टा, पूर्वसवर्णदीर्घ ( सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९ )। मन्दु <√मद + कु प्रत्यय (खरुशंकुपीयुनीलङ्गुलिगु, उ० सू० १. ३६)। धातु को नुमागम (इदितो नुम् धातोः, पा० ७. १. ५८), प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त[1]। यास्क √मद् से निष्पन्न मदिष्णु से निर्वचन करते हैं[2]। देवराज० √मन्द् (तृप्त्यर्थक), √मद् + उ प्रत्यय बाहुलक (भृमृशीतृचरि०, उ० सू० १. ७)[3]। ग्रासमान – √मन्द् (वोबू० १००३)।

**मन्द्र** < √मन्द् + रक् (स्फायितञ्चि०, उ० सू० २. १३), प्रत्ययस्वर[4]।

**मन्यु** < √मन् ( ज्ञाने ) + युच् प्रत्यय (यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्, उ० सू० ३. २०)[5]।

( तु० IE men, 'to think', Gr. ménos 'fury', Av. mainyu, 'sprit )

**मन्युमी** < मन्यु + √मी (हिंसायाम्) + क्विप्, मन्युं मिनातीति मन्युमी[6]।

**मयोभु** < मयस् + √भू + डु प्रत्यय ( औ० अथवा मितद्रवादिभ्य उपसंख्यानम्, वा० पा० ३. २. १८०)[7]।

**मयोभू** < (क)—मयस् + √भू ( सत्तायाम् ) + क्विप् ( क्विप् च, पा० ३. २.७६), मयः भावयन्तीति मयोभुवः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर (गतिकारको०, पा० ६. २. १३९)। मयस् < √मी ( हिंसायाम् ) + असुन् ( औणादिक ), मिनोति हिनस्ति दुःखमिति सुखं मयः[8]। वररुचि – √मादय् + असुन्।[9]

( तु० मयस् – Av. māyā, māyā, Lat. mītes 'mild', 'gentlaə', Lith. mielas, 'dear ')

---

१. सा० ऋ० १. ६. ७।

२. निरु० ४. १२।

३. देव० नि० ४. १. १३।

४. सा० ऋ० ०तरः – ३. ७. ९, मन्द्रः ३. १४. १, ५. ११. ३. मन्द्रैः ३. ४५. १, द्र० स्क० ऋ० १. १००. १६, देव० नि० १. ११. ९।

५. „ „ २. २४. २, १०. ८३. १, ८७. १३, द्र० स्क० ऋ० १. १३९. २, सा० अ० १. २१. ३, ४. ३१. १, निरु० १०. २९ मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः, क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा।

६. „ „ १. १००. ६, २. २३. ४, द्र० वोबू० १००५।

७. „ „ ०भून् १. ८४. १६. ०भुना० ३. १६. ६।

८. „ „ १. १३. ९, ८४. १६, ११७. १९, द्र० सा० अ० १. ५. १, २. ४. ४।

९. निरु० समु०, मं० ४३, पृ० ४५।

**मरुत**<(क)—मित + √रु ( शब्दे ), मितं रुवन्तीति मरुतः मितभाषिणः स्तोतारः,
(ख)—महत् + √रु । सायण ने प्रत्यय का संकेत नहीं किया है[1] । यास्क – √मा + √रु, √मा + √रुच्, महत् + √द्रु, महत् + √रु[2] । सायण की व्युत्पत्ति यास्क पर आधारित है । वैयाकरण √मृ (प्राणत्यागे) +उति प्रत्यय (मृग्रोरुतिः, उ० सू० १. ९२) प्रत्ययस्वर से आद्युदात्त व्युत्पन्न करते हैं । उज्ज्वलदत्त अकारान्त मरुत को अव्युत्पन्न मानते हैं[3] । ग्रासमान भी √मर् से ही व्युत्पन्न मानते हैं, (वोबू० १००७) ।

**मर्त** < √मृ + तन् ( असिहसि०, उ० सू० ३. ८२ ), म्रियत इति मर्तः, मनुष्यः, आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ ) । मर्तासः < मर्त + जस्, असुक् का आगम[4] ।

**मर्य** < √मृ ( प्राणत्यागे ) + यत् प्रत्यय (छन्दसि निष्टर्क्य०, पा० ३. १. १२३), आद्युदात्त ( यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३ )[5] । ग्रासमान – √मर्, (वोबू० १०१०) ।

( तु० IE merio 'boy' Gr. meiroks 'boy' Eng. male )

**महः**< (क)—महत् व्यत्यय से तकार को सकार, रुत्व, विसर्ग, प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त (बृहन्महतोरुपसंख्यानम्, वा० पा० ६. १. १७३) ।

(ख)—√मह् (पूजायाम्) + क्विप् + अस्, छान्दस अल्लोप, विभक्ति उदात्त (सावेकाचः, पा० ६. १. १६८) ।

(ग)—√मह् + असि प्रत्यय ( औणादिक ) ।

(घ)—√महत् + शस्, अकार तथा तकारलोप छान्दस[6] । देवराज० – मह् + असुन्[7] ।

१. सा० ऋ० ५. ३०. ६, ८. ८९. १ ।
२. निरु०. ११. १३ – मरुतो मितराविणो वा, मितरोचिनो वा, महद्द्रवन्तीति वा, द्र० देव० नि० १. २. १३ ।
३. श्वे० उ० सू० १. ९२, उज्ज्व० १. ९६, उ० म० दी० १. ९३ म्रियतेऽसौ न कदाचित् इति मरुत् ।
४. सा० ऋ० १. ५. १०, ३०. २०, ३८. ४, ६०. २, १००. १५, ५. ९. १ ।
५. ,, ,, १. ६. ३, ७७. ३, ९१. १३, ११५. २, १०. ४०. २, द्र० निरु० ३. १५, देव० नि० २. ३. ११ ।
६. ,, ,, १. ३ १२, ६. १०, १९. २, २२. ११, ३१. ३, ३६. ३, ६१. ७, १००. १, १०५. ६, ११७. ८, १२०. ७, १२१. ११, ३. ७. ६ ।
७. देव० नि० १. १२. ५६ ।

**महावटूरिणा**<महत् + √वट् ( वेष्टने ) + ऊर् प्रत्यय ( खर्जिपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ, उ० सू० ४. ६६), महावटूर + इनि मत्वर्थीय[१]।

**महिकेरव**< महि + √कृ + उण् ( कृवापाजि०, उ० सू० १. १), महिकारु, आकार को एकारादेश छान्दस, मह्यो महान्तः कारवो येषां ते तथोक्ताः, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर[२]। महि < √मह्[३]।

**महिना** < (क)—महिन् + टा, व्यत्यय से विभक्ति उदात्त।

(ख)—महत् + इमनिच् ( पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा, पा० ५. १. १२२), टिलोप (टेः, पा० ६. ४. १४३), अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३), महिमन् + टा, तृ० ए०, अल्लोप, छान्दस मलोप[४]।

**महिष** < √मह + टिषच् ( अविमह्योष्टिषच्, उ० सू० १. ४४ ), आमन्त्रित निघाते[५]।

**मह्ना** < (क)— = महिम्ना, छान्दस वर्णलोप।

(ख)—√मह् + कनि ( औणादिक ), प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त, महिन् + टा, तृ० ए०, अकारलोप ( अल्लोपोऽनः, पा० ६. ४. १३४ ), उदात्त-निवृत्तिस्वर से विभक्ति को उदात्त[६]।

**महयाय्य** < √मह् ( पूजायाम् ) + आय्य प्रत्यय ( औणादिक )[७]।

**मातरिभ्वरी**<मातृ + ङि + √भू + वनिप्, + ङीप्, पृषोदरादि, मातरिभवन्त्यः[८]।

**मातरिश्वन्**<(क)—मातृ + ङि + √श्वस् ( प्राणने ) + कनिन् प्रत्यय निपातित ( श्वन्नुक्षन्०, उ० सू० १. १४६ ), निर्माणहेतुत्वात् माता, मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति प्राणतीति मातरिश्वा वायुः,

(ख)—मातरि + √अस् ( गतिदीप्त्यादानेषु ) + ड्वन् प्रत्यय ( औणादिक )[९]। सायण की व्युत्पत्तियाँ यास्क से प्रभावित हैं[१०]।

---

१. सा० ऋ० १. १३३. २।

२. ,, ,, १. ४५. ४।

३. ,, ,, १. ४१. ७, ५४. ८. ११६. ६।

४. ,, ,, १. ३२. ८, ३३. ९, १२२. ११, १०. १२१. ८।

५. ,, ,, ३. ४६. २, सा० अ० महिषी २. ३६. ३।

६. ,, ,, १. ५५. १, ७२. ९।

७. ,, ,, १०. १२२. ७।

८. ,, ,, १०. १२०. ९।

९. ,, ,, १. ३१. ३, ६०. १, ९६. ४, ३. ५. ९, २६. २. द्र० सा० अ० ११. ६. १५, उव्वट तथा महीधर वा० स० १. २।

१०. निरु० ७. २६ – मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्याश्वनितीति वा।

सायण ने जिस दूसरी व्युत्पत्ति को यास्क का बताया है, वह उन्हें अभिमत नहीं है, और न तो किसी व्याख्याकार ने ही उसे यास्क का स्वीकार किया है। यास्क की दूसरी व्युत्पत्ति – मातरि + आशु + √अन् ( प्राणने ) है[1]। वैयाकरण मातरि + √श्वि ( टुओश्वि गतिवृद्ध्योः) + कनिन्, टिलोप, तथा विभक्ति का अलुक् निपातन से, व्युत्पत्ति देते हैं[2]। यद्यपि स्कन्दस्वामी ने निरुक्त भाष्य में √श्वस् से व्युत्पत्ति वैयाकरणों का अभीष्ट माना है, पर अन्यत्र उसकी पुष्टि नहीं हो पाती। शंकराचार्य भी वैयाकरणों से सहमत हैं[3]। ग्रासमान – मातरि + √ शु, (वोबू० १०२६)।

**माया** < मा (माने शब्दे च) + य प्रत्यय (माच्छाससिसूभ्यो यः, उ० सू० ४. ११८), माय + टाप् (अजाद्यतष्टाप्, पा० ४. १. ४). मिमीते जानीते कर्म, मीयतेऽनयेति वा माया कर्मविषयज्ञानम्, प्रत्ययस्वर[4]। गेल्डनर – √मी, (ऋ० ग्ला०, १३५) ग्रासमान – √मा ( = √मन्, वोबू० १०३४)।

( तु० Av. mā, Gr. metron, metreo, Lat. metior, mensus, mensura, sl. mera, Lith. mera )

**मायु** < √मि ( प्रक्षेपणे ) उण् प्रत्यय ( कृवापा०, उ० सू० १. १ ), मीयते प्रक्षिप्यते इति मायुः शब्दः[5]। गेल्डनर (ऋ० ग्ला० १३५) तथा ग्रासमान (वोबू० १०३६) √मा से व्युत्पन्न मानते हैं।

**मास** < √मस् (मसी परिमाणे) + घञ्, मस्यते परिमीयते त्रिंशता दिनैरिति मासः, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[6]। यास्क – √मा[7]। वैयाकरण भी यास्क से सहमत हैं[8]।

( तु० IE mēs 'moon', 'month', Av. māh )

---

१. स्कन्द तथा दुर्ग – निरु० ७. २६।

२. श्वे० उ० सू० १. १४६, दश० ६. ५५, सि० कौ० उ० सू० श्वन्नुक्षन्०, उ० को० १. १५८, सरस्व० २. १. २७८, दुर्ग २. ५, उ० म० दी० १. १५३।

३. ईशा० उप० मं० ४ मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः।

४. सा० ऋ० १. ११. ७, १४४. १, ३. २७. ७, द्र० देव० नि० ३. ९. ६।

५. ,, ,, १०. ९५. ३, द्र० देव० नि० १. ११. २७।

६. ,, ,, मासाः, ३. ३२. ६, मासः १०. ८५. ५, द्र० क्षीर० दिवा० ११५।

७. निरु० ४. २७, मासा मानात्।

८. दश० ६. २७, सरस्व० २. ३. १६८, दुर्ग० ५. ६४, क्षीर० अदा० ५५, उ० को० मास् ४. १८८, द्र० वोबू० १०३६।

**मितः** < (क)—√मि + क्विप् ( औणादिक), तुक् का आगम, मित् + जस्।
(ख)—√मि + क्त, व्यत्यय से बहुवचन के स्थान पर एकवचन, आद्युदात्त (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)[1]। क्षीरस्वामी √मा (माने)+इत् (द्यतिस्यतिमा०, पा० ७. ४. ४०) से व्युत्पन्न करते हैं[2]।

**मितज्ञु** < मित + जानु, जानु को 'ज्ञु' आदेश छान्दस[3]। ग्रासमान – मित (√मी) +ज्ञु < जानु, (वोबू० १०३८)।

**मित्र**< √मिद् (स्नेहने) + त्रन् प्रत्यय (अमिचिमिदिशंसिभ्यः कित्, उ० सू० ४. १७२), मेद्यतीति मित्रम्[4]। पुंल्लिग मित्र शब्द प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त होता है[5]। सायण ने अन्यत्र √मी + √त्रा, √मि (प्रक्षेपणे) से व्युत्पन्न किया है[6]। यास्क – √मिद्, √मी + √त्रा (त्रैङ्), मी + √द्रु[7]।

( तु० IE mi, 'to bind', Gr. mitre 'abandage for the heead'. Av. miθra – friend )

**मीळ्हुषे**< √मिह् (सेचने) + क्वसु प्रत्यय निपातित (दाश्वान्साह्वान्मीढवांश्च, पा० ६. १. १२), मीढवस् + ङे, च० ए०, सम्प्रसारण (वसोः सम्प्रसारणम्, उ० सू० ६. ४. १३१), षत्व (शासिवसिघसीनां च, पा० ८. ३. ६०), ढकार का ळ्हकार छान्दस (द्र० ऋ० प्रा० १. ५२)[8]।

**मुषीवाणम्**< √मुष् (स्तेये) + कि प्रत्यय भाव में (औणादिक), मुषि + √वन् (संभक्तौ) + विच् (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५), मोषणं मुषिः, मुषिं वनति संभजते इति मुषीवा, मुषिवन् + अम्, दीर्घ (सर्वनामस्थाने चासबुद्धौ, पा० ६. ४. ८), पूर्वपद को छान्दस दीर्घ (अन्येषामपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७)[9]।

---

१. सा० ऋ० १०. १८. १२।
२. क्षीर० अदा० ५५, पृ० १८१।
३. सा० ऋ० ०ज्ञवः ३. ५९. ३।
४. ,, ,, मित्र्यम् ५. ८५. ७।
५. ,, ,, १. २. ७।
६. सा० अ० ३. ८. १, ११. १९. १।
७. निरु० १०. २१ – मित्रः मेदयतेः, प्रमीतेः त्रायते, सम्मिन्वानो द्रवतीति वा, द्र० देव० नि० ५. ४. १३, निरु० समु० मं० ३०, पृ० २९--३०।
८. सा० ऋ० १. १२२. १, ४. ३. ५।
९. ,, ,, १. ४२. ३, द्र० वोबू० १०५२।

**मूर्धा** < √मुह् (वैचित्ये) + कनिन् प्रत्यय, उपधादीर्घ, धकार अन्तादेश तथा अन्त्य से पूर्व को रेफ निपातित (श्वन्नुक्षन्०, उ० सू० १. १४६)[१] । यास्क – मूर्त + √धा[२] । ग्रासमान् – √मुर्, (वोबू० १०५३) ।

( तु० IE moləḍh 'height', head, Gr. blothros, 'highly grown')

**मूषः**< √मुष् ( स्तेये ) + क्विप् + जस्, छान्दस दीर्घ, मुष्यन्तीति मुषः[३] ।

( तु० IE mūs, 'mouse', Lat. mūs 'mouse' )

**मृगः**< √मृज् (गतिकर्मा) + (अच्)[४] । सायण की व्युत्पत्ति यास्क पर आधारित है[५] । वेंकटमाधव √मृग (अन्वेषणे) से व्युत्पन्न मानते हैं – √मृग् + णिच् + अच् ( अजपि सर्वधातुभ्यः, वा० पा० ३. १. ३४ ), णिलोप ( णेरनिटि, पा० ६. ४. ३१) अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[६] ।

( तु० IE mṛg u̯, 'to wonder about' )

**मेळिम्**<√मिल् (मिलिः संपर्कार्थः) + इ प्रत्यय (औणादिक)[७] ।

**मेधिर**<(क)—√मेध् (संगमे च ) + इरन् प्रत्यय बाहुलक (औणादिक), आद्युदात्त ।
(ख)—मेधा + इरन् मत्वर्थीय ( मेधारथाभ्यामिरन्निरचौ वक्तव्यौ, वा० पा० ५. २. १०९ ) मेधा अस्यास्तीति मेधिरः, आद्युदात्त[८] । स्कन्द – मेध (= यज्ञ) + रु मत्वर्थीय, अकार को इकार व्यापत्ति[९] । वररुचि – मेधा + √इरच्[१०] ।

**मेना**< √मन् (ज्ञाने) + अच् प्रत्यय (पचादि), एकार (नशिमन्योरलिटि – एत्वं वक्तव्यम्; वा० पा० ६. ४. १२०) मेन + टाप्, स्त्री०, मन्यते, गृहकृत्यं जानातीति मेना इति स्त्रीनाम[११] । देवराज० – √मान् (पूजायाम) + इनच्, बाहुलक नलोप (उ० सू० २. ४६)[१२] ।

---

१. सा० ऋ० १. ५९. २ ।
२. निरु० ७. २७ – मूर्तमस्मिन्धीयते इति मूर्धा ।
३. सा० ऋ० १. १०५. ८, द्र० निरु० ४. ५, स्क० नि० वहीं, देव० नि० ४. १. ६ ।
४. ,, ,, १. १४५. ५ ।
५. निरु० १. २०., ९. १९ ।
६. वे० ऋ० ८. ५. ३६ ।
७. सा० ऋ० ३. २६. ६, द्र० देव० नि० १. ११. २० ।
८. ,, ,, १, ११. ७, ३१. २, ६१. ४, १०५. १४, ३. २१. ४, ९. ६८. ४ ।
९. स्क० निरु० ७. २ ।
१०. निरु० समु० मं० ८९. पृ० ८८ ।
११. सा० ऋ० १. ५१. १३, द्र० १. ६२. ७, निरु० ३. २१ ।
१२. देव० नि० १. ११. १६ ।

**मेष** < √मिष् ( स्पर्धायाम् ) + अच् प्रत्यय ( पचादि, देवसेन मेषादयः पचादिषु द्रष्टव्याः)[१] ।

( तु० IE moisos 'sheep', Av. maěsa 'wether' )

**मेहना** < (क)— √मंह् (दानकर्मा) +ल्युट्, बाहुलक अकार को एकार तथा नलोप, मेहना = मंहनीय ।

(ख)—म + इह + न[२] । सायण की व्युत्पत्ति यास्क पर आधारित है[३] । अन्यत्र सायण ने √मिह् (सेचने) से व्युत्पत्ति दी है[४], मिह्यति सिंचति अनेनेति मेहनम् मूत्रनालः, प्रत्यय से पूर्व उदात्त ( लिति, पा० ६. १. १९३) । यह व्युत्पत्ति संगत जान पड़ती है तथा इसकी पुष्टि ग्रासमान से भी होती है – (वोबू० १०६४) ।

---

१. सा० ऋ० १. ४३. ६, ५१. १, द्र० निरु० ३. १९

२. ,, ,, ८. ४ २१ ।

३. निरु० ४. ४ यदिन्द्र चित्रंचापनीयं मंहनीयं धनमस्ति । यन्म इह नास्तीति वा त्रीणि मध्यमानि पदानि । देव० नि० ४. १. ४ ।

४. सा० अ० १. ३. ७ ।

# सप्तम अध्याय

## य

**यजुस्** < √यज् (देवपूजादिषु) + उसिन् प्रत्यय भाव में (अर्तिपॄवपियजि०, उ० सू० २. ११८), इज्यतेऽनेनेति यजुः, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[१]। ब्राह्मण इसका निर्वचन √यज, यत् + √जू, √युज् से करते हैं[२]।

( तु० IE iag – 'to honour', Av. yazaiti, he worships' )

**यज्ञ** < √यज् (देवपूजादिषु) + नङ् प्रत्यय (यजयाच०, पा० ३. ३. ९०), प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त[३]। ऋ० सं० में √यज् से व्युत्पत्ति संकेतित है[४]। ब्राह्मण – यन् + √जन्, √युज्, √यज्[५]। यास्क ने √यज् से ही निर्वचन किया है[६]। सायण की व्युत्पत्ति उपयुक्त है। ग्रासमान भी √यज् से ही व्युत्पन्न मानते हैं, (वोबू० १०७५)।

( तु० Av. yaznu, √यज् – Av. yaz )

**यज्ञनीः** < यज्ञ + √नी ( प्रापणे ) + क्विप् (सत्सूद्विष०, पा० ३. २. ६१), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[७]।

**यज्यु** < √यज् (देवपूजादिषु) + यु प्रत्यय (यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युः, उ० सू० ३. २०), यजतीति यज्युः, अध्वर्युः, व्यत्यय से आद्युदात्त अथवा वृषादि

---

१. सा० ऋ० १०. १०६. ३, द्र० सा० अ० १८. १. ३२, निरु० ७. १२।

२. श० ब्रा० ४. ६. ७. १३ – यजो ह वै नामैतद् यद् यजुरिति, १०, ३. ५. २, एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयत्येतं यन्तमिदमनुप्रजायते तस्माद् वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जूः। यदिदमन्तरिक्षमेतं ह्याकाशमनु जवते तदेतद् यजुर्वायुश्चान्तरिक्षं च यच्च जूश्च तस्माद् यजुः, १०. ५. २. २०, यजुरित्येष हीदं सर्वं युनक्ति, १४. ८. १४. २ – प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते।

३. सा० ऋ० १. १. १, ३. १०, १०४, ४०. ३, यज्ञासः – ५. ९. २, द्र० सा० अ० १. २०. १, ३. १०. ७, ६. १२२. ४।

४. ऋ० सं० १. १६४. ५०, १०. ९०. १६ – यज्ञेन यज्ञमयजन्त....।

५. "स तायमानो जायते स यन् जायते तस्माद् यज्जो, यज्जो ह वै नामैतद् यद् यज्ञः श० ब्रा० ३. ९. ४. २३, यज्ञो वै भुज्युः। यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि युनक्ति, श० ब्रा ९. ४. १. ११, "मनुर्हवा अग्रे यज्ञेनेजे तदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते, श० ब्रा० १. ५. १. ७, यज्ञेन वै तद् देवा यज्ञमयजन्त यदग्निनाग्निमयजन्त ते स्वर्गं लोकमायन्, ऐ० ब्रा० १. १६, द्र० श० ब्रा० ११. १. ८. ६।

६. निरु० ३. १९, द्र० देव० नि० ३. १७. १।

७. सा० ऋ० १. १५. १२, १०. १०७. ६।

मानकर (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)[1]।

**यतस्रुचा**<यत + स्रुच् + औ, विभक्ति को डादेश (सुपां सुलुक्० पा० ७. १. ३६)। यत < √यम् (उपरमे) + क्त प्रत्यय, अनुनासिकलोप (अनुदात्तोप०, पा० ६. ४. ३७), प्रत्ययस्वर। स्रुच् < √स्रु (गतौ) + चिक् प्रत्यय (चिक् च, उ० सू० २. ६३), स्रवति असौ स्रुक्, आद्युदात्त (धातोः, पा० ६. १. १६२), यताः संबद्धाः स्रुचः ययोस्ते यतस्रुचा, बहुव्रीहि में पूर्वपद-प्रकृतिस्वर[2]।

( तु० √स्रु, Gr. reo, rusis, Lith. sraveti, G. strouns, stronm, strom, Ang. sax. stream, Eng. stream )

**यम** < √यम् ( उपरमे ) + घञ् प्रत्यय भाव में, निपातन से वृद्धि का अभाव, ञित्स्वर (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १६७)[3]। ब्राह्मणों में √यम् से ही निर्वचन किया गया है[4]।

( तु० IE iem 'to restram', Gr. hēmoros, 'tame' )

**यमितवै**<(क)—√यम् + तवै प्रत्यय (तुमर्थे सेसेन्०, पा० ३. ४. ९),

(ख)—यम् + णिच् + तवै, इडागम, छान्दस णिलोप, आद्यन्त उदात्त (अन्तश्च तवै युगपत्, पा० ६. १. २००)[5]।

**यशस्** < √अश् (व्याप्तौ) + असुन् प्रत्यय तथा तत्संनियोग से धातु को युट् का आगम (अशेर्भगे युट् च, उ० सू० ४.१९६), नित्स्वर (पा० ६.१.१९७)[6]। कातन्त्र में √यज् + असुन्, धातु के ज् को श् आदेश, व्युत्पत्ति मिलती है[7]।

**यह्वस्य**< √या (प्रापणे) + वन् प्रत्यय, हुक् का आगम तथा धातु को ह्रस्व (शेवयह्व-जिह्वाग्रीवाप्वामीवाः, उ० सू० १. १४०), यान्त्यनेनेति यह्वोऽग्निः, व्यत्यय

---

१. सा० ऋ० यज्यवे १. ३१. १३, ५५. ६, यज्यवः ३. १९. ४।

२. ,, ,, १. ८३. ३, द्र० ०स्रुचः ३. ८. ७, देव० नि० ३. १८. ५, वोबू० १०८१।

३. ,, ,, यमम् ३. २७. ३।

४. एष वै यमो य एष तपत्येष हीदं सर्वं यमयत्येनेदं सर्वं यतम् श० ब्रा० १४. १. ३. ४, ७. २. १. १०, द्र० निरु० १०. १९ – यमो यच्छतीति सतः।

५. सा० ऋ० १. २८. ४।

६. ,, ,, १. १०. ७, २५. १५, ३. ४०. ६, द्र० सा० अ० ३. २१. ५, ६. ३९. १, द्र० देव० नि० १. १२. ५५।

७. सरस्व० २. १. ३२३ – 'यजेः श च', दुर्ग० ४. ६० – 'यजेः शि च'।

से अन्तोदात्त[1]। यास्क – √या + √ह्वे[2] । भोज – √यस् ( प्रयत्ने ) + क्वन्, ह् अन्तादेश[3]। देवराज० √यज्, √यस्, √या + √ह्वे[4] । महादेव वेदान्ती (उ० को १. १५४) √यज् से व्युत्पन्न मानते हैं। ग्रासमान – √यह्, (वोबू० १००१) ।

( तु० IE i̯agh, 'to pursue', OHG jagōn, 'to hunt' )

**यातुधान**<यातु + धान < √धा ( धारणे ) + ल्युट् प्रत्यय ( कृत्यल्युटो बहुलम्, पा० ३. ३. ११३ ), यातु < √यत् ( निकारोपसंस्कारयोः ) + णिच् + उ प्रत्यय भाव में ( औणादिक ), यातवो यतनाः ( पीडाविशेषाः ) एषु धीयन्ते इति यातुधानाः, प्रत्यय से पूर्व उदात्त ( लिति, पा० ६. १. १९३ ), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर से वही शेष रहता है[5] । श० ब्रा० में यातु का निर्वचन √यत् से किया गया है,[6] पर वैयाकरण √या से व्युत्पन्न मानते हैं[7] ।

**यामः**<(क)—√यम् ( उपरमे ) + घञ् प्रत्यय भाव में, आद्युदात्त ( वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३ ),

(ख)—√या ( प्रापणे ) + मन् (अर्तिस्तु०, उ० सू० १. १२७), यातीति यामः, नित्स्वर[8] ।

**यामन्**< √या ( प्रापणे ) + मनिन् बाहुलक ( आतो मनिन्०, पा० ३. २. ७४ ), आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७), यामन् + ङि, स० ए०, विभक्ति का लुक् (सुपां सुलुक्० पा० ७. १. ३९), नलोप का प्रतिषेध (न ङिसंबुद्ध्योः, पा० ८. २. ८ )[9] ।

---

१. सा० ऋ० ३. २८. ४ ।

२. निरु० ८. ८ यह्व इति महतो नामधेयम, यातश्च हूतश्च भवति ।

३. सरस्व० २. ३. १३१ – 'यमेर्ह च' ।

४. देव० नि० ३. ३. १३ ।

५. सा० ऋ० ०धानान् १. ३५. १०, द्र० सा० अ० १. २८. १ ।

६. एतेन हीदं सर्वं यतम् – श० ब्रा० १०. ५. २. २० ।

७. श्वे० उ० सू० १. ६९, दश० १. १२५, सरस्व० २. १. ५८, मा० धा० अदा० ५२, पृ० ३६१, उ० को० १. ७३ ।

८. सा० ऋ० १. ३४. १, ३७. ८, ३९. ६, ८७. ३, १००. २, ३. ५३. १९ ।

९. ,, ,, १. २५. १०, ३३. २, ३७. ३, ८५. १, ११२. १, ११६. १३, ३. २९. ६, ० हूतौ १०. ११७. ३, द्र० नी० मं० पृ० ९१, वोबू० ११०९ ।

**युध्मः**< √युध् ( संप्रहारे ) + मक् प्रत्यय ( इषियुधीन्धि०, उ० सू० १. १३१), युध्यन्तेऽस्मिन्निति युध्मः शरः[१]।

**युवन्** < √यु ( मिश्रणामिश्रणयोः ) + कनिन् प्रत्यय ( कनिन्युवृषितक्षि०, उ० सू० १. १४२), कित् होने से गुण का अभाव, यौतीति युवा तरुणः, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[२]।

( तु० IE yuwen (a), yuwnko (b), Lat. juvenis, 'young', Av. yuvan, Lith jaunas )

**युवाकु**<(क)—√यु ( मिश्रणे ) + काकु प्रत्यय बाहुलक (कुडिकुषिभ्यां काकुः, दश० १. १५०), कित् होने से गुणाभाव, प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त।

(ख)—युष्मद् + √कम् ( कान्तौ ) + डु प्रत्यय (मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम्, वा० पा० ३. २. १८० ), अविभक्त को भी युवादेश ( युवावौ द्विवचने, पा० ७. २. ९२) आत्व[३]। स्कन्द ने भी उपर्युक्त दोनों प्रकार की व्युत्पत्ति दी है[४]।

**यूथ** < √यु ( मिश्रणामिश्रणयोः ) + थक् निपातित (तिथकुथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः, उ० सू० २. १२), युवन्ति मिश्रीभवन्ति यूथानि, निपातन से दीर्घ[५]।

( तु० IE iu̯, 'to combine', Litt. jutis, 'ajaint' )

**यूपः** < √यु ( मिश्रणे ) + 'प' प्रत्यय नित् ( कुयुभ्यां च, उ० सू० ३. २७ ), प्रत्यय-संनियोग से दीर्घ[६]। ऐ० ब्रा० √यूप् ( विमोहने ) से निर्वचन करता है[७]। वैयाकरण √यु से ही व्युत्पन्न मानते हैं[८]। ग्रासमान – √युप् ( वोबू० ११२५ )।

---

१. सा० ऋ० १. ५५. २, ३. ४६. १, द्र० वोबू० ११२१।

२. ,, ,, युवा – १. ११. ४, १२. ६, ३. ८. ४, द्र० निरु० ४. १९ – युवा प्रयौति कर्माणि।

३. ,, ,, युवाकवः – १. ३. ३, युवाकु १. १७. ४, १. १२०. ३, ३. ५८. ९।

४. स्क० ऋ० १. ३. ३, १७. ४।

५. सा० ऋ० यूथा इव – १. ७. ८, द्र० निरु० ४. २४, वोबू० ११२४।

६. ,, ,, १. ५२. १४।

७. ऐ० ब्रा० २. १ – तं वै ( यज्ञं ) यूपेनैवायोपयंस्तद्यूपस्य यूपत्वम्, द्र० श० ब्रा० १. ६. २. १ – यदनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम।

८. श्वे० उ० सू० ३. २७, दश० ७. ५, क्षीर० पृ० १७२, मा० धा पृ० ३४२।

**योक्त्र**<√युज् ( योगे ) + ष्ट्रन् प्रत्यय करण में ( दाम्नीशस० पा० ३. २. १८२ ), नित्स्वर[1]।

( तु० IE jug 'to kind' )

**योनि**< √यु ( मिश्रणे ) + नि प्रत्यय ( वह्निश्री० उ० सू० ४. ५३ ), आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ )[2]।

( तु० IE un – nie, iouni, night place, Av. yaondəm )

**योषा**< √यु ( मिश्रणे ) + स प्रत्यय (वृतृवदिहनि०, उ० सू० ३. ६१, दश० ६. २१), यौतीति योषा, आद्युदात्त (वृषादित्वात्, अथवा, ग्रामादीत्वात्)[3]। श० ब्रा० √यु से ही निर्वचन करता है[4]।

( तु० IE Jeus = young, Lat. jūno, 'name of a goddess')

## र

**रक्षस्**<(क)—√रक्ष् ( पालने ) + असि प्रत्यय, अपादान में ( औणादिक अथवा भीमादित्वात्, पा० ३. ४. ७४), रक्षितव्यमस्मादिति रक्षः ।

(ख)—√रक्ष् + असुन् करण में ( असुन्, उ० सू० ४, १९४ ), रक्षत्यनेनेति रक्षो बलम् ।

(ग)— √क्षर् + णिच् + असि प्रत्यय, णिलोप, धातु का वर्णविपर्यय, रक्षस्, प्रत्ययस्वर[5]। ब्राह्मणों में √रक्ष् (घेरा डालना) से इसका निर्वचन अभीष्ट है[6]। यास्क √रक्ष्, रहस् + √क्षण्, रात्रि + √नक्ष्[7]।

**रजस्**< √रञ्ज ( रागे ) + असुन् प्रत्यय (भूरञ्जिभ्यां कित्, उ० सू० ४. २२२), नलोप (रजकरजनरजःसूपसंख्यानम्, वा० पा० ६. ४. २४), रजति रज्यते

---

१. सा० ऋ० योक्त्राणि, ३. ३३. १३, द्र० निरु० ३. ९, ऋ० ग्ला० १४५ ।

२. ,, ,, १. १५. ४, ३. २९. १०, द्र० निरु० २. ८, तु० २. १६, बोब्रू० ११२६ ।

३. ,, ,, ३. ३३. १०, ३८. ८, १०. ४०. २ ।

४. श० ब्रा० ६. २. १. २२ योषा इयं वाग् यदेनं न युवति, द्र० निरु० ३. १५ ।

५. सा० ऋ० रक्षसः १. ३५. १०, ७९. ६, द्र० सा० अ० १. ३५. २, २. ३. ६ ।

६. "देवान् ह वै यज्ञेन यजमानांस्तानसुररक्षसानि ररक्षुर्न यक्ष्यध्व इति तद् यदरक्षंस्तस्माद् रक्षांसि" श० ब्रा० १. १. १. १६, द्र० श० ब्रा० २. १. ४. १५ ।

७. निरु० ४. १८ रक्षो रक्षितव्यमस्माद् रहसि क्षणोतीति वा रात्रौ नक्षत इति वा ।

वा रजः, नित्स्वर ( नब्विषयस्यानुदात्तस्य, फि० सू० २६ )[1]। यास्क – √रज्[2]। ग्रासमान – √रज्, (वोबू० ११३४)।

( तु० IE reĝ – 'to direct', set in motion, Lat. rego 'I direct' )

**रण** < √रण् ( शब्दार्थ ) + अप् ( वशिरण्योरुपसंख्यानम्, वा० पा० ३. ३. ५८ ), रणन्ति शब्दं कुर्वन्ति परस्परं योद्धारोऽत्रेति रणः संग्रामः[3]। सायण ने अन्यत्र (अ० सं० १. ५. १) √रम् + ल्युट् ( भाव में ) छान्दस अन्त्यलोप से व्युत्पन्न किया है। यास्क – √रम्[4]। देवराज० √रण्, रम्[5]। सायण की √रण् से व्युत्पत्ति अधिक संगत है। दूसरी व्युत्पत्ति यास्क पर आधारित है और मूल अर्थ से हटकर है। गेल्डनर तथा ग्रासमान – √ रण् से ही व्युत्पन्न मानते हैं[6]।

( तु० IE (e) re, 'to be set in motion', Av. rəna, 'battle' )

**रण्व** < (क)—√रव् ( गत्यर्थ ) + अच् बाहुलक, ( नन्दिग्रहि०, पा० ३. १. १३४ ), रण्वति रण्व्यते प्राप्यते यज्ञान् गच्छन्तीति रण्वः, नुमागम (इदितो नुम्धातोः, पा० ७. १. ५८), चित्स्वर ( पा० ६. १. १६३ )।

(ख)—√रव् + क प्रत्यय कर्म में, इदित् होने से नुमागम[7]। ग्रासमान – √रण्, ( वोबू० ११३६ )।

**रत्न** < √रम् ( क्रीडायाम् ) + न प्रत्यय तथा तकार अन्तादेश (रमेस्त च, उ० सू० ३. १४ ), रमयतीति रत्नम्, आद्युदात्त ( नित् की अनुवृत्ति कर अथवा फि० सू० २६)[8]।

( तु० IE rent, rnt, thing, Irish. rét, 'thing' )

**रथ** < (क)—√रम् ( क्रीडायाम् ) + क्थन् ( हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्, उ० सू० २. २ ), कित् होने से मकारलोप ( अनुदात्तोपदेश०, पा० ६. ४. ३७ ), इट्

---

१. सा० ऋ० १. ८१. ५, ९०. ७ रजसः १. ६. १०, १९. ३, ५२. ६, ३. ४६. ४, द्र० सा० अ० ६. ३३. १।

२. निरु० ४. १९ रजो रजतेः।

३. सा० ऋ० १. ७४. ३, ३. ३४. ४, ९. ६६. १३, द्र० सा० अ० २. ४. १।

४. निरु० ४. ८, ९. २६, १०. ४७।

५. देव० नि० २. १७. १।

६. ऋ० ग्ला० १४६, वोबू० ११३५।

७. सा० ऋ० रण्वाः १. ६५. ३, रण्वः १. ६६. २, रण्वम् ३. २६. १, ०संदृक् ३. ६१. ५।

८. ,, ,, १. २०. ७, ३. २६. ३, द्र० निरु० ७. १५, देव० नि० २. १०. ७।

प्रतिषेध (एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्, पा० ७. २. १०), रमन्तेऽस्मिन्निति रथः, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)।

(ख)—√रंह्[1]। गो० ब्रा० √रस्[2]। यास्क – √रंह् (गतिकर्मा) √स्थिर् (विपर्यय से), √रप्, √रस्, √रम् + √स्था +[3]। स्कन्द ने √रंह् से ही व्युत्पन्न किया है[4]। पाणिनीय तंत्र में √रम् से व्युत्पत्ति अभीष्ट है। सायण की दूसरी व्युत्पत्ति यास्क पर आधारित है। ग्रासमान – अर्, (वोबू० ११३७)।

(तु० IE. reth, 'I run', Lat. rota 'wheel' O Pers. reth 'wheel' O Irish. rethim 'I run', Irish. roth 'wheel')

**रथंतरम्**<रथ + √तॄ + खच् (संज्ञायां भृतॄवृजि०, पा० ३. २. ४६), मुम् का आगम (अरुर्द्विषदजन्तस्य, पा० ६. ३. ६७)[5]। श० ब्रा० रसम् + तमम् तथा ता० ब्रा० रसम् + √तॄ (तरण) से निर्वचन करता है[6]।

**रपांसि** < रपस् < √रप् (व्यक्तायां वाचि) + असुन्, (उ० सू० ४. १८९), रप्यते कथ्यते अदः रपः, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[7]। यास्क ने 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः। (निरु० ४. २१) व्याख्या की है।

**रप्सुदा**< (क)—रप् + सु + √दा, रप् मंत्रः, तेन सुष्ठु दातव्ये।

(ख)—रप् + √सूद् (क्षरणे), रपा मंत्रेण क्षारणीये दोहनीये[8]।

**रभ्यसः** < √रभ (राभस्ये) + असुन् + विनि (मत्वर्थीय) + ईयसुन् (आतिशायनिक), विन् का लुक् (विन्मतोर्लुक्, पा० ५. ३. ६५), छान्दस ईकारलोप, रभ्यस् + जस्, राभस्यं कार्योपक्रमः[9]।

---

१. सा० ऋ० १. ६. २, १३. ४, १४. १२, ३. ११. ५, ४४. १, रथाः – १. १८६ ८।
२. गो० ब्रा० १. २. २१ "तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते,।
३. निरु० ९. ११ रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा विपरीतस्य, रपतेर्वा, रसतेर्वा, रममाणोऽस्मिंतिष्ठति, द्र० देव० नि० ५. ३. ७।
४. स्क० ऋ० १. ४८. ३, ५४. ३।
५. सा० ऋ० १०. १८१. १।
६. श० ब्रा० ९. १. २. ३६ – "रसं तमं ह वै तद् रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम् द्र० ता० ब्रा० ७. ६. ४।
७. सा० ऋ० १. १५७. ४, द्र० सा० अ० ६. ५७. ३।
८. ,, ,, ८. ७२. १२ – रप्सुदारप्सुदे आरिप्सोः फलप्रदे। लिप्स्वोरश्विनोर्दातव्ये वा। यद्वा रपणं शब्दनम्, रप् मंत्रः। तेन सुष्ठु दातव्ये। अथवा 'षूद क्षरणे', रपा मंत्रेण क्षारणीये दोहनीये, द्र० सा० सा० २. ३. ३।
९. ,, ,, ११२०. ४।

**रराण** < (क)—√रम् + शानच् मकार को व्यत्यय से आत्च ।
(ख)—√रा ( दाने ) + यङ्लुक् + कानच् ।
(ग)—√रा + शानच ।
(घ)—√रम् + कानच्, मकारलोप छान्दस[1] । अन्यत्र सायण ने √रै ( शब्दे ) + कानच् – व्युत्पत्ति दी है[2] । यास्क – √रा[3] ।

**रश्मि**< √अश् ( व्याप्तौ ) + मि प्रत्यय तथा धातु को रश् आदेश ( अशेरश च, उ० सू० ४. ४७ ), अश्नुवते सर्वं जगदिति रश्मिः, प्रत्ययस्वर[4] । ऋ० सं० में √रश् और √यम् दोनों में परस्पर सम्बन्ध सूचित है[5] । यास्क ने √यम् से ही निर्वचन किया है[6] । स्कन्द ने √रश् धातु स्वीकार की है[7] । देवराज० √यम्, √रश् (यमनार्थक )[8] । पतंजलि के अनुसार √रश् के आख्यात रूप नहीं मिलते, केवल उससे निष्पन्न 'राशि', 'रश्मि' और 'रशना' का ही प्रयोग प्रचलित है[9] । सायण की व्युत्पत्ति व्याकरणसम्मत है । चूँकि √रश् का प्रयोग आख्यात के रूप में प्रचलित नहीं था, इसीलिए वैयाकरणों ने √अश् के स्थान पर 'रश' आदेश से रश्मि की व्युत्पत्ति दी । ग्रासमान – √रश् – (वोबू० ११५१) ।

( तु० IE rek̂, reĝ, 'to bind', Aug. sax. rakka, 'strap to hold fast the yards of sails' )

**रिक्थम्** < √रिच् ( विरेचने ) √ थक् प्रत्यय (पातृतुदिवचिसिचिरिचिभ्यस्थक् उ० सू० २. ६), रिच्यतेऽनेनेति रिक्थं धनम्, प्रत्ययस्वर[10] ।

**रिपु** < √रप् (व्यक्तायां वाचि) + उ प्रत्यय तथा उपधा को इत्व (रपेरिच्चोपधायाः. उ० सू० १. २६ ) रपति हिनस्तीति रिपुः शत्रुः प्रत्ययस्वर (आद्युदात्तश्च०,

---

१. सा० ऋ० १. ११७. २४, २. ३२. ५, ४. १. ५, ५. ३३. ८, १०. १६९ ४, द्र० सा० अ० ७. १८. ४ ।
२. सा० अ० ७. ५०. २ ।
३. निरु० २ १२ – रराणो रातिरभ्यस्तः, द्र० स्क० निरु० वहीं ।
४. सा० ऋ० ३. ७. ६, ८. ७. ८, द्र० सा० अ० २. ३२. १ ।
५. ऋ० सं० १. २८. ४, १४१. ११, १४४. ३, ६ ६७. १, ८. ३५. १ ।
६. निरु० २. १५ रश्मिर्यमनात् ।
७. स्क० निरु० वहीं ।
८. देव० नि० १. ५. ४ ।
९. पा० म० ७. २. ९५ – रशिरस्मा अविशेषेणोपदिष्टः । स राशिः, रश्मिः, रशनेत्येवं विषयः ।
१०. सा० ऋ० ३. ३१. २, द्र० देव० नि० २. १०. ३ ।

पा० ३. १. ३ )[1] । देवराज० √रिफ् ( कथनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु)[2] । रामभद्र दीक्षित ने √रिप् तथा √रिफ् – दोनों से ही व्युत्पत्ति दी है[3] । गेल्डनर – (ऋ० ग्ला० १४६ ) तथा ग्रासमान (वोबू० ११६६) √रिप् से से व्युत्पन्न मानते हैं ।

**रिशादशः** < (क)—रिश + अदस्, रिस् < √रिश् ( हिंसायाम् ) + क प्रत्यय (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः, पा० ३. १. १३५), रिशन्ति हिंसन्तीति रिशाः शत्रवः । अदस < √अद् ( भक्षणे ) + असुन् ( सर्वधातुभ्योऽसुन्, उ० सू० ४. १६४), आद्युदात्त (पा० ६. १. १६७) रिशान् अदन्तीति रिशादसः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर से नित्स्वर शेष रहता है। शेष निघात होने पर सवर्णदीर्घ उदात्त ही होता है (एकादेश उदात्तेनोदात्तः, पा० ८. २. ५)[4] ।

(ख)—√रिश + शतृ < रिशत् + √अस् (क्षेपणे) + क्विप्, व्यत्यय से पूर्वपद की उपधा को दीर्घ तथा अन्तोदात्त[5] । अन्यत्र ( अ० सं० ७. ८२. १ ) सायण ने √रिश् + √ दस् ( उपक्षये ) से व्युत्पत्ति दी है । यास्क ने √रिश् + √दस् तथा √रिश् + √अद् से निर्वचन किया है । कुछ लोग रेशयदासिनः के स्थान पर 'रेशयदारिणः' पाठ मानते हैं[6] । डा० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार इस पाठ के द्वारा दी जाने वाली व्युत्पत्ति बेतुकी होगी[7] । ऋ० भा० में स्कन्द ने सायण की दूसरी व्युत्पत्ति दी है—रिशतोऽस्यन्तीति रिशादसः । रिशदास में ह्रस्व दीर्घ व्यत्यय से रिशादस बनता है[8] । स्कन्द माहेश्वर √रिश् + √अस् से ही व्युत्पन्न मानते हैं[9] । उवट – रिश् + √दस् तथा महीधर ने √रिश् + √दस्, रिशत् + √ दस् तथा रिशत् +

---

१. सा० ऋ० ३. ३०. १५ ।
२. देव० नि० ३. २४. ४ ।
३. उ० म० दी० १. २६ ।
४. सा० ऋ० ०दसम् – १. २. ७, ५. ६४. १, ०दसः – १. १९. ५, २६. ४, ३९. ४, ६४. ५, द्र० सा० अ० रिशादाः, २. २८. २, सा० सा० ( उत्त० ) २. २. ५. १, वे० भा० सा० पृ० १४ ।
५. सा० ऋ० १. ६४. ५ ।
६. निरु० ६. १४, द्र० दुर्ग वहीं – रेशयदासिनः ।
७. एटि० यास्क पृ० १४३ ।
८. स्क० ऋ० १. २. ७, २९. ४, ६४. ५ ।
९. स्क० निरु० ६. १३ ।

√अस् से व्युत्पत्ति दी है[१]। ग्रासमान रिश् + अदस् < √अद्, ( वोबू० ११६७ )। शाकल्य ने सम्भवतः इसकी दुरूहता को देखते हुए अवग्रह न करना ही उचित समझा। क्षितीशचन्द्र चटर्जी के अनुसार सम्भवतः रिशद्दश ( रिशत् + दस् ) समास था, पर उसके स्थान पर रिशादस मिलता है, जो प्राकृतीकरण का प्रभाव है।

( तु० √रिश् IE rik̑ 'to tear', MPers. ristan, 'to spin',
√दस् IE des 'to divide', Norw. dial. tasa 'to separate the threads'. )

**रुद्र** < (क)—√रुद्र (अश्रुविमोचने) + णिच् + रक् प्रत्यय तथा तत्संनियोग से णिलुक् (रोदेर्णिलुक् च, उ० सू० २. २४), रोदयतीति रुद्रः, प्रत्ययस्वर।

(ख)—रुद् + √द्रु, रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा पापादिः तस्य द्रावयिता।

(ग)—√रु ( शब्दे ), रौति मामनिष्ट्वा नरा दुःखे पतिष्यन्तीति रुद्रः[२]। ब्राह्मण तथा उपनिषदें √रुद् से ही निर्वचन करती हैं[३]। यास्क - √रु, √रु + द्रु, √रोदय ( < √रुद् )[४]। देवराज० √रु + क्विप् > रुत् + र प्रत्यय मत्वर्थीय[५]। ग्रासमान - √ रुद्, ( वोबू० ११७४ )। सायण की दूसरी व्युत्पत्ति का सम्बन्ध भी √रु ( + क्विप्, तुक् का आगम = रुद्), से है। रुद्रासः < रुद्र + जस्, असुक् का आगम[६]।

( तु० Lat. rudere, Lith. rudies, rauda, raudoti, Ang. sax. roetan ).

**रेकु** < √रेफ् ( शङ्कायाम् ) + उ प्रत्यय ( औणादिक )[७]। ग्रासमान - √रिच्, ( वोबू० ११८० )।

---

१. उवट तथा महीधर भाष्य वा० सं० ३. ४४।

२. सा० ऋ० ०वर्तनी० १. ३. ३, रुद्राः १. ३९. ७, ३. ८. ८, रुद्राय - १. ४३. १, ११४. १, रुद्रः २. १. ६, रुद्रम् - ४. ३. १ रुद्रा - १. १५८. १, द्र० सा० अ० १. १९. ३, २. २७. ६, ३. २२. २, ६. २०. २, ५७. १, ११. २. ३।

३. श० ब्रा० ६. १. ३. १०, ९. १. १. ६, ११. ६. ३. ७, तै० सं० १. ५. १. १, का० सं० २५. १, छा० उप० ३. १६. ३ – रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति, द्र० शा० भा० वहीं, वृ० उप० पृ० ६४४।

४. निरु० १०. ५ रुद्रो रौतीति रुतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा यदरुत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकं यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्।

५. देव० नि० ३. १६. १२।

६. सा० ऋ० १. ३९. ४।

७. ,, ,, १०. १०८. ७।

**रेक्णस्** < √रिच् (विरेचने) + असुन् प्रत्यय (रिचेर्धने घिच्च) उ० को० ४.१९८ चकार से नुट् का आगम, कुत्व ( चजोः कु घिण्ण्यतोः, पा० ७. ३. ५२ ), रिणक्ति व्ययं करोति यत् तत् रेक्णः धनं सुवर्णं वा, आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ )[१]।

( तु० IE Leig – 'to leave', Gr. leipō 'I leave' √रिच् संस्कृत रिक्थ Av. 'ric, Gr. Leipu, loipos, Lat. luiguo, licet, Lith. likti, Goth. leihwan, Ang. Sax. lean, Eng. Loan, lend, G. lihan, leihan )

**रेणुम्** < √री (गतिरेषणयोः) + नु प्रत्यय (अजिवृरीभ्यो नित्, उ० सू० ३.३८)[२]।

**रेतस्** < √(क)—√री (गतिरेषणयोः) + असुन् प्रत्यय तथा तुट् का आगम (स्रुरीभ्यां तुट् च; उ० सू० ४. २०७), रीयते गच्छतीति रेतः, आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ )।

(ख)—√री ( रीङ्, प्रस्रवणे )[३]।

**रोचन** < √रुच् ( दीप्तौ ) + युच् ( अनुदात्तेतश्च हलादेः, पा० ३. २. १४९ ), अनादेश ( युवोरनाकौ, पा० ७. १. १ ), अन्तोदात्त ( चितः, पा० ६. १. १६३ )[४]।

( तु० Av. raočana, NPers. rozan, रुचि, Av. raočah )

**रोदसी** < √रुद् + असुन् + ङीप् ( उगितश्च, पा० ४. १. ६ )। यह द्यावा पृथिवी का वाचक है तथा ऋ० १. १६७. ४ को छोड़कर सर्वत्र आद्युदात्त है[५]। यास्क – √रुध्[६]। ग्रासमान – √रुद्, (वोबू० ११८५)।

---

१. सा० ऋ० रेक्णः, १. ३१. १४, द्र० निरु० ३. २, देव० नि० २. १०. २, (वोबू० ११८०)।

२. ,, ,, १. ५६. ४।

३. ,, ,, रेतसः १. १००. ३, ८. ६. ३०, रेतः ३. ५५. १७, द्र० सा० स० १. २. १०, देव० नि० १. १२. १६, वोबू० ११८१।

४. ,, ,, १. ६. १, ९, १४. ९, १९. ६, ४९. १, ४, ६३ ५, ३. १२. ९, ४४. ४, १०. १८९. २, द्र० उद्० ऋ० १०. ४९. ६, सा० अ० २.६.१, ४. १०. २, ६. ७५. ३, १९. ७. १, वोबू० ११८४।

५. ,, ,, १. १०. ८, ३१. ३, १६७. ४, ३. ३४. १, ५. ४६. ८, द्र० तै० ब्रा० २. २. ९. ४।

६. निरु० ६. १ रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ विरोधनात्, द्र० देव० नि० ३. ३०. ४।

**रोहिणी** < √रुह् ( बीजजन्मनि. प्रादुर्भावे ) + इतन् प्रत्यय ( रुहेरश्च लो वा, उ० सू० ३. ८९ ), आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ ) = रोहित + ङीप् तथा तत्संनियोग से तकार को नकारादेश ( वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः, पा० ४. १. ३९ )[१] ।

**रोहित्** < √रुह् + इति प्रत्यय ( हृसृरुहियुषिभ्य इतिः, उ० सू० १. ९५), रोहतीति रोहित्, प्रत्ययस्वर से इकार उदात्त[२] । ग्रासमान – √रुह् (= रुध्, वोबू० ११८६ ) ।

## ल

**ललामीः**<ललाम + ई प्रत्यय मत्वर्थीय ( छन्दसीवनिपौ०, वा० पा० ५. २. १०९), अङ्यन्त होने से सुलोप का अभाव[३] ।

## व

**वंसगः**<√वन् ( संभक्तौ ) + स प्रत्यय कर्म में ( औणादिक ) = वंस + √गम् +ड (डोऽन्यत्रापि दृश्यते, वा० पा० ३. २. ४८), वंसं वननीयं गच्छन्तीति वंसगः, पूर्वपद का आदि उदात्त (दिवोदासादित्वात्)[४] ।

**वक्षणा**< (क)—√वक्ष् (रोषे) +युच् प्रत्यय (क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च, पा० ३. २. १५१), चित्स्वर को बाध कर व्यत्यय से प्रत्ययस्वर ।

(ख)—वक्ष् + ल्युट् करण में ( करणाधिकरणयोश्च, पा० ३. ३. ११७ ), लित्स्वर[५] । देवराज० – √वक्ष् ( प्रापणे, रोषणे ), √वह् (प्रापणे)[६] । ग्रासमान – वक्ष्, (वोबू० ११८६) ।

**वग्नु** < √वच् ( परिभाषणे ) – नु प्रत्यय तथा गकार अन्तादेश ( वचेर्गश्च, उ० सू० ३. ३३ )[७] ।

**वङ्कु** < (क)— √वञ्च् ( गतौ ) + उ प्रत्यय ( औणादिक ), बाहुलक कुत्व,

---

१. सा० ऋ० ०षू० १. ६२. ९, द्र० रोहित १. ३९. ६, द्र० सा० अ० १. २२. ३, ४ १२. १ ।
२. ,, ,, रोहितः १. १४. १२ ।
३. ,, ,, १. १००. १६ ।
४. ,, ,, १. ५५. १ ।
५. ,, ,, वक्षणाः १. ३२. १, वक्षणासु ३. ३०. १४ ।
६. देव० नि० १. १३. ९ ।
७. सा० ऋ० ०ना, १. ८४. ३, द्र०ऋ० ग्ला० १५२, वोबू० ११९० ।

(ख)— √वक् ( कौटिल्ये ), धातु को नुमागम ( इदितो नुम् धातोः, पा० ७. १. ५८ ) = √वङ्क + उ प्रत्यय ( औणादिक )[१]। गेल्डनर √वञ्च से तथा ग्रासमान √वङ्क् से व्युत्पन्न मानते हैं[२]।

**वज्र** < √वज् (गतौ) + रन् प्रत्यय (ऋजेन्द्राग्र०, उ० सू० २. ३१), वजति गच्छत्येव शत्रुं न प्रतिहन्यत इति वज्रः[३]। यास्क – √वर्ज्[४]। देवराज० – √व्रज्, √वृज्[५]। ग्रासमान – √वज् ( वोबू० ११९७ )। सायण की व्युत्पत्ति उपयुक्त है।

(तु० IE veĝ. 'to be powerful, active, Av. vazra – 'club', NPers. gurz 'club' )

**वधर्यन्तीम्**<(क)—वधर् ( वज्रनाम, तु० नि० २. २०. ७ ) + क्यच्, वधरात्मानमिच्छतीति वधर्यति, वधर्य + शतृ + ङीप् = वधर्यती + अम्, नुमागम ( आच्छीनद्योर्नुम्, पा० ७. १. ६० ), उदात्त (धातोः, पा० ६. १. १६२)।

(ख)—वध + क्यच्, छान्दस रेफोपजन, शेष पूर्ववत्[६]।

( तु० Av. vadar (weapon, club) Gr. ŵσέw 'thrust' )

**वनर्गुः** < (क)—वन + √ऋच्छ् + √गम् + डु प्रत्यय।

(ख)—वन + √गम् + डु प्रत्यय (औणादिक), उपपद को छान्दस रुट् का आगम, टिलोप ( डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपो भवति, वा० पा० ६. ४. १४३ ), प्रत्ययस्वर ( गति०, ६. २. १३९ तथा आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३)[७]। यास्क – वनस् + √गम्[८]। ग्रासमान – वनर् ( = वन) + गु ( √गा ), (वोबू० १२०७)।

**वन्धुरः** < √बन्ध् + उर् प्रत्यय (औणादिक १. ४१), छान्दस वत्व[९]।

---

१. सा० ऋ० वङ्कू १. ५१. ११, वङ्कुम् १. ११४. ४।
२. ऋ० ग्ला० पृ० १५२, वोबू० ११९१।
३. सा० ऋ० १. ८. ३, ७. १८. १८।
४. निरु० २. ११ – 'वज्रः कस्मात् ? वर्जयतीति सतः'।
५. देव० नि० २. २०. ९।
६. सा० ऋ० १. १६१. ६।
७. ,, ,, १. १४५. ५, द्र० देव० नि० ३. २४. ९।
८. निरु० ३. १४।
९. सा० ऋ० १. ३४. ९।

( तु० Av. band, Gr. Pantherose, Lat. foedus, fides, Lith. bindras, Goth. Ang. Sax. bindan, Germ. binden, Eng. bind )

**वपुस्** < √वप् (बीजसन्ताने) + असि प्रत्यय (अर्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित्, उ० सू० २. ११८ ), उप्यतेऽस्मिन्निति वपुः शरीरम्, आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ )।[1]

**वयुनम्** < √अज् ( गतिक्षेपणयोः + उनन् प्रत्यय ( अजियमिशीङ्भ्यश्च, उ० सू० ३. ६०,) वीभाव ( अजेर्व्यघञपोः, पा० २. ४. ५६ ), अजति वीयते वा वयुनमङ्गम्, व्यत्यय से प्रत्यय का आदि उदात्त[2] । यास्क – √वी ( गतौ )[3] । देवराज० √ अज्, √ वी[4] ।

**वराह** < (क)—वर (√ वृ + अप् ) + आ + √ हृ, वरमुदकमाहारो यस्य, वरमाहरतीति वा ।

(ख)—वर + अहन् + टच्, समासान्त ( राजाहः सखिभ्यष्टच्, पा० ४. ५. ६१ ), वरंच तदहश्च वराह + अच् मत्वर्थीय = वराह, अन्तोदात्त ( पा० ६. १. १६३ )[5] । यास्क – वर + आहार, √ वृह्, वर + √वृह् से निर्वचन करते हैं[6] । सायण की प्रथम व्युत्पत्ति यास्क पर आधारित है ।

**वराहून्** < (क)—वर + आ √ हन् ।

(ख)—वर + आ + √ हु ।

(ग)—वर + आ + √ ह्वे ।

(घ)—वर + आ + √ हु ( दानादनयोः ), सायण इसे पृषोदरादि से व्युत्पन्न मानते हैं । इनके अनुसार उपर्युक्त व्युत्पत्तियाँ स्कन्द की हैं[7] ।

**वरीमन्** < (क) – √ वृ ( वरणे ) + ईमनिन् प्रत्यय ( औणादिक, तु० सरस्व० २. १. २९७ ), आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ ) ।

---

१. सा० ऋ० ०भिः १. ६२. ८, वपूंषि ३. ३९. ३, द्र० देव० नि० १. १२. ९० ।
२. ,, ,, १. ७२. ७, ३. २९. ३ ।
३. निरु० ५. १४ वयुनं, वेतेः, कान्तिर्वा प्रज्ञा वा ।
४. देव० नि० ३. ८. १० ।
५. सा० ऋ० १. १६१. ७, ६. ९७. ७ ।
६. निरु० ५. ४. द्र० देव नि० १. १०. १३ ।
७. सा० ऋ० १. ८८. ५, द्र० स्क० ऋ० वहीं ।

(ख)—उरु + इमनिच्, छान्दस दीर्घ तथा अद्युदात्त[१]। स्कन्द ने कर्म में छान्दस मनिन् तथा इट् के अप्रतिषेध द्वारा व्युत्पन्न किया है[२]।

**वरुण** < ✓ वृ (वरणे) + उनन् प्रत्यय (कृवृदारिभ्य उनन्, उ० सू० ३. ५२), वृणोति सर्वं जगत् निग्रहीतुं पाशजात्येन व्याप्नोतीति वरुणो रात्र्यभिमानी देवः, आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)[३]। ब्राह्मण एवं निरुक्त ✓ वृ से ही निर्वचन करते हैं[४]।

(तु० IE uer 'to protect', Gr. ouranos 'heaven')[५]।

**वरूता** < ✓ वृ ✓ तृन् तथा इकार को अकार निपातित (ग्रसितस्कभितस्तभित०, पा० ७. २. ३४)[६]। भट्टोजिदीक्षित ने ✓ वृ + तृच् तथा अट् का आगम निपातित माना है[७]।

**वरूथम्** < ✓ वृ (वरणे) + ऊथन् प्रत्यय (जॄवृञ्भ्यामूथन्, उ० सू० २. ५), वृणोत्यनेनेति वरूथम्, आद्युदात्त (पा० ६. १ १९७)[८]।

**वरेण्य** < ✓ वृ (संभक्तौ) + एण्य प्रत्यय (वृञ एण्यत्, उ० सू० ३. ९२), आद्युदात्त (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)[९]। क्षितीश चन्द्र चटर्जी के अनुसार "अर्तेर्निच्च, उ० सू० ३. १०२, के बाद "वृष एण्यः" उ० सू० ३. ९८ को पढ़ना चाहिए। नित् की अनुवृत्ति कर आद्युदात्त संभव हो जाएगा,

---

१. सा० ऋ० ०भिः १. ५५. २।

२. स्क० ऋ० ६. ६३ ३।

३. सा० ऋ० १. २. ७, १७. ५, २३. ४, ५०. ६, द्र० सा० आ० १. ३. ३, ९. १।

४. तै० ब्रा० १. ७. १० १ – 'वृणोति पापकृतः स्वीयैः पाशैरावृणोतीति रात्र्यभिमानिदेवो वरुणः श्रूयते च वारुणी रात्रिः', तै० सं० २. १. ७. ४ – 'अन्धकारेणावरणहेतुत्वाद् रात्रेर्वारुणत्वम्, (द्र० सायण – तै० सं० १. ८. १६. १ – 'वरुणशब्दस्यान्धकारवदावरकवाचित्वात्) गो० ब्रा० १. १. ७ – 'यच्च वृत्वातिष्ठंस्तद्, वरणोऽभवत् तं वा एवं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण, निरु० १०. ३, द्र० देव० नि० ५. ४. २, बृ० दे० २. ३३, त्रीणीमान्यावृणोत्येको मूर्तेनतु रसेनयत्।
तयैनं वरुणं शक्त्या स्तुतिष्वाहुः, कृपण्यवः॥
द्र० मा० धा० ५. ८, क्षीर०, ९.'वोबू० १२२०।

५. एटि यास्क० पृ० ५१ तथा मेक्डोनेल-आर० ए० एस्० २७, ९४७-९४९।

६. सा० ऋ० २. २०. २ द्र० वोबू० १२२१।

७. सि० कौ, पा० ७. २. ३४।

८. सा० ऋ० १. २३. २१, ५८. ९, ११६. ११, द्र० सा० अ० १. ६. ३, देव० नि० ३. ४. १७।

९. " " १. ९. ५, २६. ७. ७९, ८, ३. १२. १, ४०. ५. द्र० निरु० १२. १३।

लेकिन श्वेतवनवासी ने 'एण्यन्' प्रत्यय स्वीकार किया है[1]। अतः नित् होने से आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ ) सुतरां सिद्ध है[2]।

**वर्तनि** < √ वृत् ( वर्तने ) + अनि प्रत्यय ( वृतेश्च, उ० सू० २. १०७), गुण, व्यत्यय से अन्तोदात्त, वर्ततेऽनेनेति वर्तनिः[3]। काशिका के अनुसार स्तोत्र-वाचक वर्तनि शब्द अन्तोदात्त होता है, अन्यत्र मध्योदात्त तथा आद्युदात्त[4]।

**वर्तिः** < (क)—वृत् ( वर्तने ) + इ प्रत्यय ( हृपिषिसहिवृति०, उ० सू० ४. १२८), वर्ततेऽत्रेति वर्तिर्गृहम्, वर्ति+अम्, द्वितीया एकवचन के स्थान पर 'सु' आदेश ( सुपां सुपो भवन्ति )।

(ख)—√ वृत् + असि प्रत्यय ( औणादिक )[5]।

सायण ने जिस उ० सू० से 'इ' प्रत्यय किया है, उससे वस्तुतः 'इन्' प्रत्यय होता है[6]। ऐसी स्थिति में 'वर्तिः' आद्युदात्त होने लगेगा। अतः 'वृतेश्छन्दसि' उ० सू० ४. १५१ – से 'इ' प्रत्यय तथा प्रत्ययस्वर से आद्युदात्त करना संगत प्रतीत होता है[7]। लोकमें 'इन्' प्रत्ययान्त 'वर्ति' शब्द तथा वेद में 'इ' प्रत्ययान्त 'वर्ति' शब्द प्रयुक्त है।

**वर्पस्** < वृ ( संभक्तौ, वरणे ) + असुन् प्रत्यय तथा पुक् का आगम ( वृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुक् च, उ० सू० ४. २०६ ), व्रियते इति वर्णः आद्युदात्त, ( ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)[8]।

**वलम्** < (क) - √ वृ ( वरणे ) + अच् ( पा० ३. १. १३४ ), लत्व (कपिल-कादित्वात्, पा० म० ८. २. १८) ।

(ख)—√वल् (संवरणे) + अच्, वलति संवृणोतीति सर्वमिति वलः ।

(ग)—√वल् + घ ( पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण, पा० ३. ३. ११८ ), वल्यत आच्छाद्यते नभोऽनेनेति वलो मेघः, प्रत्ययस्वर[9]। यास्क – √वृ[10]। देवराज० – √वृ (आदरणे), √वल्[11]।

---

१. मंजूषा, दिसम्बर १९५९ पृ० १०२।
२. श्वे० उ० सू० ३.९२।
३. सा० ऋ० १. २५. ९, ३. ७. २ द्र० हरदत्त तथा जितेन्द्रबुद्धि पा० ६. १. १६०।
४. काशिका, पा० ६. १. १६०।
५. सा० ऋ० १. ३४. ४, ९२. १६, द्र० वोबू० १२२३।
६. श्वे० उ० सू० ४. १२८. दश० १. ४७, उ० को० ४. ११८।
७. दश० १. ७०, सरस्व० २. १. १६४, उ० को० ४. १४०।
८. सा० ऋ० १. ३९. १, ११३. ९, द्र० निरु० ५.८, देव० नि० ३. ७. ३।
९. सा० ऋ० १. ५२. ५, ६२. ४, ३. ३०. १०।
१०. निरु० ६. २, वलो वृणोतेः।
११. देव० नि० १. १०. ४।

( तु० IE uer 'to shut', Anglo. sax. wer protection' 'caution')

**वव्रः** < (क)—√वृ (वृङ्, संभक्तौ) + क प्रत्यय (घञर्थे क विधानं स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्, वा० पा० ३. ३. ५८), छान्दस द्वित्व।

(ख)—√वृ (वृञ्, वरणे) + क प्रत्यय ( औणादिक ), द्विर्वचन (कृञादीनां द्वे भवतः, वा० पा० ३. ३. ५८)[1]।

**वव्रि** < √वृ (वरणे) + कि प्रत्यय (आदृगमहनजनः०, पा० ३. २. १७१), लिड्वद्भाव होने से द्वित्व (लिटि धातोरनभ्यासस्य, पा० ६. १. ८), यणादेश, वृणोति शरीरमिति वव्रिर्जरा, प्रत्ययस्वर[2]।

( तु० IE vavrə )

**वशम्** < √वश् (कान्तौ) + अप् प्रत्यय (वशिरण्योरुपसंख्यानम्, वा० पा० ३. ३. ५८,) अनुदात्त (अनुदात्तौ सुप्पितौ, पा० ३. १. ४ ) वशा यदि वन्ध्यावचन है, तो अनुदात्त होता है[3]। ऋ० सं० में √वश् तथा √उश् दोनों ही परस्पर संबद्ध है[4]।

**वसवानाः** √वस् (आच्छादने) + शानच्, शप्, शप् के लुक् का अभाव छान्दस (बहुलं छन्दसि, पा० २. ४. ७३), वर्णव्यापत्ति से मकार को वकार वसमानाः >वसवानाः[5]।

**वसिष्ठः** < √वासय् ( वस् + णिच् ) + तृच् = वासयितृ + इष्ठन्, तृच् का लोप, (तुरिष्ठेमेयःसु, पा० ६. ४. १५४), सर्वस्य वासयितृतमः[6]। अन्यत्र ( ऋ० सं० ७. ५५. २ ) सायण ने वसुमत् + इष्ठन्, मतुप् का लुक्, टिलोप, व्युत्पत्ति दी है। ग्रासमान √वस् का आतिशायनिक रूप मानते हैं—(वोबू० १२३४)।

**वसु** < √वस् (निवासे) + उ प्रत्यय (शृस्वृष्णिहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च, उ० सू० १. १० ), वसन्त्यनेनेति वसु रत्नं हुताशनश्च, वासयतीति

---

१. सा० ऋ० १. ५२. ३, ४. १. १३, द्र० ५. ३२. ८, वोबू० १२२६।

२. „ „ १. ५४. १०, ११६. १०, ९. ६९. ६, द्र० निरु० २. ९, देव० नि० ३. ७. २।

३. „ „ ०नाम् ३. ६०. ४, दशम् १०. ६६. ६, द्र० स्क० ऋ० १. ८२. ३।

४. ऋ० सं० ६. ६६. ४, तदुशन्तिविश्व इमे सखायस्तदहं वश्मि पवमान, सोम।

५. सा० ऋ० १. ९०. २।

६. „ „ २. ६. १।

सर्वमिति वा वसुः, आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ )[१] । यास्क √ विवासय ( < √वस् )[२] ।

( तु० IE uesu 'good', Av. vanhu, vohu )

**वस्तोः** < (क)—√वस् ( आच्छादने ) + तुन् प्रत्यय ( वसस्तुन्, उ० सू० १. ७३), वसन्त्यस्मिन्निति वस्तु, वस्तोः, ष० ए० ।

(ख)—√वस् + तोसुन् प्रत्यय भावलक्षण[३] । शङ्कराचार्य √वस् से ही व्युत्पन्न मानते हैं[४] । देवराज० – के अनुसार स्कन्द ने 'वस्तोः' को नाम पद माना है[५] ।

**वस्यः** < (क)—वसु + ईयसुन्, टिलोप (टेः, पा० ६. ४. १५५), छान्दस ईकारलोप ।

(ख)—वसु + मतुप् + ईयसुन्, मतुप् का लुक्, (विन्मतोर्लुक्, पा० ५. ३. ६५), शेष पूर्ववत्, आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)[६] ।

**वह्निः** < √वह् ( प्रापणे ) + नि प्रत्यय ( वहिश्रिश्रुयुग्लाहात्वरिभ्यो नित्, उ० सू० ४. ५३), वहति ऊह्यते वा अनेनेति वह्निः, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[७] ।

( तु० Gr. okhos for Fokhos, Okheomai, Lat. vehere, vehiculum, sl. vesti, Goth. gawigar, G. wegan, bewegen, Eng. Weigh )

**वाक्** < √वच् ( परिभाषणे ) + क्विप् तथा दीर्घ तथा सम्प्रसारण का अभाव (क्विब्वचि०, उ० सू० २. ५७) उच्यते इति वाक्[८] ।

---

१. सा० ऋ० १. ७. ९, ९. ९, १०. ६, १५. ८, २२. ७, ४३. ५, ११०. ७, ३. ८. ८, १५. ३, ३०. १९, द्र० देव० नि० १. ५. १०, निरु० समु० मं० ६७, पृ० ६४, शां० भा० छा० उप०. ३. १६. १ – 'प्राणेषु हि देहे वसत्सु सर्वमिदं वसति नान्यथा, इत्यतो वसनाद् वासनाच्च वसवः', वोब्रू० १२३४ ।

२. निरु० १२. ४१ – 'वसव आदित्यरश्मयो विवासनात्' ।

३. सा० ऋ० १०. ११०. ४, द्र० वोब्रू० १२३८ ।

४. शां० भा० का० उप० २. २. २ 'वासयति सर्वान् इति' ।

५. देव० नि० १. ९. १ ।

६. सा० ऋ० ०इष्टये – १. २५. ४, ८. ८६. २, वस्यः १. १०९. १, वस्यसः ४. २. २० ।

७. ,, ,, १. ३. ९, ६. ५, १४. ६, २०. ८, ४४. १३, ६०. १, २. ३७. ३, ३. ११. ४, द्र० निरु० ८. ३, देव० नि० १. १४. ६ ।

८. ,, ,, १. १७३. ३, द्र० निरु० २. २३।

(तु० Av. vāxš)

**वाघतः**< √वह् + अति प्रत्यय तथा निपातन से उपधावृद्धि (संश्चत्तृभ्यद्वेहत्, उ० सू० २. ८५), हकार को घकार, प्रत्ययस्वर[१]।

**वाज**< √वज् ( गतौ ) घञ् ( अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्, पा० ३. ३. १० ), कुत्वाभाव ( अजिव्रज्योश्च, पा० ७. ३. ६० में च के अनुक्त समुच्चयार्थक होने से ) वाज्यते गम्यते, वाजयति गमयति शरीरनिर्वाहमनेनेति वा वाजः, आद्युदात्त (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)[२]।

**वाजदाव्नाम्**< वाज + √दा + वनिप् ( आतो मनिन्०, पा० ३. २. ७४ ), वाजं ददातीति वाजदावानः, समास में कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर। वाजदावन् + आम्, अकार लोप (अल्लोपोऽनः, पा० ६. ४. १३४)[३]।

**वाजसाति** < वाज + √सन् (दाने, संभक्तौ) + क्तिन् प्रत्यय, इट् प्रतिषेध (तितुत्र०, पा० ७. २. ९ ), आत्व ( जनसन०, पा० ६. ४. ४२), वाजानां सातिर्यस्मिन्, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर ( दासीभारादित्वात् )[४]। अन्यत्र ( अ० सं० १९. १०. १ ) सायण ने √षोऽन्तकर्मणि से व्युत्पन्न माना है।

(तु० षणु दाने – IE Sen, Gr. hanúo, 'to bring about')

**वाजी** > वाजिन् < वाज + इनि प्रत्यय मत्वर्थीय (अत इनिठनौ, पा० ५. २. ११५), वाजोऽन्नमेषामस्तीति वाजिनः, प्रत्ययस्वर[५]। तै० ब्रा० में वाज + √जि से निर्वचन किया गया है[६]। यास्क – √विज् (भयचलनयोः)[७]। देवराज० – तै० सं० तथा यास्क से सहमत हैं[८]। सायण की व्युत्पत्ति व्याकरणसम्मत है।

( तु० √वज्, IE ŭĕĝ̌ 'to be active or powerful', Av. vazra, 'Mithras weapon' )

---

१. सा० ऋ० ३. ३७. २, द्र० देव० नि० ३. १५ २४, वोबू० १२४८।
२. ,, ,, १. ३ १०, ४. ८, ६, ५. ३. ९, १०. १०, ४८. ११, ५२. १।
३. ,, ,, १. १७. ४।
४. ,, ,, ०सातौ १. ३४. १२, ११०. ६, ३. ३०. २२, ०सातये ३. ३७. ५।
५. ,, ,, १. ४. ८, ९, ११. २, द्र० सा० अ० १. ४. ४।
६. तै० ब्रा० ३. ९. २ . २ – यत्सद्यो वाजान्त्समजयत्, तस्माद् वाजी नाम।
७. निरु० २. २८ वाजी वेजनवान्।
८. देव० नि० १. १४. ४।

**वाणम्**<√वण् ( शब्दार्थे ) + घञ् प्रत्यय कर्म में ( अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्, पा० ३. ३. १९ ), अन्तोदात्त (कर्षात्वतः, ६. १. १५९)[1] ।

( तु० Goth. Walus 'staff' ONorw. valr 'round'

**वातः**< √वा (गतिगन्धनयोः) + तन् प्रत्यय (हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपुधुर्विस्तन्, उ० सू० ३. ८२), आद्युदात्त ( ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७ )[2] । सायण की व्युत्पत्ति ऋ० सं० तथा जै० ब्रा० से भी पुष्ट है[3] ।

( तु० IE ue – to blow 'Latt. vejas, Russ. veter. Av. vata, Lat. ventus 'wind' )

**वामभाजः**<वाम + √भज् (सेवायाम्) + ण्वि प्रत्यय (भजो ण्विः, पा० ३. २. ६२), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[4] ।

( तु० IE. ven. Lat. venus )

**वायुः**< √वा ( गतिगन्धनयोः ) + उण् प्रत्यय (कृवापा०, उ० सू० १. १), युक् का आगम (आतो युक्०, पा० ७. ३. ३३), प्रत्ययस्वर[5] । तै० ब्रा० में √वा से निर्वचन किया गया है[6] । यास्क – √वा (गति) √वी √इ (स्थौलाष्ठीवि) ( √इ + उण्, वकारोपजन )[7] ।

( तु० IE uē, Lett. vējas, Lith. vejas, Russ. veter )

**वावशानाः**< (क)—√वश् + यङ् + शानच्, सम्प्रसारणप्रतिषेध ( न वशः, पा० ६. १. २० ), शानच के आर्धधातुक होने से अतो लोप, यलोप, चित्स्वर ।

(ख)—√वश् + यङ् = वावश्, दीर्घ (दीर्घोऽकितः, पा० ७. ४. ८३), वावश् + चानश् अथवा शानच्[8] । स्कन्द ने √वश तथा √वाश्रृ

---

१. सा० ऋ० १. ८५. १०, द्र० देव० नि० १. ११. ४ ।
२. ,, ,, १२५. ६, १०. १३७. २, द्र० सा० अ० १. १५. १, निरु० १०. ३४ ।
३. ऋ० सं० ५. ८३. ४ प्रवाता वान्ति, १. २८. ७ – वातो विवाति, ७. ३. २ वातो अनुवाति, ७. ३५. ४, वातु वातः, जै० ब्रा० २. ५६ – वाताः प्रवान्ति ।
४. सा० ऋ० ३. ५५. २२ ।
५. ,, ,, ३. ३५. १ ।
६. तै० ब्रा० २. ३. ९. ६. – अयं वै बृहस्पतिः योऽयं ( वायुः ) यद्पश्चाद् वाति । पवमान एव भूत्वा पश्चाद् वाति ।
७. निरु० १०. १, ३४, द्र० स्क० निरु० १०. १ ।
८. सा० ऋ० १. ७३. ६, ३. ३०. १. ०नः ३. २२. १, ०ना० १. ११३. १० ।

( शब्दे ) दोनों से व्युत्पन्न माना है[1] । यास्क – √वश्, √वाश्[2] ।

( तु० IE u̯ek, 'to wish' Gr. hekōn 'willing'

**वावाता**<(क)—√वन् + क्त, छान्दस द्विर्वचन, इट् का अभाव, आत्व तथा धातुस्वर, संहिता में अभ्यास दीर्घ (अन्येषामपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७) ।

(ख)—√वा ( गतिगन्धनयोः ) + यङ्, यङ्लुक्, द्वित्व, >वावा + क्त[3] ।

**वाश्र** < √ वाश्टृ ( शब्दे ) + रक् प्रत्यय ( स्फायितञ्चि०, उ० सू० २. १३ )[4] । गेल्डनर (ऋ० ग्ला० १६०) तथा ग्रासमान ( वोबू० १२६३ ) √वाश् से व्युत्पन्न मानते हैं ।

**वासरी** < (क)— √ वस् ( आच्छादने ) + अरि प्रत्यय ( अर्तिकमिचमिभ्रमिदिविवासिवाशिभ्यश्चित्, उ० सू० ३. १२७ ) = वासर + ङीष् (कृदिकारादक्तिनः, ग० सू०, पा० ४. १. ४५ ) ।

(ख)— √ वस् + अर + अण् ( स्वार्थिक ) + ङीप्[5] ।

**विचक्षे** < (क)—वि + √ चक्ष् ( व्यक्तायां वाचि ) + क्विप् + ङे, च० ए० ।

(ख)—वि + √ चक्ष् + सेन ( तुमर्थे सेसेन्०, पा०, ३. ४. ९ ), सलोप ( स्कोः संयोगाद्योरन्ते च, पा० ८. २. २९ )[6] । स्कन्द ने तुमर्थ में 'केन्' प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न माना है[7] ।

**विचाकशत्**<(क)—वि + √ काश् ( दीप्तौ ) + ( यङ्लुक् ) + शतृ, धातु को छान्दस ह्रस्व, अभ्यास का आदि उदात्त (अभ्यस्तानामादिः, पा० ६. १. १८९ ), समास में कृत्स्वर।

(ख)—वि + √ काश ( दीप्तौ ), पूर्ववत्[8] ।

**वितन्तसाय्यः** < (क)—वि + √ तन् ( विस्तारे ), छान्दसरूप ।

(ख)—वि + √ तन्तस् (वृद्ध्यर्थक, हिंसा, कण्ड्वादि ) + आय्य प्रत्यय कर्ता में ( औणादिक )[9] स्कन्द—

---

१. स्क० ऋ० १. ७३. ६, ११३. १०, द्र० देव० नि० ४. २. ४ ।
२. निरु० ५. १ वावशानः वष्टेः वाश्यतेर्वा ।
३. सा० ऋ० ४. ४. ८, ८. ४. १४ ।
४. ,, ,, १. ३२. २, ३८. ८. ९५. ६, द्र० सा० अ० २. ५. ६. ४. १५. १ ।
५. ,, ,, ०म्, १. १३७. ३ ।
६. ,, ,, १. ११३. ५, ११६. १४, १६ ।
७. स्क० ऋ० १. १३. ५ ।
८. सा० ऋ० १. २४. १०, ८. ९१. २, द्र० स्क० ऋ० १. २४. १० ।
९. ,, ,, ६. १८. ६, ४५. १३, ८. ६. २२ ।

(क)—वि + ✓ तन् ( विस्तारे ) + ✓ सो अन्तकर्मणि ।

(ख)—वितन् (< ✓ तनु विस्तारे + तसाय्य ( < तसु उपक्षये ) !

(ग)—वि + ✓ तम् ( अभिकांक्षायाम् ) + तन् प्रत्यय कर्ता में, = वितन् + ✓ तस् (उपक्षये) ( + आय्य ) = वितन्तसाय्यः, तसाय्यः विगतो यस्य स वितन्तसाय्यः[1]। गेल्डनर (ऋ० ग्ला० १६० ) वि + तमस्, ग्रासमान – वि + ✓तंस्, (वोबू० १२६९)।

**विदथ** < ✓ विद् ( ज्ञाने ) + अथ प्रत्यय ( रुविदिभ्यां कित्, उ० सू० ३. ११० ), कित् होने से गुण का अभाव, विद्यते फलसाधनत्वेन ज्ञायते इति विदथो यज्ञः, प्रत्ययस्वर[2] ।

**विदुष्टरः** < विद्वस् + तरप्, भसंज्ञा ( अयस्मयादीनिच्छन्दसि, पा० १. ४. २० ), सम्प्रसारण ( वसोः सम्प्रसारणम्, पा० ६. ४. १३१ ), परपूर्वत्व, षत्व (शासिवसिघसीनां च, पा० ८. ३. ६०), तरप् अनुदात्त (अनुदात्तौ सुप्पितौ, पा० ३. १. ४ ), प्रत्ययस्वर से उकार उदात्त[3] । विद्वस्< ✓विद् (ज्ञाने) + शतृ, शतृ को वसु आदेश ( विदेः शतुर्वसुः, पा० ७. १. ३६)[4] ।

**विधवा** < सायण ने यास्क का निर्वचन उद्धृत कर दिया है। यास्क वि + ✓ धा, वि + ✓ धू, वि + ✓ धाव्, वि + ✓ धव[5] । ऋ० सं० में कदाचित् ✓ विध् से व्युत्पत्ति संकेतित है[6] । ग्रासमान – ✓ विध्, (वोबू० १२८१) । यास्क के निर्वचन अर्थनिर्वचन हैं । अतः ✓ विध् से व्युत्पत्ति संगत प्रतीत होती है ।

(तु० IE widhewa Fem. of an old derive of weidh, 'separate' Lat. vidua, Goth. widuwo, Ch. sl. vidova, Russ. vdova, Av. vi 8 ava)

**विधु** < वि + ✓ धा ( करोत्यर्थे ) + कु प्रत्यय ( पृभिदिव्यधिगृधिधृषिदृशिभ्यः, उ० सू० १. २३)[7] । श्वेतवनवासी – ✓ व्यध् ( ताडने ) + कु प्रत्यय

---

१. स्क० ऋ० ६. ४५. १३ ।

२. सा० ऋ० १. ४०. ६, ८९. १, ११७. २५, २. २४. १६, ३. २६. ६, २७. ७, द्र० सा० अ० १. १३. ४, निरु० ६. ७, तु० १. ७, ३. १२. देव० नि० ३. १७. ५ ।

३. „ „ १. ३१. १४, २. १६. ४, द्र० विदुष्टरा १०. ७०. ७ ।

४. „ „ विदुषः – ३. १४. २ विद्वान् १. २४. १३ ।

५. „ „ १०. ४०. २, निरु० ३. १५ विधवा विधातृका भवति, विधवनाद्वा. विधावनाद्वा, अपि वा, धव इति मनुष्यनाम, तद्वियोगाद्विधवा ।

६. ऋ० सं० १०. ४०. ८ – युवं विधन्तं, विधवामुरुष्यथः ।

७. सा० ऋ० १०. ५५. ५ ।

( उ० सू० १. २३ ), विध्यतीति विधुः[1]। ग्रासमान - ✓ विध्, (वोबू० १२८२)।

**विपक्षसा** < वि + ✓ पच् ( पाके ) + असुन् तथा सुट् का आगम (पचिवचिभ्यां सुट् च, उ० सू० ४. २२५ ) = विपक्षस् + औ ( प्र० द्वि० ) विभक्ति को डादेश ( सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९ ), विभिन्ने पक्षसी पार्श्वौ ययोस्तौ, 'वि' शब्द निपात होने से उदात्त, पूर्वपदप्रकृतिस्वर से वही शेष रहता है[2]। स्कन्द ने पूर्वोक्त व्युत्पत्ति के साथ वि + पक्ष + औ, सकारोपजन छान्दस, भी व्युत्पत्ति दी है[3]।

**विपन्यु** < (क)—वि + ✓पन् (स्तुतौ) + यु प्रत्यय बाहुलक (औणादिक), प्रत्ययस्वर।

(ख)—वि + पन ( < ✓पन् ) + ✓या ( प्रापणे ) + कु प्रत्यय ( मृगय्वादयश्च, उ० सू० १. ३७ ), अकारलोप छान्दस, प्रत्ययस्वर[4]। स्कन्द ने - वि + ✓पन् + क्यच् + उ प्रत्यय तथा विपन् + यु प्रत्यय ( तद्वदर्थ में ), व्युत्पत्ति दी है[5]। देवराज० - वि + ✓पन् + कत्युच् ( कत्युच्च क्षिपेः, उ० सू० ३. ५० ), वि + ✓पन् + कु - व्युत्पत्ति देते हैं[6]। गेल्डनर ( ऋ० ग्ला० १६२ ) तथा ग्रासमान ( वोबू० १२८३ ) वि + ✓पन् से ही व्युत्पन्न मानते हैं। स्कन्द की पहली व्युत्पत्ति अधिक संगत प्रतीत होती है। सायण की पहली व्युत्पत्ति में 'यु' के स्थान पर अन की आपत्ति होती है - (युवोरनाकौ, पा० ७. १. १ ), स्वर की कोई विसंगति नहीं है।

**विपश्चितम्** < विप् + शस् + ✓चि ( चयने ) + क्विप्, तुक् का आगम ( ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्, पा० ६. १. ७१), बाहुलक द्वितीया का अलुक् (तत्पुरुषे कृति बहुलम्, पा०. ६, ३. १४), विशेषेण पातीति विपा वाक्, विपो वाचश्चिनोतीति, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[7]। गेल्डनर - विप् + चित्, (ऋ० ग्ला० १६२), तथा ग्रासमान - विपस् + चित् (✓चित्), (वोबू० १२८३), से व्युत्पन्न करते हैं। गेल्डनर की व्युत्पत्ति सायण पर सम्भवतः आधारित है और सायण की व्युत्पत्ति काल्पनिक है। ग्रासमान की व्युत्पत्ति संगत प्रतीत होती है।

---

१. श्वे० उ० सू० १. २३, द्र० दश० पृ० ६९, सरस्व० २. १. १६।
२. सा० ऋ० १. ६. २।
३. स्क० ऋ० वहीं।
४. सा० ऋ० विपन्यवः १. २२. २१, ३. १०. ९, द्र० ऋगर्थसार १. २२. २१।
५. स्क० ऋ० १. २२. २१।
६. देव० नि० ३. १५. १७।
७. सा० ऋ० ३. २६. ९, द्र० देव० नि० ३. १५. १६।

**विपाट्**< (क)—वि + √पट् ( गतौ ) + णिच् + क्विप् ।

(ख)—वि + √पश् ( बाधनस्पर्शनयोः ) + णिच्, शकार को मूर्धन्य (व्रश्चभ्रस्ज०, पा० ८. २. ३६)[१] । यास्क – वि + √पाश्, वि + प्र + √अश्, वि + √पाट्य्, वि + प्र + आप्[२] । भोज – विपाश् + क्विप (विपाशेश्च, सरस्व० २. १. ३०८) ।

**विप्र** < √वप् ( बीजसन्ताने ) + रन् प्रत्यय ( ऋजेन्द्रा०, उ० सू० २. ३१ ) इत्व निपातित तथा गुण का अभाव, वपन्त्यस्मिन् धर्मादय इति विप्रः ब्राह्मणः, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[३] । ऋ० सं० में √विप् ( स्तुति ) से व्युत्पत्ति संकेतित है[४] । दशपादी उणादि वृत्तिकार ने वि + √प्रा तथा वि + √पा से व्युत्पत्ति दी है[५] ।

**विभावरि**<वि + √भा + वनिप् (छन्दसीवनिपौ, वा० पा० ५. २. १०९) + ङीप् तथा नकार को रेफादेश ( वनो र च, पा० ४. १. ७ ), विभावरी + सु ( संबुद्धि ) ह्रस्व (अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः, पा० ७. ३. १०७), (वनिप् के पित् होने से अनुदात्त) आमन्त्रित अनुदात्त[६] ।

**विभु** < वि + √भू ( सत्तायाम् ) + डु प्रत्यय (विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम्, पा० ३. २. १८०), टिलोप (डित्वात्), विभवतीति विभु, प्रत्ययस्वर (आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[७] ।

**विभृत्र** (क)—वि + √हृ ( हरणे ) + क्त्र प्रत्यय, भत्व ( हृग्रहोर्भश्छन्दसि, वा० पा० ३. १. ८४ ) ।

(ख)—वि + √हृ + क्त प्रत्यय कर्म में छान्दस रेफोपजन, गति को प्रकृतिस्वर ( गतिरनन्तरः, पा० ६. २. ४९ )[८] । ग्रासमान – वि + √भृ, ( वोबू० १२८७ ) ।

---

१. सा० ऋ० ३. ३३. १ ।

२. निरु० ९. २६ – 'विपाड् विपाटनाद्वा, विपाशनाद्वा विप्रापणाद्वा पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त' ।

३. सा० ऋ० १. ८. ६, १४. ६, १७. २, २३. ३, ३. १०. ६, ०जूतः, १. ३. ५, द्र० देव० नि० ३. १५. १, श्वे० उ० सू० २. ३१ ।

४. ऋ० सं० ६. ११. ३ ।

५. दश० ८. ४६ ।

६. सा० ऋ० १. ३०. २०, ४८. १, ५. ७९. ४, द्र० स्क० १. ३०. २०. देव० नि० १. ८. १ ।

७. ,, ,, १. ९. ५, ३१. २ ।

८. ,, ,, ०भृत्राः १. ७१. ३, ०भृत्रम् १. ९५. २ ।

**विरप्शिन्** < (क)—वि + √ रप् ( व्यक्तायां वाचि ) + क्विप् = विरप् + शक् (औणादिक, रपभृक्रम्यभिकुभ्यः शक्) विरप्श + इनि ( अत इनिठनौ, पा० ५. २. ११५ ), अकारलोप (यस्येति च, पा० ६. ४. १४८) विचित्रं रपणं विरप्, तदेषामस्तीति विरप्शानि वाक्यानि तदस्मिन्नस्तीति विरप्शी,[1] ग्रासमान वि + √ रप्श् = विरप्श्, ( वोबू० १२८६ )।

**विरप्शी** < = विरप्शिनी < विरप्शिन् ङीप् (पा० ४. १. ५), विरप्शानि वाक्यानि यस्यां सन्ति सा वाक् विरप्शिनी, इकार प्रत्ययस्वर से उदात्त, नकारलोप छान्दस, सवर्णदीर्घ, एकादेश उदात्त ( एकादेश उदात्तेनोदात्तः, पा० ८. २. ५ )[2]।

**विवस्वत्** < वि + √ वस् ( निवासे ) + क्विप् ( संपदादिभ्यः क्विप्, वा० पा० ३. ३. १०८ ) = विवस् + मतुप् ( तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्, पा० ५. २. ९४) मतुप् के मकार को वकार (मादुपधायाः०, पा० ८. २. ९) मतुप् के पित् होने से अनुदात्त होने पर धातुस्वर शेष रहता है, (वृषादीनां च, पा० ६. १, २०३)[3]। श० ब्रा० √ वस् (आच्छादने) से निर्वचन करता है[4]।

**विश्व** < √ विश् ( प्रवेशने ) + क्वन् प्रत्यय ( अशिप्रुषि०, उ० सू० १. १३७ ), कित् होने से गुण का अभाव, आद्युदात्त, ( ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७ )[5]। ( तु० अवे० विस्प)।

**विश्वगूर्तः** < (क) - विश्व + √ गृ (निगरणे) + क्त प्रत्यय, इट् प्रतिषेध (श्र्युकः किति. पा० ७. २. ११ ), उत्व ( बहुलं छन्दसि, पा० ७. १. १०३), दीर्घ ( हलि च, पा० ८. ३ ७७ )।

(ख)—विश्व + √ गुर् ( गुरी उद्यमने ) + क्त प्रत्यय, निपातन ( नसत्तनिष०, पा० ८. २. ६१ ) से निष्ठानत्व का अभाव। तत्पुरुष

---

१. सा० ऋ० विरप्शी० १. ८. ८, ३. ३६. ४, विरप्शिनः १. ६४. १०, ८७. १, १६६. ८, द्र० देव० नि० ३. ३, २२।

२. " " १. ८. ८।

३. " " ० वते - १. ३१. ३, वत् १. ४४. १, वतः ३. ३४. ७, ५. ११. ३, द्र० सा० ब्रा० १९. ९. ७।

४. श० ब्रा० १०. ५. २. ४ - 'असौ वा आदित्यो विवस्वान् एष ह्यहोरात्रे विवस्ते तमेष वस्ते सर्वतो ह्येनेन परिवृतः, द्र० निरु० ७. २६ विवस्वान् विवासनवान्।

५. सा० ऋ० १. ३. १२, ५. ६, ९. २, ११. १, ४, १२. १२, १४, १, ९ - १०, १६. ८, २३. ६, ७०, ३-४, ३. ६. ६, ५. १०. ६।

पक्ष में पूर्वपदान्तोदात्त ( मरुद्वृधादित्वात् ) तथा बहुव्रीहि पक्ष में असंज्ञा में भी पूर्वपदान्तोदात्त ( बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्, पा० ६. २. १०६ )[1] । ग्रासमान – गूर्त < √ गुर्, ( वोबू० १३०० ) ।

**विश्वमिन्व** < (क)—विश्वम् + √ इव ( व्याप्तिप्रीणनयोः ) + अच् ( पचादि ) लुगभाव छान्दस, विश्वमिन्वति व्याप्नोतीति विश्वमिन्वम् ।

(ख)—विश्वम् + √ इव् + अण् ( कर्मण्यण्, पा० ३. २. १ ), धातु को नुमागम ( इदितो नुम् धातोः, पा० ७. १. ५८ ) विश्व-मिन्वति प्रीणयति – इति विश्वमिन्वः, विभक्ति का लुक् ( तत्पुरुषे कृति बहुलम्, पा० ६. १. १४ ) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर ।

(ग)—विश्वम् + √ इव् + खच् प्रत्यय बाहुलक[2] । सायण की तीसरी व्युत्पत्ति की प्रक्रिया अस्पष्ट है । 'खच्' को 'ईन' आदेश होता है । ऐसी स्थिति में यह व्युत्पत्ति उपयुक्त नहीं प्रतीत होती है । यास्क – विश्व + √ इ[3] ।

**विश्वाहा** < (क)—विश्व + अहन्, विश्वानि अहानि विश्वहा, विश्वाहन् + जश्, विभक्तिलुक् ( शेश्छन्दसि बहुलम्, पा० ६. १. ७० ) उपधादीर्घ, नलोप, पूर्वपदान्तोदात्त (मरुद्वृधादि) ।

(ख)—विश्व + √ हन्, विश्वस्य हन्तारौ ।

(ग)—सर्वदा के अर्थ में अव्यय[4] ।

ओल्डेनवर्ग के अनुसार – विश्व (T) ह (T) मूलतः क्रियाविशेषण था, जिसका मिश्रण 'अहा विश्वा' से हो गया, क्योंकि इनमें दोनों अर्थ सन्निहित हैं । ग्रासमान – विश्वा + अहा ( द्र० अहाविश्वा, वोबू० १३०६) । 'विश्वाहा' तथा 'अहा विश्वा' सभी समान सन्दर्भों में आते हैं । 'विश्वहा, भी इसी तरह के सन्दर्भों में मिलता है । विश्वह-विश्वहा का छन्दोगत-ह्रस्वरूप अथवा – विश्वहा-विश्वह का छन्दोगत दीर्घ रूप सम्भव है । इनमें से किसी को पद पाठ में अवगृहीत नहीं किया गया । सम्भव है विश्वहा – 'विश्वा + अहा' से बना हो अथवा 'ह' अन्त में प्रत्यय हो, जैसे – कुह, इह क्रि० वि० में । सम्भवतः 'हा' या 'ह' का सम्बन्ध भी √ धा से है, जैसे विश्वधा, विश्वध, अथवा था जैसे – विश्वथा, पूर्वथा ।

**विषुणक्** (क)—विषु + √ नश् + क्विप् ( संपदादि ), कुत्व ( नशेर्वा, पा० ८. २. ६३ ) ।

---

१. सा० ऋ० १. ६१. ९ ।

२. ,, ,, १. ६१. ४, द्र० ३. २०. ३, ३८. ८, १०. ११०. ५ ।

३. निरु० ८. १० – 'विश्वमिन्वा विश्वमाभिरेति' ।

४. सा० ऋ० १. १००. १९, ४. ४२. १० ।

(ख)—विषु + √ अञ्च् ( गतौ), नुट् का आगम[1]। विषु < √ विष् ( व्याप्तौ ) + कु प्रत्यय ( औणादिक )[2]।

**विष्णु** < √ विष् ( व्याप्तौ ) + नु प्रत्यय ( विषेः किच्च, उ० सू० ३. ३९), कित् होने से गुण का अभाव, वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वमिति विष्णुः परमेश्वरः, आद्युदात्त (नित् की अनुवृत्ति कर)[3]। अन्यत्र सायण ने √ विश् (प्रवेशने) तथा वि + √ अश् से भी व्युत्पत्ति दी है[4]। यास्क – वि + √ सि, √विश्, वि + √ अश्[5]। दुर्ग – विषित √ विष् (व्याप्तौ) से व्युत्पन्न मानते हैं[6]। स्कन्द यास्क की अन्तिम दोनों व्युत्पत्तियों से सहमत हैं[7]। ग्रासमान – √ विष्, ( वोबू० १३०१ )। सायण की प्रथम व्युत्पत्ति व्याकरणसम्मत है, शेष यास्क पर आधारित।

**विहायस्** < वि + √ हा (त्यागे) + असुन् प्रत्यय ( वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि०, उ० सू० ४. २२६ ) 'णित्' की अनुवृत्ति कर युगागम ( आतो युक् चिण्कृतोः, पा० ७. ३. ३३ ), पूर्वपदप्रकृतिस्वर (गतिकारकयोः०, उ० सू० ४. २३२)[8]। अन्यत्र ( अ० सं० १७. १. २७ ) 'ओहाङ्' (गतौ ) से व्युत्पति दी है।

**वीरुध्** < वि + √ रुह् + क्विप् ( क्विप् च, पा० ३. २. ७६ ) उपसर्ग को दीर्घ तथा धकार अन्तादेश ( पा० ७. ३. ५३ – ग). विशेषेण रोहतीति वीरुत्[9]। ऋ० सं० में √ रुह् तथा √ रुध् से व्युत्पत्ति संकेतित प्रतीत होती है[10]। नैरुक्त तथा वैयाकरण √ रुह् से व्युपत्ति देते हैं[11]। सायण ने अथर्ववेद-भाष्य में √ रुध् से व्युत्पन्न माना है[12]। शब्दकल्पद्रुम – कोष में दोनों व्युत्पत्तियाँ स्वीकृत हैं।

---

१. सा० ऋ० १. ३३. ४।
२. " " विषूवतः १. ८४. १०, द्र० स्क० ऋ० वहीं।
३. " " १. २२. १६, द्र० देव० नि० ३. १७. १२, निरु० समु० मं० ३ पृ० ७।
४. सा० अ० ७. २७. ४ द्र० देव० नि० ३. १७. १२, निरु० समु० मं० ३, पृ० ७।
५. निरू० १२. १८ – 'यद् विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति विष्णुर्विशतेर्वाव्यश्नोतेर्वा'।
६. दुर्ग वहीं।
७. स्क० निरु० ५. ७।
८. सा० ऋ० विहायाः ३. ३६. २।
९. " " १. ६७. ५, द्र० सा० अ० ७. ९२. १।
१०. ऋ० सं० १. १४१. ४, १०. ४०. ९, १. ६७. ९ – 'वियो वीरुत्सु रोधन्महित्वोत प्रजा उत प्रसूष्वन्तः'।
११. निरु० ६ ३ – 'वीरुध ओषधयो भवन्ति, विरोहणात्, द्र० काशिका, पा० ७. ३. ५३ – विरोहयतीति वीरुत्'।
१२. सा० अ० २. ९. ३ – विरुन्धन्ति विनाशयन्ति रोगान् इति वीरुधः।

( तु० IE leud 'to grow', Goth. liudan 'to grow' )

**वृकः** < (क)—√ वृक् (आदाने ) + 'क' प्रत्यय (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः, पा० ३. १. १३५) वर्कते इति वृकः, आद्युदात्त (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)। (ख)— √ वृ ( वरणे ) + 'क' प्रत्यय ( सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कित्, उ० सू० ३. ४१) कित् होने से गुण का अभाव, वृणोतीति वृकः[१] । यास्क – वि + √ वृ, वि + √ कृ, वि + √ क्रम्, √ वृज्, वि + √कृन्त्[२] । देवराज० – √ वृक्, √ वृ, √ वृज्, ( वृणक्ति )[३] । ग्रासमान – √व्रक् ( =व्रश्च् ), ( वोबू० १३२५ ) ।

**वृक्तबर्हिस्** < (क)— √ व्रश्च्, ( छेदने ) + क्त प्रत्यय ( पा० ३. २. १०२ ), इट् प्रतिषेध (यस्य विभाषा, पा० ७. २. १५ ) वृक्तं बर्हिर्यस्मै यजमानाय, येन वा ऋत्विजा, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर ।

(ख)—वृज् ( वृजी वर्जने ) + क्त प्रत्यय, प्रत्ययस्वर अन्तोदात्त, वृक्तं मूलैर्वर्जितं बर्हिरास्तीर्णं येषां साम्नां ते वृक्तबर्हिषः, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर[४] । ग्रासमान – सायण की दूसरी व्युत्पत्ति से सहमत हैं – ( वोबू० १३२५ ) ।

**वृत्र** < √वृत् ( वर्तने ) + रक् प्रत्यय ( स्फायितञ्चि०, उ० सू० २. १३ ), कित् होने से गुण का अभाव, प्रत्ययस्वर[५] । ऋ० मं० में इसकी व्युत्पत्ति √ वृ से संकेतित है[६] । तै० सं० में √ वृ तथा √ वृत् से व्युत्पत्ति बतायी गई है[७] । श० ब्रा० में भी दोनों ही धातुओं से निर्वचन किया गया है[८] ।

---

१. सा० ऋ० १. १०५, १८, द्र० वृकद्वरस :– २. ३०. ४ ।

२. निरु० ५. २० – २१, वृकश्च नम्रा भवति, विवृतज्योतिष्को वा, विकृतज्योतिष्को वा, विक्रान्तज्योतिष्को वा, आदित्योऽपि वृक उच्यते, पदावृङ्क्ते, श्वाऽपि वृक उच्यते विकर्त्तनात्'० द्र० ६. २६ भी ।

३. देव० नि० २. २०. ७ ।

४. सा० ऋ० १. ३. ३, १२. ३, ३. ५९. ९, ५. ९. २ (स्वर के लिए द्र० १. १४. ५ भी) ।

५. सा० ऋ० १. ७. ५, ३२. ५, ३. १६. १ ।

६. ऋ० सं० २. १४. २, ४. १६. ७, ६. २०. २, ८. १२. २६, ९. ६१. २२ इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीति :—३. ३४. ३ ।

७. तै० सं० २. ४ १२. २, स इमांल्लोकानवृणोत् – यदिमांल्लोकान् अवृणोत्, तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् २. ५, २. १ – यदवर्तयत्, तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् ।

८. श० ब्रा० १. १. ३. ४ – वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये·········यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम, १. ६. ३. ९ 'स यद् वर्तमानः समभवत् तस्माद् वृत्रः ।

यास्क - √ वृ, √ वृत्, √ वृध् ( वृध् के लिए सम्भवतः ऋ० ३. ३०. ८ 'अधिवृत्रं वर्धमानं पियारुम्' आधार है)[1]।

**वृत्रतरम्** < (क)—वृत्र + √ तृ + अच् (पचादि), वृत्रेण आवरणेन सर्वं तरतीति वृत्रतरः, उत्तरपदाद्युदात्त ( परादिश्छन्दसि बहुलम्, पा० ६. २. १९९ ) ।

(ख)—वृत्र + तरप्, व्यत्यय से उत्तरपदाद्युदात्त । सायण भाष्य में 'तरपि तु व्यत्ययेन व्यंसम्, में 'व्यंसम्' के पूर्व पूर्ण विराम होना चाहिए[2]।

**वृत्रहथ** < वृत्र + √हन् + क्थन् प्रत्यय (हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः ०, उ० सू० २. २) कित् होने से अनुनासिकलोप, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[3]।

**वृधसानः** < √वृध् ( वर्धने ) + असानच् प्रत्यय ( ऋजिवृजिमन्दिसहिभ्यः कित्, उ० सू० २. ८७ ), कित् होने से गुण का अभाव, अन्तोदात्त ( चितः, पा० ६. १. १६२ )[4]।

**वृषभ** < √वृष् ( सेचने ) + अभच् प्रत्यय (ऋषिवृषिभ्यां कित्, उ० सू० ३. ११७), कित् होने से गुण का अभाव, वर्षति सिंचति सर्वदा रेतस्सेकं करोतीति वृषभः, वर्षति अभिलषितं फलं प्रयच्छतीति वा वृषभः, अन्तोदात्त ( चितः, पा० ६. १. १६३)[5]।

**वृष्णिः** < √वृष् (सेचने ) + नि प्रत्यय ( सृवृषिभ्यां कित्, उ० सू० ४. ५१ ), कित् होने से गुण का अभाव, प्रत्ययस्वर[6]।

**वेधस्** < वि + √धा + असि प्रत्यय तथा धातु को वेध आदेश ( विधाञो वेध च, उ० सू० ४. २३० )[7]। अन्यत्र सायण ने √विध् ( विधाने ) + असुन्, द्वारा व्युत्पन्न किया है[8]। स्वर की दृष्टि से 'असि' प्रत्यय उपयुक्त है। सायण की प्रथम व्युत्पत्ति में √धा का 'धारणपोषणयोः' के अतिरिक्त उत्पन्न करना

---

१. निरु० २. १७ – वृत्रो वृणोतेर्वा वर्धतेर्वा वर्ततेर्वा । द्र० देव० नि० १. १०. २८ ।
२. सा० ऋ० १. ३२. ५ ।
३. „ „ ०हथानाम् ३. १६. १ ।
४. „ „ ४. ३. ६ ।
५. „ „ वृषभम् – १. ९. ४. वृषभेण – १. ३३. १३, द्र० ३. १५. ३ – ४, निरु० ४. ८, देव० नि० ५. ३. १७ ।
६. „ „ १. १०. २, द्र. वोबू० १३५२ ।
७ „ „ वेधसः – ४. २. १५ ।
८. सा० अ० ३. २१. ६, ७. ७७. २, ऋ० ग्ला० १७२ ।

भी अर्थ है। ब्रह्मा सभी को उत्पन्न करता है। अतः दोनों व्युत्पत्तियाँ संगत हैं। वैयाकरणों ने भी दोनों की पुष्टि की है[1]।

**वेनन्ता** < √वेन् (कान्तिकर्मा) + शतृ = वेनत् + औं, विभक्ति को आकार (सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९)[2]।

**वोळ्हवे** < √वह् (प्रापणे) + तवेन् प्रत्यय तुमर्थ में (तुमर्थे सेसेन्०, पा० ३. ४. ९), ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढलोप, अकार को ओकार (सहिवहोरोदवर्णस्य, पा० ६. ३. ११२), आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)। दो स्वरों के बीच में आने वाला ढकार ळ्हकार उच्चरित होता है (ऋ० प्रा० १।५२)[3]।

**वैश्वानर** < विश्व + नर > विश्वानर, पूर्वपद को दीर्घ (नरे संज्ञायाम्, पा० ६. ३. १२९), विश्वे चेमे नरा विस्वानराः, तत्सम्बन्धी वैश्वानर < विश्वानर + अण् (तस्येदम्, पा० ४. ३. १२०)[4]। ब्राह्मण विश्व + नर से ही निर्वचन करते हैं[5]। यास्क ने तीन निर्वचन दिए हैं[6] :—

(क)—विश्व + नर + √नी, सब लोगों को ले जाता है। यह अग्नि मनुष्य को पितृलोक या देवलोक में पहुँचाता है—'स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः - सुविदत्रियेभ्यः, (ऋ० सं० १०. १७. ३)। स जातो यावदायुषं जीवति। तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति, यत एवेतो, यः सम्भूतो भवति (छा० उप० ५. ६. २)[7]।

(ख)—विश्व + नर + √नी, सब लोग अपने अपने कार्य की सम्पन्नता के लिए अग्नि का नयन करते हैं[8]। पहली व्युत्पत्ति से इसका भेद मात्र कारक का है।

---

१. दश० ६. ८५, श्वे० उ० सू० 'विधाञो वेध च' ४. २०३ – 'विध विधाने असुनि रूपे सिद्धे 'स्वरार्थं पुनर्व्युत्पादनम्' पृ० २०५।

२. सा० ऋ० १. २५. ६।

३. ,, ,, १. ४५. ६, ३. २९. ४, ४. ९. ६, द्र० ऋ० ग्ला० १७३।

४. ,, ,, १. ५९. १, ५, ६, ९८. १, ३. २. १, ५. ५१. १३।

५. श० ब्रा० ९. ३. १. ३ – 'स यः स वैश्वानरः। इमे स लोकाः इयमेव पृथिवी विश्वमग्निर्नरोऽन्तरिक्षमेव विश्वं वायुर्नरो द्यौरेव विश्वमादित्यो नरः। द्र० जै० ब्रा० ३. ८।

६. निरु० ७. २१ – 'वैश्वानरः कस्मात्? विश्वान्नरान्नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वा अपि वा विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि'। द्र० स्क० भा० वहीं।

७. शां भा० मा० उप० १. २, पृ० १४ – विश्वेषां नराणामनेकधा नयाद् वैश्वानरः। यद्वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानर एव वैश्वानरः।

८. द्र० बृ० दे० २. ६६ – "विश्वे विश्वानरस्तेन कर्मणा स्तुतिषु स्तुतः'।

(ग)—विश्वान् + अरः = विश्वानरः, द्वितीया का अलुक्। यह सभी भूतों में व्याप्त होने के कारण विश्वानर है। शाकल्य ने पदपाठ में विश्वानर तथा वैश्वानर – दोनों को अवगृहीत नहीं किया। अतः उनकी दृष्टि में 'विश्व + नर' तथा 'विश्वान् + अर' का यह समास नहीं है।

सायण ने यास्क का उपर्युक्त निर्वचन अनेकशः उद्धृत किया है[1]। आचार्य शंकर ने इसे परमात्मवाची मानकर 'विश्व + नर' > वैश्वानर माना है[2]। ग्रासमान – विश्व + नर, (वोबू० १३५६)।

**व्यानशिः** < वि + √अश् (व्याप्तौ) + कि प्रत्यय (आदृगमहन०, पा० ३. २. १७१), कि प्रत्यय के लिड्वद्भाव होने से द्वित्व, अभ्यासदीर्घ (अत आदेः, पा० ७. ४. ७० ), नुट् का आगम (अश्नोतेश्च, पा० ७. ४. ७२ ), प्रादिसमास[3]।

**व्युत** < √व्ये ( व्येञ्, तन्तुसन्ताने ) + क्त प्रत्यय, सम्प्रसारण ( वचिस्वपि०, पा० ६. १. १५ ), गतिस्वर ( गतिरनन्तरः, पा० ६. २ ४९ )[4]।

**व्युष्टि** < वि + √उच्छ् ( विवासे ) + क्तिन् प्रत्यय, इट् प्रतिषेध ( तितुत्र०, पा० ७. २. ९ ), षत्व ( व्रश्चभ्रस्ज०, पा० ८. २. ३६ ), ष्टुत्व, विशेषण उच्छ्यन्ते तमसा वर्ज्यन्ते इति व्युष्टयः उषःकालाः, तमो विवास्यतेऽनया, गति को प्रकृतिस्वर ( तादौ च निति कृत्यतौ, पा० ६. २. ५० ), यणादेश होने पर अनुदात्त को स्वरित ( उदात्तस्वरितयोर्यणः, पा० ८. २. ४ )[5]। गेल्डनर – वि + √वस्, ( ऋ० ग्ला० १७४ ), ग्रासमान – √उष ( = वस् ), ( वोबू० १३६० )।

**व्योमन्** <(क)—वि + √अव् ( गत्यर्थ – रक्षण ) + मनिन् ( नामन्सीमन्०, उ० सू० ४. १६२ ), इट् प्रतिषेध ( नेड्वशि०, पा० ७. २. ८ ), उपधा तथा वकार को ऊठ् ( ज्वरत्वर०, पा० ६. ४. २० ), गुण, विशेषण गच्छति अवति वा व्योम, पूर्वपदप्रकृतिस्वर (दासीभारादित्वात्)।

---

१. सा० अ० १. १०. ४, २. १६. ४, सा० ऋ० १. ५९. ५, ३. २. १।

२. ब्र० सू० भा० १. २. २८ – "तद्विषय एव वैश्वानरशब्दः केनचिद योगेन वर्तिष्यते – विश्वश्चायं नरश्चेति, विश्वेषां वायं नरः, विश्वे वा नरा अस्येति विश्वानरः परमात्मा, सर्वात्मत्वात्। विश्वानर एव वैश्वानरः, तद्धितोऽनन्यार्थो राक्षसवायसादिवत्"।

३. सा० ऋ० ३. ४९. ३, ६. १०३. ६, द्र० देव० नि० ३. १. ८।

४. ,, ,, १. १२२. २, ३. ५४. ६।

५. ,, ,, १. ४४. ३, ८, ३. १५. २, २०. १।

(ख)—वि + √अव् + मनिन् ( भाव में ), विविधम् ओम रक्षणं यस्मिन्, बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर, यणादेश होने पर स्वरित ( उदात्तस्वरितयोर्यणः, पा० ८. २. ४)[1]। श्वेतवनवासी तथा दशपादीवृत्तिकार √व्येञ् ( तन्तुसन्ताने ) से व्युत्पन्न मानते हैं – वीयतेऽनेनेति व्योम आकाशः[2]। व्योमन् < व्योमन् + ङि, स० ए०, विभक्ति का लुक् ( सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९ ), नलोपप्रतिषेध ( न ङिसंबुद्ध्योः, पा० ८. २. ८ )[3]।

**व्रज** < √व्रज् ( गतौ ) + घ प्रत्यय ( गोचरसंचर०, पा० ३. ३. ११९), कुत्वाभाव निपातन से ( अजिव्रज्योश्च, पा० ७. ३. ६० ), व्रजन्ति अन्तरिक्षे इति व्रजः, प्रत्ययस्वर (आद्युदात्तश्च, पा० ३. १. ३)[4]। ग्रासमान – √वृज्, (वोबू० १३६१)।

( तु० IE ureĝ 'to shut off' Gr. eirge 'I shut in' )

**व्राः** < व्रातः, तकारलोप छान्दस, व्रियन्त इति व्राः व्राताः[5]। अन्यत्र सायण ने √वृ ( वरणे ) + क प्रत्यय उपलक्षण से ( घञर्थे कविधानम्, स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्, वा० पा० ३. ३. ५८), व्रियन्त इति व्राः, व्युत्पत्ति दी है[6]। यास्क ने 'व्राः' की व्याख्या 'व्रात्याः' से की है[7]। देवराज० √वृ ( वरणे ) + क प्रत्यय बाहुलक, ( गेहे कः, पा० ३. १. १४४ ), यणादेश – व्र + जस्, प्र० ब०[8]।

( तु० IE uerāt 'a rope' or 'to bind with a rope' )

## श

**शंयोः** < (क) √शम् ( उपशमे ) + क्विप् + √यु ( मिश्रणे ) + विच्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर।

(ख)—शम् + युस् प्रत्यय मत्वर्थीय (कंशंभ्याम्०, पा० ५. २. १३८), पदसंज्ञा

---

१. सा० ऋ० १. ५२. १२, ३. ३२. १०, १०. १२९. ७, द्र० सा० अ० ६. १२३. १, देव० नि० १. ३. ३।

२. श्वे० उ० सू० ४. १९२, दश० ६. ७९।

३. सा० ऋ० ३. ३२. १०, १०. १२९. ७।

४. „ „ १. १५६. ४, ३. ३०. १०, द्र० सा० अ० ३. ११. ५, निरु० ६. २, देव० नि० १. १०. ११, ऋ० ग्ला० १७४।

५. „ „ १. १२४. ८, १२६. ५।

६. सा० अ० २. १. १।

७. निरु० ५. ३।

८. देव० नि० ४. २. २०।

( सिति च, पा० १. ४. १६ ), अनुस्वार, परसवर्ण, प्रत्ययस्वर[1] । यास्क ने इस पद की व्याख्या – शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् ( निरु० ४. २१ ) की है ।

**शंस्यम्**< (क)— √शंस् ( स्तुतौ ) + णिच् + यत् (अचो यत्, पा० ३. १. ९७ ), णिलोप ( णेरनिटि, पा० ६. ४. ५१ ), आद्युदात्त ( यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३ ) ।

(ख)— √शंस् + ण्यत् ( ऋहलोर्ण्यत्, पा० ३. १. १२४ ), आद्युदात्त ( ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः, पा० ६. १. २१४ )[2] ।

**शकुनिः** < √शक् + क्विप् = शक् + उत् + √नी[3] । यास्क – √शक्, √शक् + √नी, √शक् + √नद्, √शक् + √तक्, शम् + √ कृ[4] । स्कन्द √शक् > शकु + √नी ( नये )[5] । वैयाकरण √शक् + उनि प्रत्यय ( शकेरुनन्तोन्त्युनयः, उ० सू० ३. ४८ ), शक्नोति वेगं गन्तुमिति शकुनिः, व्युत्पत्ति देते हैं[6]।

**शक्र** < √शक् (शक्तौ) + रक् प्रत्यय (स्फायितञ्चि०, उ० सू० २. १३), शक्नोतीति शक्रः, प्रत्ययस्वर[7] ।

**शतदुर** < शत + दुर < √दृ + क प्रत्यय, छान्दस सम्प्रसारण परपूर्वत्व – द्रियन्ते संव्रियन्ते इति दुराः, रपर ( उरण् रपरः, १. १. ५१ ), अथवा दुर < द्वार, छान्दस सम्प्रसारण[8] ।

**शतसेय**< शत + √षो ( अन्तकर्मणि ), धातु को आत्व ( आदेच उपदेशेऽशिति, पा० ६. १. ४५ ) = शत + √सा + यत् भाव में ( अचो यत्, पा० ३. १. ९७), ईत्व (ईद्यति, पा० ६. ४. ६५), गुण (सार्वधातुकार्धधातुकयोः, पा० ७. ३. ८४ ), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[9] ।

---

१. सा० ऋ० १. ६४. ६ ।

२. ,, ,, शंस्या १. ८. १०, शंस्यम् १. १०. ५, ११६. ११, ०नाम् – १. १७. ५ ।

३. ,, ,, शकुने २. ४२. १, द्र० देव० नि० ५. ३. २ ।

४. निरु० ९. ३, "०शक्नोत्युन्नेतुमात्मानं शक्नोति नदितुमिति वा शक्नोति तकितुमिति वा सर्वतः शङ्करोऽस्त्विति वा शक्नोतेर्वा" ।

५. स्क० निरु० ९. ३ – "शकेः शकारः ककारश्च उकारश्च । नयतेर्निः" ।

६. श्वे० उ० सू० पृ० १११ ।

७. सा० ऋ० १. १०५. ६, ३. ३५. १०, द्र० वेङ् ऋ० ८. २. ३३, सा० अ० ३. २१. ४ ।

८. ०दुरेषु १. ५१. ३ ।

९. सा० ऋ० ०सेयाय ३, १८, ३, द्र० सा० अ० ३. १५. ३, ऋ० ग्ला० पृ० १७६ ।

**शत्रु** < √शत् (शतिः सौत्रः) + क्रुन् प्रत्यय ( रशतिभ्यां क्रुन्, उ० सू० ४ ११२ ), आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[1]। यास्क – √शम्, √शद्[2]। ग्रासमान – √शत् (वोबू० १३७६)।

**शम्बः**< √शम् + बन् (उ० सू० ४. १०१), शमयतीति शम्ब आयुधम्[3]। यास्क – – √शमय्, √शातय्[4]। देवराज० – ( १. १०. १४ ) सायण से सहमत हैं।

**शयुत्रा** (क)— √शी ( स्वप्ने ) + उत्र प्रत्यय ( अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ, उ० सू० ४. १७९ ),

(ख)—शयु + त्रै + क प्रत्यय ( आतोऽनुपसर्गे कः, पा० ३. २. ३ )। यह आन्तोदात्त शब्द है[5]। व्युत्पत्ति के अनवधारण से ही शाकल्य ने पदपाठ में अवग्रह नहीं किया। दुर्ग ( निरु० ३. १५ ) ने इसका अर्थ 'शयने' किया है। ग्रासमान – शयु ( < √शी ) से व्युत्पन्न मानते हैं – ( वोबू० १३८१ )।

**शरणि** < √शॄ ( हिंसायाम् ) + अनि प्रत्यय ( औणादिक )[6]। स्कन्द ( पाठभेद के अनुसार ) अनि प्रत्यय ( आक्रोशे नञ्यनिः ( ? ), पा० ३. ३. ११२ ) तथा गुण से व्युत्पन्न मानते हैं[7]।

**शरत्** < √शॄ (हिंसायाम्) + अदि प्रत्यय (शॄदॄभसोऽदिः, उ० सू० १. ११९), शीर्यन्ते अस्याम् ओषधयः इति शरत् संवत्सरः, प्रत्ययस्वर[8]। श० ब्रा० में √शी ( शीङ् ) से निर्वचन किया गया है[9]। डा० मोहम्मद अली[10] ने √शॄ से निर्वचन किया हुआ समझा है, जो सायण के विरुद्ध है। यास्क ने –

---

१. सा० ऋ० शत्रवः १. ५. ४।
२. निरु० २. १६ – इन्द्रशत्रुः इन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा।
३. सा० ऋ० शम्बरस्य १. १०३. ८, द्र० १०. ४२. ७, श्वे० उ० सू० ४. १०१, वोबू० १३८०।
४. निरु० ५. २. ४, शम्ब इति वज्रनाम शमयतेर्वा शातयतेर्वा।
५. सा० ऋ० १. ११७. १२।
६. ,, ,, १. ३१. १६।
७. स्क० ऋ० वहीं।
८. सा० ऋ० शरदः १. ७२. ३, ३. ३२. ९, द्र० मा० धा० पृ० ५२४।
९. श० ब्रा० १. ५. ३. १२ – शरद् वै बर्हिरिति हि – –ताः शरदि बर्हिषो रूपं प्रस्तीर्णाः शेरे तस्माच्छरद् बर्हिः, द्र० सायण वहीं।
१०. एटिमालोजीज् इन द ब्राह्मणाज् ( शोधप्रबन्ध ) पृ० ४१४।

√शॄ[1] ( विशीर्ण, पाप )। ग्रासमान – √शर्, ( वोबू० १३८३ )। सायण की व्युपत्ति व्याकरणसम्मत है।

( तु० IE k̂el 'warm', Lith. šilti, to be worm )

**शरु** < √शॄ ( हिंसायाम् ) + उ प्रत्यय ( शॄस्वृ०, उ० सू० १. १० ), शीयते अनेनेति शरु, 'नित्' की अनुवृत्ति कर आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ )[2]।
( तु० Goth. hairus 'sword' )

**शर्धस्** < √शृध् ( प्रसहने ) + असुन् प्रत्यय, शर्धयत्यनेन शत्रूनिति शर्धो बलम्, आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ )[3]।

**शर्मन्** < √शॄ ( हिंसायाम् ) + मनिन् प्रत्यय (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५), इट्प्रतिषेध (नेड्वशिकृति०, पा० ७. २. ८), शृणाति हिनस्ति दुःखमिति शर्म, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[4]।

**शवस्** < √ शिव ( गतिवृद्ध्योः ) + असुन्, तथा सम्प्रसारण ( श्वेः सम्प्रसारणं च, उ० सू० ४. १९८ ), गुण, अवादेश, आद्युदात्त ( नब्विषयस्यानिसन्तस्य, फि० सू० २६ )[5]। गेल्डनर तथा ग्रासमान – √शू से व्युत्पन्न मानते हैं[6]।
( तु० W. cawr 'gaint' )

**शवीरया** < शवीरा + टा, तृ० ए०, शवीरा < √शु ( गतौ ) + ईरन् प्रत्यय बाहुलक (कृशॄपॄकगिपटिशौटिभ्य ईरन्, उ० सू० ४. ३१), आद्युदात्त (पा० ६.१.१९७), स्त्री० में शवीरा[7]। स्कन्द – शु (क्षिप्रनाम) + √ईर् ( गतौ ) अथवा – शव् से व्युत्पन्न तृतीयान्त रूप मानते हैं[8]।

**शाखा** < √शाख् ( व्याप्तौ ) + अच् प्रत्यय ( नन्दिग्रहि०, पा० ३. १. १३४ ), चित् होने से अन्तोदात्त प्राप्त है, पर वृषादि को आकृतिगण मानकर आद्युदात्त, (वृषादीनां च, पा० ६. १. २०३)[9]। यास्क – √शक्, ख + √शी[10]।

---

१. निरु० ४. २५ – शरदः शतं शरच्छ्ता अस्यामोषधयो भवन्ति शीर्णा। द्र० दुर्ग वहीं, निरु० समु०, मं० ३७ पृ० ३८।
२. सा० ऋ० शरवे – ४. ३. ७, १०. १२५. ६, १८२. ३, द्र० सा० अ० १. २. ३, १९. २, ४. ३०. ५।
३. ,, ,, १. ३७. १, द्र० देव० नि० २. ९. ७।
४. ,, ,, १. ४. ६, २१. ६, द्र० देव० नि० ३. ४. २१।
५. ,, ,, १. ८. ५, द्र० देव० नि० १. १२. ४१।
६. ऋ० ग्ला० पृ० १७८, वोबू० पृ० १३९८।
७. सा० ऋ० १. ३. २, ३०. १७, द्र० वोबू० १३८७।
८. स्क० ऋ० वहीं।
९. सा० ऋ० १. ८. ८, द्र० देव० नि० २. ५. १९।
१०. निरु० १. ४, ६. ३२।

सायण की व्युत्पत्ति व्याकरणसम्मत है। शाकटायन – √शो (तनूकरणे) + ख से निपातित मानते हैं, पर श्वेतवनवासी उपयुक्त नहीं मानते[1]।

( तु० IE Kākh 'branch', Arm. cax 'branch' Lith. saka 'branch' )

**शातवनेय**<शतवनि + ढक् ( इतश्चानिञः, पा० ४. १. १२२ ), अन्तोदात्त (कितः, पा० ६. १. १६५)। शतवनि < शत + √वन् + इन् ( इन्सर्वधातुभ्यः, उ० सू० ४. १२६)[2]।

**शासुः** < √शास् ( अनुशिष्टौ ) + तृन् प्रत्यय (शंसिशसिशासि०, उ० सू० २. ९४), इट् का अभाव, शास्तृ + ङस्; ष० ए०, तकारलोप छान्दस, आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ )[3]।

**शिक्षानरः** < शिक्षा + नर, शिक्षा < √शिक्ष् ( विद्योपादाने ) + अ प्रत्यय (गुरोश्च हलः, पा० ३. ३. १०३), नर के साथ षष्ठी समास, अन्तोदात्त (समासस्य, पा० ६. १. २२३ )[4]। स्कन्द √शिक्ष् को दानकर्मा मानते हैं ऋ० १. ५३. २ )।

**शिताम्** < शिता + अम्, द्वि० ए०; शिता < √शो ( तनूकरणे ) + क्त प्रत्यय, इकारादेश ( शाच्छोरन्यतरस्याम्, पा० ७. ४. ४१ )[5] यास्क – √सि, श्याम < √श्यै, ( तैटीकि के मत में ), शिति + मांस ( गालव के मत में )[6]। स्कन्द – सित<शिता, स का श में तथा त का ता में परिवर्तन एवं पृषोदरादित्वात् मकारोपजन के द्वारा व्युत्पन्न मानते हैं[7]।

**शिम्बाता**<√शि (शिञ्, निशाने) + ब प्रत्यय, मुक् का आगम निपातित, = शिम्ब + √अत् (सातत्यगमने) + घञ् प्रत्यय कर्म में, शिम्बात + औ, विभक्ति को आलादेश ( सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९ ), शिम्बेन दुःखानां तनूकरणेन हेतुना आतं व्याप्तमिति, शिम्बाता = सुखकरौ[8]।

---

१. श्वे० उ० पृ० ५. २५ – शाखा – शाखृ श्लाखृ व्याप्तौ इत्यस्मात् पचाद्यचि रूपसिद्धः। स्वरेऽपि नास्ति विशेषः। य एव प्रत्ययस्वरः स एव 'चितः' इत्यनेनेति।

२. सा० ऋ० १. ५९. ७।

३. ,, ,, १. ६०. २, ७३. १, ०इव – १. ११६. १३।

४. ,, ,, १. ५३. २।

५. ,, ,, १. ५४. ४।

६. निरु० ४. ३. शितामेति – शाकपूर्णिर्विषितो भवति श्यामतो यकृत्त इति तैटीकिः श्यामं श्यायतेर्यकृद् यथा कथा च कृत्यते शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः'।

७. स्क० निरु० वहीं।

८. सा० ऋ० १०. १०६. ५, द्र० देव० नि० २. १. २४।

**शिम्यु**<√शम् (उपशमे) + युन् प्रत्यय (औणादिक), वर्ण व्यापत्ति से अकार को इकार, शम्यति सर्वं तिरस्करोति इति राक्षसादिः शिम्युः[१]।

**शिश्ना** < √ष्णा (शौचे) + क प्रत्यय (घञर्थे कविधानम्, स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्, वा० पा० ३. ३. ५८), वर्णव्यापत्ति से सकार के स्थान पर शकार, द्वित्व (क्रञादीनां के द्वे भवत इति वक्तव्यम्, वा० पा० ६. १. १२), अभ्यास को इत्व ( बहुलं छन्दसि, पा० ७. ४. ७८ )[२]। यास्क – √श्नथ् से निर्वचन करते हैं, पर स्कन्द √स्तु अथवा √स्ना से व्युत्पन्न करना उचित मानते हैं[३]।

**शीर** < √शी (स्वप्ने) + रक् प्रत्यय ( स्फायितञ्चि, उ० सू० २. १३ ), कित् होने से गुण का अभाव, प्रत्ययस्वर[४]। यास्क – √शी, √अश्[५]।

**शीर्षन्** < शिरस् का छान्दसरूप ( शीर्षंश्छन्दसि, पा० ६. १. ६० ), अन्तोदात्त, निपातित है[६]।

**शुक्र** < √शुच् ( दीप्तौ ) + रन् प्रत्यय (ऋजेन्द्रा०, उ० सू० २. ३१), निपातन से अन्तोदात्त, शुच्यते दीप्यते इति शुक्रम्[७]। यास्क – √शुच् (ज्वलतिकर्मा) से निर्वचन करते हैं[८]। वररुचि 'मधुर' जैसे √ शुच् ( दीप्तिकर्मा ) + र प्रत्यय मत्वर्थीय, व्युत्पत्ति देते हैं—शुक् दीप्तिः सा यस्यास्तीति[९]।

(तु० √ शुच् IĚ. Kug 'to shine' Gr. Kiknos 'swan')

**शुचन्तिम्** < √शुच् ( दीप्तौ ) + झिच् प्रत्यय ( औणादिक ), झ् को अन्तादेश (झोऽन्तः, पा० ७. १. ३)[१०]।

**शुतुद्री** — सायण के अनुसार यह छान्दसरूप है[११]। यास्क ने शु + √द्रु, आशु +

---

१. सा० ऋ० शिम्यून् – १. १००. १८।

२. ,, ,, १. १०५. ८, १०. २७. १९, द्र० स्क० तथा उद्० १०. ३३. ३।

३. निरु० ४ १९ – शिश्नं श्नथतेः, द्र० स्क० नि० ४. ६।

४. सा० ऋ० ३. ९. ८, द्र० देव० नि० ४. १. १७।

५. निरु० ४. १४ – शीरम् – अनुशायिनमिति वाशिनमिति वा।

६. सा० ऋ० शीर्ष्णा – १. ११६. १२।

७. ,, ,, शुक्रा – ३. ८. ९, द्र० देव० नि० १. १२. ९५।

८. निरु० ८. ११. द्र० वेङ् ऋ० २. ३३. ९, ४. १. ७।

९. निरु० समु०, मं० ३७ पृ० ३८।

१०. सा० ऋ० १. ११२. ७।

११. ,, ,, ३. ३३. १।

√तुद् + √द्रु से निर्वचन किया है[१]। सम्भवतः इसका सम्बन्ध शत + √द्रु ( सैकड़ों धाराओं में बहनेवाली ) से हो[२]।

**शुन्ध्युवः** < √शुन्ध् ( विशुद्धौ ) + यु प्रत्यय ( यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युः, उ० सू० ३. २० ), शुन्धत इति शुन्ध्युः, शुन्ध्यु + शस्, द्वि० ब०, उवङादेश, (तन्वादीनां छन्दसि बहुलमुपसंख्यानम्, वा० पा० ६. ४. ७७)[३]। यास्क – √शुध् (√शोधम्) से निर्वचन करते हैं[४]।

( तु० IE. K̂u – dh 'to brighten' Gr. katha – rós, 'pure' )

**शुप्ति** < √शुभ् ( दीप्तौ ) + क्तिन् प्रत्यय कर्म में, इट्प्रतिषेध ( तितुत्र०, पा० ७. २. ९ ), छान्दस धत्व (झषस्तथोर्धोऽधः, पा० ८. ४. २० ) का अभाव, चर्त्व (खरि च, पा० ८. ४. ५५)[५]।

**शुभ्र** < √शुभ् ( दीप्तौ ) + रक् प्रत्यय (स्फायितञ्चि०, उ० सू० २. १३), कित् होने से गुण का अभाव, प्रत्ययस्वर[६]।

**शुभ्रि** < √शुभ् + क्रिन् प्रत्यय (अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्, उ० सू० ४. ६७), शोभत इति शुभ्रिः, व्यत्यय से अन्तोदात्त[७]।

**शुरुधः** < शुच् + √रुध् + क्विप्, पृषोदरादित्वात्, पूर्वपद का अन्त्यलोप, शुचं रुन्धन्ति इति शुरुधः[८]। सायण की व्युत्पत्ति यास्क पर आधारित है[९]। पाश्चात्य विद्वान् √शृध् से व्युत्पन्न मानते हैं[१०]।

**शूर** < √शु ( गतौ ) + क्रन् ( शुषिचिमीनां दीर्घश्च, उ० सू० २. २८ ), शवतीति शूरः, कित् होने से गुण का अभाव, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[११]। ऋ० सं० में √शु से ही व्युत्पत्ति संकेतित है[१२]।

---

१. निरु० ९. २६, द्र० स्क० वहीं।
२. वैदिक कोश, पृ० ५२०।
३. सा० ऋ० १. ५०. ९।
४. निरु० ४. १६।
५. सा० ऋ० शुप्तौ – १. ५१. ५।
६. ,, ,, १. १९. ५, ५७. ३, ८५. ३, द्र० निरु० ९. ३९, १२. ४३।
७. ,, ,, शुभ्रिषु – १. २९. १, द्र० वोबू० १४०७।
८. ,, ,, १, ७२. ७, ३. ३८. ५।
९. निरु० ६. १६ – 'शुरुध आपो भवन्ति शुचं सरून्धन्ति'।
१०. एडि० यास्क पृ० १७४।
११. सा० ऋ० १. ७०. ६, द्र० १. ८. ४, ०साता १. ३१. ६।
१२. ऋ० सं० १. ६४. ९, २. ११. १८, ६. १९. ६, ६८. २, द्र० निरु०, ४.१३।

( तु० IE. Kǔ – , Av. sūra, 'strong', Gr. kūpos 'power' )

**शेवम्** < √शी ( स्वप्ने ) + वन् प्रत्यय ( इण्शीङ्भ्यां वन्, उ० सू० १. १३८ ), नित्स्वर[1]। यास्क – √शिष्[2]। देवराज० – दोनों ही धातुओं से व्युत्पन्न मानते हैं[3]।

**शोचिस्**< √शुच् ( दीप्तौ ) + इसि प्रत्यय ( अर्चिशुचिहुसृपिच्छदिछादिभ्य इसिः, उ० सू० २. १०९ ), अन्तोदात्त[4]। अन्यत्र ( अ० सं० २. १९. ४ ) सायण ने √शुच् ( शोके ) से व्युत्पन्न किया है।

**श्येनः**< √श्यै ( श्यैङ्, गतौ ) + इनच् प्रत्यय ( श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् उ० सू० २. ४८, श्यायते इति श्येनः, अन्तोदात्त ( चितः, पा० ६. १. १६३ )[5]। यास्क ने शंस + √इ से निर्वचन किया है[6]।

**श्रद्धे** < श्रत् + √धा ( धारणपोषणयोः ) + विच् प्रत्यय, श्रद्धा + ङे, च० ए०, आकारलोप ( आतो धातोः, पा० ६. ४. १४० ), उदात्तनिवृत्तिस्वर से विभक्ति को उदात्त[7]।

( तु० K̂red + dhē 'to put in heart', Lat. crēdere ( > Romanse – word), Av. zrazdā )

**श्रवस्**< √श्रु ( श्रवणे ) + असुन् प्रत्यय, श्रूयते इति श्रवो धनम्, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७)[8]।

( तु० Lat. cluor, Lit. šlove, Lett. slava, Ch. sl. slava. Av. sravah – 'word' )

**श्रवाय्य** < √ श्रु + आय्य प्रत्यय ( श्रुदक्षिस्पृहिभ्य आय्यः, उ० सू० ३. ९० ), शृणोतीति श्रवाय्यः यशः[9]।

---

१. सा० ऋ० ३. ७. ५।
२. निरु० १०. १७ – 'शेव इति सुखनाम शिष्यतेर्वकारो नामकरणः।'
३. देव० नि० ३. ६. १७।
४. सा० ऋ० १. १४३. २।
५. ,, ,, ३. ४३. ७।
६. निरु० २. २४।
७. सा० ऋ० १. १०२. २, द्र० निरु० ९. ३०, देव० नि० ५. ३. २५।
८. ,, ,, १. ९. ७, ४०. ४, द्र० श्रवस्यवः १. ४८. ३, निरु० १०. ३, देव० नि० २. ७. ४, ऋ० ग्ला० १८२, बोबू० १४२०।
९. ,, ,, १. २७. ८, १०. १०२. १।

**श्रुष्टी** < श्रु = ( आशु ) + √ अश् ( व्याप्तौ ) + क्तिन्, पृषोदरादि[1] । सायण की व्युत्पत्ति यास्क पर आधारित है[2] । वस्तुतः यह √ श्रुष् ( √ श्रु का दूसरा रूप ) से व्युत्पन्न है[3] ।

**श्लोक** < श्लोक् ( संघाते, स्तुत्यर्थ ) + घञ् प्रत्यय कर्म में, श्लोक्यत इति श्लोकः, आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ )[4] । ऋ० सं० में √ श्रु से व्युपत्ति संकेतित प्रतीत होती है[5] । यास्क भी इसी से निर्वचन करते हैं[6] । देवराज० दोनों से ही व्युत्पन्न मानते हैं[7] । पाणिनि ने 'श्लोक' का प्रयोग धातु के रूप में करने का विधान किया है, पर व्युत्पत्ति की अभीष्टि अविदित है[8] । ग्रासमान – √ श्रु, (वोबू० १४३२ ) ।

( तु० √ श्रु – IE. klu 'to hear', Av. surunasiti, he hears )

**श्वित्न्येभिः** < √ श्विता ( वर्णे ) + नक् प्रत्यय ( औणादिक ) श्वित्न + य प्रत्यय ( छन्दसि च, पा० ५. १. ६७ ), श्वित्नं शुक्लवर्णमर्हन्तीति श्वित्न्याः । श्वित्न्य + भिस्, तृ० ब०, छान्दस ऐस् आदेश का अभाव ( बहुलं छन्दसि, पा० ७. १. १० )[9] ।

**श्वैत्रेयः** < श्वित्रा + ढक् (स्त्रीभ्यो ढक्, पा० ४. १. १२०), श्वित्राया अपत्यम्[10] । स्कन्द ने श्वित्रा < शु + √ इ ( गतौ ) से व्युत्पत्ति दी है[11] ।

## ष

**षोळहा** < षष् + धा ( संख्याया विधार्थे धा, पा० ५. ३. ४२ ), उत्व तथा ष्टुत्व (षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेः; ष्टुत्वं च, वा० पा० ६. ३. १०९ ),

---

१. सा० ऋ० ०मन्तम् १. ९३. १२ ।
२. निरु० ६. १२ – श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति, द्र० देव० नि० ४. ३. ५० ।
३. सा० ऋ० श्रुष्टीवानः १. ४५. ३, ऋ० ग्ला० १८३, वोबू० १४३०, एटि० यास्क १२४ ।
४. ,, ,, १. ५१. १२, ६२. १७, ३. ५३. १० ।
५. ऋ० सं० ५. ८२. ६ ।
६. निरु० ९. ६, श्लोकः शृणोतेः ।
७. देव० नि० १. ११. १ ।
८. "सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेना०" पा० सू० ३. १. २५ ।
९. सा० ऋ० १. १००. १८ ।
१०. ,, ,, १. ३३. १४ ।
११. स्क० ऋ० वहीं ।

प्रत्ययस्वर[1]। दो स्वरों के बीच में आने वाला ढ का उच्चारण 'ळ्ह' होता है[2]। यास्क – ने षष् < √ सह् ( अभिभवे ) से निर्वचन किया है[3]।

## स

**संग** < सम् + √ गम् + ड प्रत्यय ( डोऽन्यत्रापि दृश्यते, पा० ३. २. ४८)[4]।

**संगथ** < सम् + √ गम् + थक् प्रत्यय बाहुलक (पातॄतुदिवचि०, उ० सू० २. ६), उत्तरपदान्तोदात्त ( थाथघञ्०, पा० ६. २. १४४ )[5]।

**संमिश्लः** < सम् + √ मिश्र् + घञ् (मिश्रतेर्घञ्, पा० ३. ३. १८), मिश्रणं मिश्रः, सम्यक् मिश्रो यस्यासौ संमिश्रः ( = सम्यक् मिश्रयिता ) छान्दस लत्व ( अथवा कपिलकादित्वात् ), बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर[6]।

**संविव्यान** < (क)—सम् + √ व्ये ( व्येञ्, संवरणे ) + कानच्।

(ख)—सम् + √ वी (गत्यादिषु ) + कानच्[7]।

**संस्तिरः** < सम् + √ स्तृ ( स्तृञ्, आच्छादने ) + क प्रत्यय ( मूलविभुजादित्वात्, द्र० पा० ३. २. ५. ) उत्तरपदाद्युदात्त ( परादिश्छन्दसि बहुलम्, पा० ६. २. १९९), संस्तिरः, प्र० ए०[8]। ग्रासमान – √ स्तिर ( विष्टिर ) (बोबू० १४३९ )।

**संस्थे** < सम् + √ स्था + 'क' प्रत्यय ( आतश्चोपसर्गे, पा० ३. १. १३६), सम्यक् तिष्ठतीति संस्थो रथः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[9]।

**सक्म्यम्** < सच् ( समवाये ) + मक् प्रत्यय तथा चकारात् कुत्व (युजिरुचितिजां कुश्च, उ० सू० १, १३२), सचनं सक्मः, सक्म + यत् (भवे छन्दसि, पा० ४. ४. ११० ), आद्युदात्त ( यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३ )[10]।

---

१. सा० ऋ० ३. ५५. १८।
२. ऋ० प्रा० १. ५२।
३. निरु० ४. २७।
४. सा० ऋ० १०. १३३. १. द्र० देव० नि० २. १७. १८।
५. ,, ,, १. ६१. १६, देव० नि० २. १७. ३०।
६. ,, ,, १. ७. २, ६४. १०।
७. ,, ,, १. ३०. ४. ५. २९. ४।
८. ,, ,, १. १४०. ७।
९. ,, ,, १. ५. ४, द्र० ऋ० ग्ला० १८५, बोबू० १४३९।
१०. ,, ,, ३. ३८. ७।

**सखा** < सखि, प्र० ए० । सखि < समान + √ ख्या ( प्रकथने ) + इण् प्रत्यय तथा यलोप (समाने ख्यस्स चोदात्तः, उ० सू० ४. १४६ ) डित् होने से टिलोप, समान को उदात्त 'स' भाव (समानस्यच्छदसि, पा० ६. ३. ८४)[१] । श्वेतनवासी 'सक्तुमिव तितउना' ( पा० म० १ ) के आधार पर समान को सभाव मानते हैं[२] । ग्रासमान – √ख्या ( < खि ), (बोबू० १४४१) ।

**सजोषस्** < समान + √ जुस् ( प्रीतिसेवनयोः ) + असुन् समानं जुषन्त इति सजोषसः, उपपदसमास, समान को सभाव ( पा० ६. ३. ८४ ) कृदुत्तरपद-प्रकृतिस्वर[३] ।

**सतीनसत्वा** < सतीन + सत्वन्, सतीन < √ सद् (विशरणगत्यवसादनेषु) + ईन प्रत्यय ( औणादिक ) तथा तकार अन्तादेश, मेघेषु निषीदयतीति सतीनं वृष्ट्युदकम् । अथवा – सती ( माध्यमिका वाक् ) इना ( ईश्वरा ) यस्य तत्, व्यत्यय से पुंवद्भाव का अभाव । सत्वन < √ सद् ( विशरणगत्य०) + क्वनिप् तथा तुट् का आगम (प्र ईरिसद्योस्तुट् च, उ० सू० ४. १२५, दश० ६. ७२), पूर्व-पदान्तोदात्त (मरुद्वृधादित्वात् )[४] । स्कन्द ने सती से सतीन को व्युत्पन्न माना है तथा सती की व्युत्पत्ति षणु दाने से दी है[५] ।

**सत्यः** < सत् + यत्, सत्सु साधुः सत्यः । सायण के अनुसार हरदत्त के मत में निपातन ( सत्यादे शपथे, पा० ५. ४. ६६ ) से अन्तोदात्त व्युत्पन्न होता[६] । यास्क – √ अस् (भुवि) + √ इ, सत् + √ तन्[७] । देवराज० ( १. १२. ७२ ) साधु तथा अर्ह अर्थ में यत् प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न मानते हैं । गेल्डनर तथा ग्रासमान – सत् ( < √ अस् ) से व्युत्पन्न मानते हैं[८] ।

**सदस्** < √ सद् (विशरण०) + असुन्, सीदन्त्यस्मिन्निति सदः, आद्युदात्त ञ्नित्यादि-र्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)[९]

---

१. सा० ऋ० १. ४०. १०, ३. ३९. ५, द्र० सखिभ्यः १. ४. ४ ।

२. उ० सू० वृ० ४. १४६ पृ० १७७ ।

३. सा० ऋ० सजोषस : – १. ४३. ३, सजोषाः--१. ६५. १, ११८. ११ द्र० स्क० ऋ० ६. ६८. १, सा० अ० ४. १४. ५, ७. १८. ३, निरु० ८. ८, निरु० समु० मं० २८, पृ० २६ ।

४. सा० ऋ० १. १००. १, द्र० सत्वान : १. ६४. २, सत्वभिः ३. ३९. ५, देव० नि० १. १२. ५८ ।

५. स्क० ऋ० १. १००.१, तथा १. ६८.२ ।

६. सा० ऋ० १. १. ५, द्र० वे० भा० सा० पृ० १२ ।

७. निरु० १. १३ ।

८. ऋ० ग्ला० १८७, बोबू० १४५१ ।

९. सा० ऋ० सदस : १. १८. ६, २. १७, ७, सदसि १.४७. १० ।

**सद्मन्** < (क)— √ सद् ( विशरण० ) + मनिन् ( अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५ ), सीदन्त्यस्मिन्निति सद्म, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७ )।

(ख) सद् + मनिन् ( औ०, सू० ४. १४० )[1]।

**सधमाद्**< सह + √मद् ( तृप्तियोगे ) + णिच् + क्विप् (क्विप् च, पा० ३. २. ७६), सह मादयन्ते तृप्ता भवन्तीति सधमादः[2]।

**सधमाद**< सह + √मद् + अच् ( पचादि ) अथवा अधिकरण में घञ् प्रत्यय, सह मादयतीति सधमादः, सह माद्यन्त्येष्विति सधमादा यज्ञाः, सह को सधादेश ( सधमादस्थयोश्छन्दसि, पा० ६. ३. ९६ ), उत्तरपद का आदि उदात्त ( परादिश्छन्दसि बहुलम्, पा० ६. २. १९९ )[3]।

**सधस्थ** < सह + √स्था ( गतिनिवृत्तौ ) + 'क' प्रत्यय अधिकरण में ( घञर्थे कविधानम्, स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्, वा० पा० ३. ३. ५८, अथवा आतोऽनुपसर्गे कः, पा० ३. २. ३, सुपिस्थः, पा० ३. २. ४ ), आकारलोप (आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४), सह को सधादेश (पा० ६. ३. ९६), सह तिष्ठन्त्यत्र इति सधस्थम् ( सहस्थानम् ), अन्तोदात्त ( अद्रिसध्र्योरन्तोदात्तत्वनिपातनं कृत्स्वरनिवृत्त्यर्थम्, वा० पा० ६. ३. ९२ में सध्रि सध का भी उपलक्षण है अथवा पूर्वान्तस्यापि दृश्यते, वा० पा० ६. २. १९९ के सहयोग से "थाथघञ्" ०, पा० ६. २. १४४ )[4]।

( तु० √स्था – Gr. i – stanai, Lat. stare, Lith. stoti, sl. stāti, Germ. stan, stehen, Eng. Stand )

**सनक** < सन + √का ( < √कै ) + क प्रत्यय (आतोऽनुपसर्गे कः, पा० ३. २. ३), आकारलोप ( आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४ ), सनान् कायन्ति शब्दायन्तीति सनकाः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[5]।

**सनरस्य** < √सन् ( संभक्तौ ) + अरन् प्रत्यय निपातन से ( कृदरादयश्च, उ० सू० ५. ४३ )[6]।

---

१. सा० ऋ० १. ३८. १०, द्र० बर्हिषः, १. ५२. ४, ०मखसम् १. १८. ९, देव. नि० १. १२. ६६, वोबू० १४६२।

२. ,, ,, ०मादः – १. १२१. १५, ३. ४३. ६, द्र० स्क० ऋ० ६. ३७. १, निरु० ७, ३०।

३. ,, ,, ०मादे १. ३०. १३, ३. ३५. ४, ०मादेषु १. ५१. ८।

४. ,, ,, ०थात् १. ११५. ४, ०थानि १. १२. ८, ०स्थे – ३. ५१. ९, द्र० सा० अ० २. २. १, ३. ४. ६, ७. १०२. ३।

५. ,, ,, १. ३३. ४, द्र० वोबू० १४६८।

६. ,, ,, १. ९६. ८।

**सनेरु**< √सन् ( संभक्तौ ) + एरु प्रत्यय ( औणादिक )[१]।

**सन्यसे** < (क)—( सनि ) + √अस् ( क्षेपणे ) + क्विप् भाव में।

(ख)— √सन् + क्विप् + √यस् ( प्रयत्ने ) + क्विप्, सनः संभजनस्य यसे यत्नाय, संभजनार्थमित्यर्थः[२]।

**सपित्वम्**<(क)—स + √आप् ( व्याप्तौ ) + त्वन् ( कृत्यार्थे तवैकेन्०, पा० ३. ४. १४ ), धातु को 'पि' भाव ( पृषोदरादि )।

(ख)— √सप् ( समवाये ) + इन् प्रत्यय ( इन्सर्वधातुभ्यः ) + त्व ( तस्य भावस्त्वतलौ, पा० ५. १. ११९ ), सपेर्भावः सपित्वम्[३]।

**सप्तन्** < √सृप् ( गतौ ) + कनिन् प्रत्यय तुट् का बाहुलक आगम तथा ऋकार को अकार (सप्यशूभ्यां तुट् च, उ० सू० १. १४३) व्यत्यय से अन्तोदात्त[४]। सायण की व्युत्पत्ति यास्क पर आधारित है[५]। वैयाकरण √षप् (समवाये) से व्युत्पन्न मानते हैं[६]।

**सप्तिमिव** < √सप् ( समवाये ) + तिप् बाहुलक ( वसेस्तिप्, उ० सू० ४. १८६, वितसिवसिसपिपदिभ्यस्तिप्, सरस्व० २. १. १८४ ), समेवैति रथेनैकीभवतीति सप्तिरश्वः, प्रत्यय अनुदात्त (अनुदात्तौ सुप्पितौ, पा० ३.१.४), इव के साथ समास, विभक्त्यलोप[७]। देवराज० √सृप् ( गतौ ) तथा माधव √सप् ( स्पर्शने ) से व्युत्पन्न मानते हैं[८]।

**सबर्दुघे** < सबर् + √दुह् ( प्रपूरणे ) + 'कप्' प्रत्यय तथा 'घ' अन्तादेश ( दुहः कब्घश्च, पा० ३. २. ७० ), अनुदात्त (पा० ३. १. ४ ), सबः पयः दोग्धीति सबर्दुघा, सबर्दुघे, स्त्री० प्र० द्वि०, समास में कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर। सायण के अनुसार सम्प्रदायविदों के मत में 'सबः' शब्द क्षीरवाची है[९]।

---

१. सा० ऋ० १०. १०६. ८, द्र० बोबू० १४७१ ( जैसे – मदेरु < √मद् )।

२. „ „ ३. ३१. १९, ८. २४. २६।

३. „ „ १. १०६. ७।

४. „ „ ३. ७. १।

५. निरु० ४. २६, द्र० देव० नि० १. ५. १३।

६. श्वे० उ० सू० १. १४३, दश० ६. ५३, उ० को० १. १५६, सरस्व० ( सपिः सौत्रधातुः ) २. १. २७६, उ० म० दी० १. १४९, तथा सा० ऋ० सप्तिमिव – १. ६१. ५।

७. सा० ऋ० १. ६१. ५।

८. देव नि० १. १४. ५।

९. सा० ऋ० ०दुघाम् १. २०. ३, ०दुघे ३. ५५. १२।

**समद्**< (क)—सम् + √अद् ( भक्षणे ) + क्विप्, सम्यगत्ति भक्षयति वीरानिति समत् ।

(ख)—समान + √मद् ( हर्षे ) + क्विप् अधिकरण में ( औणादिक ), समान को सभाव ( समानस्यच्छन्दसि०, पा० ६. ३. ८४ ), समानं माद्यन्त्येष्विति समदः संग्रामाः, कृदुत्तरपदस्वर[1] । सायण सम्भवतः यास्क से प्रभावित हैं[2] । स्कन्द इसे क्रियाशब्द मानते हैं, संग्रामनाम नहीं । इनके अनुसार यह √अद् ( भक्षणे ) का रूप है[3] ।

( तु० IE. sem – bythe suffix – ed तु० Gr. hómados 'a mob of warriors' formed by the formative – ed. )[4] ।

**समना** < √सम् ( समष्टम अवैक्लव्ये ) + युच् प्रत्यय ( अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. ३. १३०), समन + ङि, (स० ए०), विभक्ति को आकार (सुपां सुलुक्० पा० ७. १. ३९ ), समन्ति धृष्टा भवन्ति योद्धारोऽत्रेति[5] । अन्यत्र ( अ० सं० २. ३६. १ ) सायण ने समान + मनस्, छान्दस सलोप अथवा समान + √मन् + अच् – व्युत्पत्ति दी है । स्कन्द – सम् + √मन् ( ज्ञाने ), सम् + √अन् (प्राणने)[6] । अवग्रह के अभाव होने से इसकी अनवधारणता सिद्ध होती है । यास्क – स + मनन, सम् + मानन[7] । स्कन्द – माहेश्वर – सम् + √अन्, सम् + √मन् ( मनोतेः )[8] ।

**समह**<(क)—सह + मघ ( धनवाची ), मघेन सह वर्तत इति समघः, छान्दसवर्णविकार ।

(ख)—सह + √मह् ( पूजायाम् ) + अच् ( पचादि ), महयति पूजयतीति महो धनम्[9] ।

**समिथ** < सम् + √इ (इण्, गतौ) + थक् (समीणः, उ० सू०, २. ११). कित् होने से गुण का अभाव, उत्तरपदान्तोदात्त ( थाथघ०, पा० ६. २. १४४ ) । यह युद्ध नाम है[10] ।

---

१. सा० ऋ० समत्सु – १. ५. ४, ६६. ३, ३. ३०. २२, १०. १३३. १ ।
२. निरु० ९. १७. – समदो वात्तः सम्मदो वा ।
३. स्क० ऋ० १. ५. ४ ।
४. एटि० यास्क पृ० ९३ ।
५. सा० ऋ० ९. ९६. ९, द्र० समनेव १. १०३. १, द्र० देव० नि० २. १७. १६ ।
६. स्क० ऋ० १. ४८. ६ ।
७. निरु० ७. १७ – समननाद्वा संमाननाद्वा ।
८. स्क० निरु० वहीं ।
९. सा० ऋ० १. १२०. ११ ।
१०. ,, ,, समिथानि १. ५५. ५, समिथे ३. ५४. ४, समिथा ९. ९४. ४, द्र० देव० नि० २. १७. २६, वोब्रू० १४८२ ।

**समिधम्** <सम् + √इन्ध् ( दीप्तौ ) + क्विप् (संपदादि), उपधालोप[1] ।

**समुद्र** < (क)—सम् + √उन्द् (क्लेदने) + रक् प्रत्यय (स्फायित०, उ० सू० २.१३), कित् होने से नलोप ( अनिदिताम्०, पा० ६. ४. २४ ), समास में कृदुत्तरपदस्वर ।

(ख)—सम् + उत् + √द्रु ( गतौ ) + ड प्रत्यय ( अन्येभ्योऽपि दृश्यते, पा० ३. २. १०१ )[2] । सायण ने अन्यत्र ( अ० सं० २. २. ३ ) √मुद् ( हर्षे ) से व्युत्पत्ति दी है । ब्राह्मणों में सम् + √द्रु से निर्वचन मिलता है[3] । यास्क - सम् + उद् + √द्रु, सम् + अभि + √द्रु, सम् + √उन्द्, सम् + √मुद्, सम् + उद ( जल )[4] ।

वैयाकरण सम् + √उन्द् (क्लेदने) से व्युत्पन्न मानते हैं[5] । सायण की पहली व्युत्पत्ति व्याकरणसम्मत है, शेष यास्क पर आधृत ।

( तु० उद्र IE. ud – 'to wet', Gr. húdōr 'water' O Pers. unds 'water' )

**सरट्**< √सृ ( गतौ ) + अटि प्रत्यय (सर्तेरटिः, उ० सू० १. १२४), सरतीति सरट् मेघः[6] ।

**सरण्युभिः** < (क)—सरण + क्यच् + उ, अन्त्यलोप छान्दस, सरणमात्मानमिच्छन्तः सरण्यवः - सरण < समान + √ रण ( शब्दार्थ ) + क्विप्, समानो रणो ध्वनिर्येषां ते सरणा मन्त्राः ।

(ख)— √ सृ ( गतौ ) + अन्युच् प्रत्यय (सृयुवचिभ्योऽन्युजागूजक्नुचः, उ० सू० ३. ७७, दश० १०. ४ ) णत्व (रषाभ्यां नो णः समानपदे, पा० ८. ४. १ ), अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[7] । ऋ० सं०

---

१. सा० ऋ० १. ९४. ३. द्र० समिधा ३. १०. ३., श० ब्रा० १. ५. ४. १, ६ २. ३. ४४, ऐ० ब्रा० २. ४, तु० तै० ब्रा० २. १. ३. ८, वोबू० १४८२ ।

२. ,, ,, १. १९. ८, ११०. १, १५९. ४, ३. ३६. ७, द्र० सा० अ० १. ३. ८, १३. ३ ।

३. जै० उप० ब्रा० १. २५. ४ – 'य एवायं पवत एष एव स समुद्रः एवं हि संद्रवन्तं सर्वाणि भूतानि अनुसंद्रवन्ति' । गो० ब्रा० १. १. ७ – 'तद् यदापः समुद्रवन्त तस्मात् समुद्र उच्यते' ।

४. निरु० २. १०-११, द्र० देव० नि० १. ३. १५ ।

५. श्वे० उ० सू० २. १३ दश० ८. ३१, सरस्व० २. ३. २१ ।

६. सा० ऋ० व्या० १. ११२. २१ ।

७. ,, ,, १ ६२. ४, ३. ३२. ५ ।

में √सृ से व्युत्पत्ति संकेतित है[1]। यास्क, देवराज० तथा वैयाकरणों का भी यही अभिमत है[2]।

( तु० IE ser – 'to flow', Lett. Sirt 'to swarm about' )

**सरमा** < √ सृ ( गतौ ) + अमच् प्रत्यय (औ०, प्रथिचरिकलिकर्दिपृसृभ्योऽमच्, सरस्व० २. २. २४८ ), सरतीति सरमा, प्रत्ययस्वर[3]। सायण की व्युत्पत्ति यास्क तथा वैयाकरणों से पुष्ट है[4]।

**सरस्वती** < √ सृ + असुन + मतुप् + ङीप् ( उगितश्च, पा० ६. ३. ४५ ), मतुप् – ङीप् दोनों अनुदात्त ( अनुदात्तौ सुप्पितौ, पा० ३. १. ४ ), सरस् आद्युदात्त, (पा० ६. १. १९७)[5]। सायण की व्युत्पति यास्क से भी पुष्ट है[6]।

( तु० IE. ser 'to stream', Lett. sirt 'to sworm about' )

**सर्वताता** < सर्वताति + ङि, स० ए०, विभक्ति को डादेश ( सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९ )[7]। सायण ने अन्यत्र ( अ० सं० १. १०६. ४, ६. ५६. ६), ताति की व्युत्पत्ति √ तन् से दी है। यास्क – सर्व + √ तन्[8]।

**सललूकम्** < √ सृ ( गतौ ), छान्दस रूप[9]। यास्क – सम् + √ लुभ्, √ सृ ( अभ्यासकर ) > सररूक > सललूक[10]। ग्रासमान – √ सल् ( = सर्, √ सृ ) जैसे जागरूक, पर्फरीक ) ( वोबू० १४९१ )।

**सलिलम्** < √ सल् ( गतौ, श्वे० कान्तौ ) + इलच् प्रत्यय (सलिकल्यनिमहिभडिभण्डिशण्डिपिण्डितुण्डिकुकिभूभ्य इलच्, उ० सू० १. ५३), सलतीति सलिलम् – पानीयम्[11]।

---

१. ऋ० सं० ३. २२. ५, १०. ६१. २३।
२. निरु० १२. ९ – सरण्यू सरणात्, द्र० देव० नि० ५. ६. ५, दश० १०. ४, उ० को० ३. ८१।
३. सा० ऋ० १. ६२. ३, ३. ३१. ६।
४. निरु० ११. २४ – सरमा सरणात्, द्र० देव० नि० ५. ५. १७, सरस्व० २. २. २४८।
५. सा० ऋ० १. ३. १०, १३. ९, ३. २३. ४, द्र० वोब० १४८७।
६. निरु० ९. २६, द्र० देव० नि० १. ११. २२।
७. सा० ऋ० १. ९४. १५, ३. ५४. ११, द्र० स्क० ऋ० १. ९४. १५।
८. निरु० ११. २४।
९. सा० ऋ० ३. ३०. १७।
१०. निरु० ६. ३, द्र० देव० नि० ४, ३. ६।
११. सा० ऋ० १०. १२९. ३।

**सवितृ** < √ सु ( प्रेरणे ) + तृच्, इडागम ( आर्धधातुकस्येड्वलादेः, पा० ७. २. ३५), अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[१] । सायण की व्युत्पत्ति ब्राह्मण एवं निरुक्त से पुष्ट है[२] । अहिर्बुध्न्यसंहिता में इसे – √ षु ( प्रेरणे ) + √ अव् ( गति – कान्ति ) + √ तृ ( दानकर्मा ) – तीन धातुओं से व्युत्पन्न बताया गया है[३] । शौनक √ षु से ही निर्वचन करते हैं[४] ।

( तु० IE. seu 'to set in motion,, Av. hav – to set in motion )

**सस्नि** < (क)— √ स्ना ( शौचे ) + किन् प्रत्यय ( आदृगमहन०, पा० ३. २. १७१ ), द्वित्व, आकारलोप ( आतो लोप इटि च, पा० ६. ४. ६४ ) ।
(ख)— √ सस् ( षस् स्वप्ने ) + निन् प्रत्यय (औणादिक), आद्युदात्त[५] । यास्क – √ स्ना[६] । ग्रासमान – √ सन्, ( वोबू० १४६५ ) ।

**सस्मिन्** < ( = तस्मिन् ) विधीयमान सत्व, ( तदोः सः साव० पा० ७. २. १०६ ) व्यत्यय से सप्तमी में, अथवा सर्वस्मिन् से वर्णलोप द्वारा व्युत्पन्न है[७] । स्कन्द के अनुसार सर्व शब्द से एकाक्षरलोप द्वारा व्युत्पन्न है, अथवा पर्यायान्तर है[८] ।

**सहुरिः** < √ सह् ( मर्षणे ) + उरिन् प्रत्यय ( जसिसहोरुरिन्, उ० सू० २. ७४), सहत इति सहुरिः[९] ।

**साति** < (क)— √ सन् ( संभक्तौ – दाने ) + क्तिन् प्रत्यय तथा उदात्त निपातन से ( ऊतियूतिजूति०, पा० ३. ३. ९७ ), नकार को आत्व ( जनसनखनां सञ्झलोः, पा० ६. ४. ४२), इट्प्रतिषेध (तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च, पा० ७. २. ९ ) ।

---

१. सा० ऋ० सवितारम् – १. २२. ५, ३. २०. ५ ।
२. श० ब्रा० १. १. २. १७ 'सविता वै देवानां प्रसविता', निरु० १०. ३१, सर्वस्य प्रसविता, द्र० देव० नि० ५. ४. २० ।
३. अहि० ५७ । ६-७ प्रसौति सकलाश्चेष्टाः प्रसूते सकलं जगत् ।
अवतेर्गतिकान्त्यर्थात् तरतेर्दानकर्मणः ॥
गतो ह्यवति सर्वत्र षड्भिः कान्तो गुणैः परः ।
भोगापवर्गयोर्दाता सवितेति निरुच्यते ॥
४. बृ० दे० २. ६१-६२ संवर्तयंस्तमः सूर्याद् उषसं च प्रवर्तयन् ।
दिवाकरं प्रसौत्येकः सविता तेन कर्मणा ॥
५. सा० ऋ० २. १८. १, ३. १५. ५, १०. १२०. २, १३९. ६ ।
६. निरु० ५. १ 'सस्निं संस्नातं मेघम्', द्र० देव० नि० ४. २. १ ।
७. सा० ऋ० १. ५२. १५ ।
८. स्क० ऋ० १. ५२. १५ ।
९. सा० ऋ० २. २१. ३, द्र० सा० अ० ४. ३१. २, वाबू० १५०५ ।

(ख)— √ सो ( षोऽन्तकर्मणि ) + क्तिन् प्रत्यय अधिकरण में, सीयते म्रियते अस्मिन्निति सातिः संग्रामः[1]। यास्क – ने √ सन् से निर्वचन किया है[2]।

( तु० IE. sen 'to prepare', Gr. hanuó 'to bring about' )

**सानसि** < √ सन् (संभक्तौ) + असि प्रत्यय (सानसिधर्णसि०, उ० सू० ४. ११७), निपातन से उपधावृद्धि तथा अन्तोदात्त[3]।

**सानु** < √सन् ( दाने ) + ञुण् ( दृसनिजनिचरिचटिरहिभ्यो ञुण्, उ० सू० १. ३), णित् होने से उपधावृद्धि, सनोति ददाति निवसतामवकाशमिति सानुः, आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७)[4]। यास्क – सम् + उद् + √श्रि, सम् + उद् + √नुद्[5]।

**सायक** < (क) — √सि (षिञ् बन्धने) + ण्वुल्, सिनोतीति सायकः।

(ख)— √सो (षोऽन्तकर्मणि) + ण्वुल्, आत्व, युक् का आगम (आतो युक् चिण्कृतोः, पा० ७. ३. ३३)[6]। सायण ने अन्यत्र (अ० सं० ४. ३१. ६) √सो (अन्तकर्मणि) + घञ् = साय + √कृ + ड प्रत्यय (डोऽन्यत्रापि दृश्यते, वा० पा०, ३. २. ४८) – व्युत्पत्ति दी है।

**सिंहः** < √सह्, √हिंस् ( शब्दकर्मा )[7]। सायण की व्युत्पत्ति यास्क पर आधृत है। यास्क – √सह्, √हिंस्, सम् + √हन्, सम् + √हा[8]। वैयाकरण √सिच् ( षिच् क्षरणे ) + कन् प्रत्यय, नुमागम तथा अन्त्य को हकारादेश ( सिचेः संज्ञायां कन्नुं हौ च, उ० सू० ५. ६७), सिञ्चतीति सिंहः मृगेन्द्रः, अथवा

---

१. सा० ऋ० १. ४. ९, ६. १०, १०२. ५, १११. ३, ११२. २२, १३०. ६, २. १९. ४, ३. ३१. १९, ८. ५. ९, ९. ६९. ९, द्र० स्क० ऋ० १. ६. १०. १११. ३, ४।

२. निरु० १२. ४५, द्र० ऋ० ग्ला० १९३।

३. सा० ऋ० १. ८. १, ७५. २, ३, ५९. ६, द्र० स्क० ऋ० १. ८. १, निरु० समु० मं० ३०, पृ० ३०, ऋ० ग्ला० पृ० १९४, बोब्र० १५१०।

४. " " सानोः १. १०. २।

५. निरु० २. २४ – समुच्छ्रितं भवति, समुन्नुन्नमिति वा।

६. सा० ऋ० १. ३२. ३, ८४. ११, द्र० स्क० १. ३२. ३, सा० अ० २. ५. ७, देव० नि० २. २०. १७।

७. „ „ सिंहस्य ५. ८३. ३।

८. निरु० ३. १८., ८. १५।

√हिंस् + अच् ( पृषोदरादि ), आद्यन्त विपर्यय, अन्तोदात्त – व्युत्पत्ति देते हैं[१]।

( तु० IE. Singho, lion, leopard, Arm. inj 'Leopard' )

**सिध्मः**<√सिध् ( संराद्धौ ) + मक् प्रत्यय (औणादिक), कित् होने से गुण का अभाव, प्रत्ययस्वर[२]।

**सिध्रम्** < √सिध् (संसिद्धौ, संराद्धौ) + रक् प्रत्यय (स्फायितञ्चि०, दश० ८. ३१), प्रत्ययस्वर (पा० ३. १. ३)[३]।

**सिनम्** < √सि (बन्धने) + नक् प्रत्यय (इण्षिञ्दीङुष्यविभ्यो नक्, उ० सू० ३. २), सिनाति बध्नाति, सीयतेऽनेनेति वा, व्यत्यय से आद्युदात्त[४]। पीटर्सबर्ग तथा गेल्डनर ( ऋ० ग्ला० १९५ ) √सन् से व्युत्पन्न मानते हैं। ग्रासमान – √सा, √सन्, √सि, ( वोबू० १५१८ )। सायण की व्युत्पत्ति उपयुक्त है, अन्यथा 'इ' की व्याख्या कठिन होगी।

**सिन्धु**<√स्यन्द् ( प्रस्रवणे ) + उ प्रत्यय, सम्प्रसारण तथा धकार अन्तादेश ( स्यदेः सम्प्रसारणं धश्च, उ० सू० १. ११ ), 'नित्' (उ० सू० १. ९) की अनुवृत्ति कर आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ ) स्यन्दत इति सिन्धुः[५]। ऋ० सं० में √स्यन्द से ही व्युत्पत्ति अभीष्ट प्रतीत होती है[६]। यास्क – √स्यन्द्, √स्रु[७]। सायण की व्युत्पत्ति वैयाकरणों का अभीष्ट है[८]। ग्रासमान – √सिध्, (वोबू० १५१९)।

---

१. श्वे०उ० सू० ५. ६७, दश० ९. १०६, उ० को० ५. ६२, सि० कौ० पा० ६.३.१०९ – सिंहो वर्णविपर्ययात्।

२. सा० ऋ० १. ३३. १३।

३. ,, ,, १. १४२. ८, द्र० वोबू० १५१८।

४. ,, ,, ३. ६२. १, द्र० निरु० ५. ५ – "सिनमन्नं भवति, सिनाति भूतानि", देव० नि० २. ७. ८।

५. ,, ,, १. ११. ६, २७. ६, ९२. १२, ३. ३२. १६, द्र० स्क० ऋ० १. ११. ६, देव० नि० १. १३. २१।

६. ऋ० सं० ४. २२. ७-८ "दीर्घमनुप्रसितिं स्यन्दयध्यै पिपीळे अंशुर्मघोन सिन्धुः"। द्र० १. १२५. ४।

७. निरु० ९. २६ – 'सिन्धुः स्यन्दनात्', ५. २७ – 'सिन्धुः स्रवणात्'।

८. श्वे० उ० सू० १. ११, दश० १. ९६, सरस्व० २. १. २९, उ० को० १. १२, दुर्ग० १. ७।

**सिमः**<√सि ( बन्धने ) + मक् प्रत्यय ( औणादिक )[1]। वैयाकरणों को मन् से व्युत्पत्ति अभीष्ट प्रतीत होती है[2]। पर वहाँ आद्युदात्त की सम्भावना होने लगेगी। सायण ने 'मक्' प्रत्यय कर प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त (पा० ३.१.३) किया है।

**सुखम्** < सु + √खन् (विदारणे) + ड प्रत्यय (अन्येष्वपि दृश्यते, पा० ३. २. १०१), कृदुत्तरस्वर[3]। यास्क – सु + ख[4]।

**सुग्म्यम्** <सु + √गम् + क प्रत्यय, उपधालोप (गमहन०, पा० ६. ४. ९८), सुग्म + यत् (भवे छन्दसि, पा० ४. ४. ११०), सुष्ठु गन्तव्यः सुग्मः, तत्र भवं सुग्म्यम्, आद्युदात्त (यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३)[5]।

**सुचेतुना**<(क)—सु + √चित् ( संज्ञाने ) + उ प्रत्यय ( औणादिक ) तृ० ए०, बहुव्रीहि में उत्तरपदान्तोदात्त।

(ख)—सु + √चित् + उनन् प्रत्यय (औणादिक) = सुचेतुन्[6]।

**सुदीति**< (क)—सु + √दी (दीङ्, क्षये) + क्तिन् प्रत्यय करण में, दीयते विनाश्यते अभिस्तमः।

(ख)—सु + √दी ( दीप्त्यर्थ ) + क्तिन्, दीतयो दीप्तयः, शोभनं दीतिः येषां ते सुदीतयः, बहुव्रीहि में उत्तरपदान्तोदात्त ( नञ्सुभ्याम्, पा० ६. २. १७२)[7]। ऋ० सं० में √दी ( दीप्त्यर्थक ) से इसकी व्युत्पत्ति संकेतित प्रतीत होती है[8]।

**सुद्रविणः**<सु + √द्रु ( गतौ ) + इनन् प्रत्यय (द्रुदक्षिभ्यामिनन्, उ० सू० २. ५२), द्रविण शब्द के अन्त में सकारोपजन ( सुद्रविणस् ) छान्दस, शोभनानि द्रविणानि धनानि यस्य[9]।

**सुरणः** < (क)—सु + रमण, शोभनं रमयतीति सुरमणः, वर्णलोप छान्दस।

---

१. सा० ऋ० १. १०२. ६।
२. उ० सू० १. १४४ – 'अविसिविशुषिक्षुभ्यः कित्'', द्र० सरस्व० २. २. २४२।
३. सा० ऋ० ३. ३५. ४।
४. निरु० ३. १३ – सुखं कस्मात् ? सुहितं खेभ्यः।
५. सा० ऋ० ४८. १३, द्र० देव० नि० ३. ६. ८।
६. ,, ,, १. १. ७९. ९, १२७. ११, द्र० ०चेतुनम् – ९. ६५. ३०।
७. ,, ,, ३. १७. ४।
८. ऋ० सं० ६. ४८. ३ – "सुदीतिभिः सुदीदिहि", तथा ७. १. २१ 'सुदीतीसूनो सहसोदिदीहि'।
९. सा० ऋ० १. ९४. १५।

(ख)—सु + √रण् ( शब्दे ) + णिच् + खल् प्रत्यय अकृच्छार्थ में लित्स्वर, प्रत्यय के पित् होने से अनुदात्त होने पर धातुस्वर, समास में कृदुत्तरस्वर,

(ग)—सु + √रण् + अप् प्रत्यय भाव में ( वशिरण्योरुपसंख्यानम्, वा० पा० ३. ३. ५८), बहुव्रीहि में उत्तरपद का आदि उदात्त ( आद्युदात्तं द्वयच्छन्दसि, पा० ६. २. ११९)[१]। यास्क सु + √रण् से निर्वचन करते हैं[२]।

**सुवित** < सु + √इ ( इण्, गतौ ) + क्त प्रत्यय, उवङादेश ( तन्वादीनां छन्दसि बहुलमुपसंख्यानम्, वा० पा० ६. ४. ७७), सुष्ठु इतानि सुवितानि[३]। यास्क सु + √इ + क्त, √सू[४]। गेल्डनर तथा ग्रासमान सु + इत (जैसे दुरित) से ही व्युत्पन्न मानते हैं[५]।

**सुवृक्ति** < (क)—सु + √वृज् ( वर्जने ) + क्तिन् प्रत्यय करण में, इट्प्रतिषेध ( तितुत्र०, पा० ७. २. ९ ), शोभनमावर्जितो भवत्येभिरिति सुवृक्तयः, स्तोत्राणि, व्यत्यय से उत्तरपदान्तोदात्त (मन्क्तिन्०, पा० ६. २. १५१)।

(ख)—सु + √वृज् + क्तिच् (क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्, पा० ३. ३. १७४), कृत्स्वर से अन्तोदात्त[६]। यास्क ने सु + √वृत् से निर्वचन किया है, पर मूल पाठ के भ्रष्ट होने की संभावना अधिक है[७]। गेल्डनर – सु + ऋक्ति ( < √अर्च् ), (ऋ ग्ला० १९९)। मैक्समूलर √वृज्, साफ करना, छाँटना अर्थ में मानकर लाक्षणिक रूप में साफ सुथरी, निर्दोष, पवित्र स्तुति अर्थ में पर्यवसित मानते हैं[८]। रॉथ – सु + √रुच् + क्तिन्, 'व' का आगम (सु + व् + इतर < सु + इत के सादृश्य पर) कर व्युत्पन्न करते हैं[९]।

---

१. सा० ऋ० ३. ३. ९, २९. १४, ५३. ६, १०. १०४. ८।

२. निरु० ११. ५०।

३. सा० ऋ० १. ३८. ३, ९०. ४, १०४. २, ११८. १०, ३. ५४. ३, ५. ११. १, द्र० स्क० ५. ५९. १।

४. निरु० ४. १७ – 'सुविते सु इते सूते, स्क० निरु० वहीं, तथा ११. १५, द्र० देव० नि० ४. १. २८।

५. ऋ० ग्ला० १९९., वोबू० १५५१।

६. सा० ऋ० •वृक्तिभिः १. ६२. १, ३. ५१. १।

७. निरु० २. २४, द्र० एटि० यास्क, पृ० १२२।

८. वैदिक हिम्स् – १, पृ० १०९।

९. मेलेङ्गेस् एसियाटिक्वेस् viii, पृ० ६ २।

**सुष्वयन्ती**< (क)—सु + √अय् ( गतौ ) + शतृ + ङीप्, उपसर्ग को द्विर्वचन छान्दस, सुष्ठु अयन्त्यौ गच्छन्त्यौ ।

(ख)—सु + √स्वप् + णिच् + शतृ, ण्यन्तवर्णलोप, ( = सुष्वापयन्त्यौ)[1] । यास्क – √स्मि ( हसने ), √स्वप्, √सद्, नी + आ + √सद्[2] । आधुनिक विद्वान् √सु अथवा √सू (अभिषवे, प्राणिप्रसवे) से व्युत्पन्न करना उचित मानते हैं[3] ।

**सुष्विम्** < √सु ( अभिषवे ) + किन् प्रत्यय ( उत्सर्गश्छन्दसि, पा० ३. २. १७१ ), लिड्वद्भाव से द्विर्भाव, यणादेश, उवङादेश का अभाव छान्दस[4] ।

**सूनरी** < सु + √नॄ ( नये ) + इ प्रत्यय ( अच इः, उ० सू० ४. १४८ ), सुनरि + ङीष् (कृद्ग्रहणे०, परि० २८ - इस वचन से - कृदिकारादक्तिनः, पा० ४. १. ४५ ग० ), सुष्ठु नयतीति सूनरी, पूर्वपद को दीर्घ ( निपातस्य च, पा० ६. ३. १३६ ), उत्तरपद का आदि उदात्त ( परादिश्छन्दसि बहुलम्, पा० ६. २. १९९ )[5] । देवराज० – सुनर + ई मत्वर्थीय अथवा बहुव्रीहि में पिप्पलादिगण मानकर[6] ।

**सूनु** < √सू ( प्रेरणे ) + नु प्रत्यय ( सुवः कित्, उ० सू० ३. ३५ ), कित् होने से गुण का अभाव[7] । देवराज० – √सु ( प्राणिप्रसवे ) से व्युत्पन्न मानते हैं[8] ।

( तु० chsl. sunū, Av. hunis, Goth. Sunus, Lith. sūnūs, Swedish son, oEng sunu, Eng. Son, MEng. Sune, sone, OHG. Sun (u), MHG. Sun, NHG. Sohn )

**सूनृतावती**<सु + √ऊन् (परिहाणे) + ( क्विप् ), सुन् सुष्ठु ऊनयति अप्रियमिति । तथाविधम् ऋतं सत्यं यस्यां वाचि सा सूनृता < सून् + ऋत + आ (टाप्) + मतुप् + ङीप्, मतुप् को वत्व (संज्ञायाम्, पा० ८. २. ११)

---

१. सा० ऋ० १०. ११०. ६ ।

२. निरु० ८. ११ – "सेष्मीयमाणे इति वा सुष्वापयन्त्याविति वा सीदतामिति वान्यासीदतामिति वा ।

३. एटि० यास्क पृ० १७६ ।

४. सा० ऋ० १. ६१. १५, द्र० निरु० समु० पृ० ३९, ऋ० ग्ला० १९९, वोबू० १५५८ ।

५. ,, ,, १. ४८. ५, द्र० सुनरि १. ४८. १० ।

६. देव० नि० १. ८. २ ।

७. सा० ऋ० सूनवः १. ३७. १०, सूनवे ३. १. १२, द्र० वोबू० १५६५ ।

८. देव० नि० २. २. १२ ।

सूनृता यस्या अस्ति सा सूनृतावतीति कशायाः संज्ञा, सुनृता में ऋकार उदात्त, ( परादिश्च्छन्दसि बहुलम्, पा० ६. २. १९९)[१]। आचार्य क्षितीशचन्द्र चटर्जी इसे सु + √नृत् + क प्रत्यय ( घञर्थे कः, पा० ३. ३. ५८, अथवा – हलश्च, पा० ३. ३. १२१ ) अथवा मुकुट के मत में मूल विभुजादित्वात् व्युत्पन्न मानते हैं। लुई रनु के अनुसार सुनर ( अवे० हुनर, हुनरेतात् ) से भावार्थक सूनृता शब्द बना है, तथा इसी से अकारान्त सूनृत, जिसका अर्थ उदात्त, वदान्य रहा। बाद में अर्थ संकोच से सूनृता का 'दक्षिणा' अर्थ हो गया[२]। सूनृता शब्द की मध्योदात्तता भी 'तल्' प्रत्ययान्त सूचित करती है। 'तल्' होने पर प्रत्यय से पूर्व को उदात्त ( लिति पा० ६. १. १९३ ) होकर मध्योदात्त सिद्ध होता है। आधुनिक वैयाकरण सु ( = शोभन ) + ऋत ( सत्यार्थक ) का समास, पूर्व पद को दीर्घ ( अन्येषामपि दृश्यते, पा० ६. ३. १३७ ) तथा अनृत के सादृश्य पर नकारागम कर व्युत्पन्न करते हैं[३]।

**सूर्य** < (क)— √सू ( प्रेरणे ) + क्यप् प्रत्यय तथा रुट् का आगम निपातित ( राजसूयसूर्य० पा, ३. १. ११४ ), कित् होने से गुण का अभाव, पित्स्वर ( अनुदात्त ) तथा धातुस्वर।

(ख)—सू ( प्रेरणे ) + क्रन् ( औणादिक ) + यत् प्रत्यय ( स्वार्थिक ), आद्युदात्त ( यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३ )[४]। सायण ने अन्यत्र √ सृ तथा सु + √ ईर् से भी व्युत्पन्न माना है[५]। जै० ब्रा० √सु, √सृ, स्वर्य[६]। बृहद्देवता ( १. ६१ – ६३ ) में सूर्य को प्रवर्तित करने वाला बताया गया है। सूर्यसिद्धान्त में प्रसूति से सूर्य नाम पड़ा हुआ माना गया है[७]। यास्क – √सू, √सृ, सु + √इर्[८]। पतञ्जलि – √सू तथा √सृ से व्युत्पन्न

१. सा० ऋ० १. २२. ३।
२. ऋ० सं० १. ४८. ५।
३. मञ्जूषा – सितम्बर १९५०, पृ० १९–२०।
४. सा० ऋ० १. ७. ३, १४. ९, ३५. ७, ४७. ९, ५०. १, ३. १४. ४, ३०. १२।
५. सा० अ० १. ३. ५, ६. ३, २२. १, २९. ५, ३. २२. ४, १७. १. ६।
६. जै० उ० ब्रा० ३. ३५७, द्र० निरु० समु० मं० २१, पृ० २२।
७. सूर्य सिद्धान्त – अ० १२, श्लो० १५—

हिरण्यगर्भो भगवानेषच्छन्दसि पठ्यते।
आदित्यो ह्यादिभूतत्वात् प्रसूत्या सूर्य उच्यते॥

८. निरु० १२. १४, द्र० देव० नि० सूर्या० १. ११. २१।

मानते हैं[1]। स्कन्द माहेश्वर यास्क के निर्वचन से सहमत होते हुए √सृ से भी व्युत्पन्न मानते हैं[2]।

( तु० IE. Sāwel, Av. hvarə 'the sun' )

**सृप्र** < √सृप् ( गतौ ) + रक् प्रत्यय ( स्फायित०, उ० सू० २. १३ ), कित् होने से गुण का अभाव, प्रत्ययस्वर[3]।

( तु० IE. Serp 'to creep', Lat. serpso, 'I creep' )

**सोम** < √सु (अभिषवे) + मन् (अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षि०, उ० सू० १. १२७) । आद्युदात्त (पा० ६.१. १९७)[4]। सोम का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ 'निचोड़ा गया रस' है। अमरीकी शोधकर्ता आर० गार्डन वासन ने अपनी पुस्तक 'सोम द डिवाइन मशरूम आफ इम्मॉर्टेलिटी' में 'फ्लाइ आगरिक' ( अमानिता मस्कारिया ) नाम से जाना जाने वाले कवक से सोम की पहचान की है[5]।

( तु० IE. Seum 'juice' Av. hauma 'soma' )

**स्तुषेय्यम्**< √स्तु + क्सेय्य प्रत्यय (स्तुवः क्सेय्यश्छन्दसि, दश० ८. ४, प० ३. ९३), स्तूयते असाविति स्तुषेय्यः, स्तौतीति वा[6]। उज्ज्वलदत्त ने √स्तु + केय्य = स्तुवेय्य रूप बनाया है, पर भट्टोजिदीक्षित वेद तथा सायण भाष्य विरोध होने से इसे स्वीकार नहीं करते[7]।

**स्तूपम्**< √स्त्यै ( शब्दसंघातयोः ) + प प्रत्यय, यकार को सम्प्रसारण, परपूर्वत्व तथा ऊकारादेश ( स्त्यस्संप्रसारणमूच्च, उ० सू० ३. २५ ), नित् की अनुवृत्ति कर आद्युदात्त[8]। काण्व, माध्यन्दिन संहिता तथा श० ब्रा० में

---

१. पा० म० ३. १. ११४ – सूर्सतिभ्याम्, सरतेरुत्वम्, सुवतेर्वा रुडागमः, सरणाद्वा सुवतिकर्मणीति वा।

२. स्क० निरु० १२. १५।

३. सा० ऋ० सृप्रा० ० ३. १८. ५, ० दानुम् १. ९६. ३, निरु० ६. १७, देव० नि० ४. १. ११।

४. सा० ऋ० १. २. १, ५. ५, १५. १, १६. ६, २३. १, ४६. ५, १०८. १, ३. १२. ३, द्र० ०पीतये १. १४. १, ६, १६. १, ८, निरु० ११. २, देव० नि० ५. ५. २, ऋ० ग्ला० २०३।

५. धर्मयुग – ९ फरवरी १९७५ में मारुतीचितमपल्ली का लेख – 'स्वर्ग से पृथिवी पर सोम लाने वाला पक्षी श्येन'।

६. सा० ऋ० १०. १२०. ६।

७. उ० सू० ३. ९३ – "स्तुवः क्सेय्यश्छन्दसि" पर प्रौ० म० तथा त० बो०।

८. सा० ऋ० १. २४. ७, द्र० निरु० १०. ३३।

स्तुप शब्द अन्तोदात्त दिखायी देता है। ऋग्वेद तथा तैत्तिरीय संहिता में 'स्तूप' आद्युदात्त दिखायी देता है। सायण ने नित् की अनुवृत्ति कर आद्युदात्त किया है, पर अनुवृत्ति की संगति ठीक नहीं बैठती। वस्तुतः "वृषादीनां च", ( पा० ६. १. २०३ ) से आद्युदात्त[1] अथवा अनुवृत्ति के स्थान पर अनुकर्षण मान लिया जाय तो "सुशृभ्यां निच्च" ( उ० सू० ३. २६ ) से नित् का अनुकर्षण कर आद्युदात्त संगत हो सकता है। सम्भवतः इसीलिए भोज ने ( सरस्व० २. २. २०८ ) पन् प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न किया है।

( तु० IE. stŭ, stū̆, 'to be thick', Gr. stúphō, 'I make thick',

Lat. stīria 'Frozen ∂rop' )

**स्यूमना**< (क)— √सिव् ( तन्तुसन्ताने ) + मनिन् ( अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५ ), ऊठादेश ( छ्वोः शूड०, पा० ६. ४. १६ ), स्यूमन् + शस् ( द्वि० ब० ) विभक्ति को आङादेश (आङ्याजयारांचोपसंख्यानम्, वा० पा० ७. १. ३९ )।

(ख)— √सिव् + मक् ( अविसिविशुषिभ्यः कित्, उ० सू० १. १३० ), स्यूम + न मत्वर्थीय[2]। वस्तुतः औणादिक मन्, आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ ) करना संगत प्रतीत होता है[3]।

**स्योना**<√सिव् ( तन्तु सन्ताने ) + न प्रत्यय तथा धातु के 'टि' को 'यो' आदेश ( सिवेष्टेर्यो च, उ० सू० ३. ९ ), प्रत्ययस्वर, स्योन + टाप् ( स्त्री० ) = स्योना[4]। यास्क - √सो, √सेव्[5]। वररुचि - √सिव्[6]। सायण ने जिस उ० सू० से 'न' प्रत्यय किया है, उससे वस्तुतः स्यून प्रयोग बनता है। महादेव वेदान्ती उ० को० ३. ६ - "धापृवस्यज्यतिभ्यो नः" से 'न' प्रत्यय द्वारा स्योन बनाया है। भट्टोजिदीक्षित ने उ० सू० ३. ९ से केवल 'न' ( बाहुलक ) प्रत्यय, ऊठ्, अन्तरंग होने से प्रथम यण् तथा गुण के द्वारा व्युत्पन्न किया है[7]।

---

१. भट्टभास्कर, तै० सं० १. १. ११।
२. सा० ऋ० १. ११३. १७।
३. स्यूमेव रश्मये - १. ११२. १६, स्यूमेव - ३. ६१. ४, श्वे० उ० सू० १. १३०, दश० ७. ३०, सरस्व० २. २. २४२., उ० को० १. १४३।
४. सा० ऋ० १. २२. १५, द्र० देव० नि० ३. ६. १५।
५. निरु० ८. ९।
६. निरु० समु० मं० १७ पृ० १९।
७. सि० को०, उ० सू० ३. ९, द्र० बृ० श० शे० वहीं ( पृ० २०९६ ) तथा त० बो०।

**स्वधा** < स्व + √धा ( धारणपोषणयोः ) + 'क' प्रत्यय ( आतोऽनुपसर्गे कः, पा० ३. २. ३ ), सर्वं लोकं दधाति पुष्णातीति स्वधा, कृदुत्तरपदप्रकृति-स्वर[१]। सायण ने अन्यत्र ( अ० सं० २. २९. ७ ) स्व + √धि ( धारणे ) + 'क' ( घञर्थे क विधानम्, वा० पा० ३. ३. ५८ ), स्वेभ्यो धीयते स्वस्मिन् वा धीयत इति स्वधा भी व्युत्पत्ति दी है। वैयाकरण √स्वद् + आ प्रत्यय बाहुलक ( आसमिण्निकषिभ्याम्, उ० सू० ४. १८१ ) तथा बाहुलक धान्तादेश के द्वारा व्युत्पन्न करते हैं[२]।

**स्वरु**< √स्वृ ( शब्दोपतापयोः ) + उ प्रत्यय नित् (शृस्वृष्णिहि० उ० सू० १. १०), स्वर्यतेऽनेनेति स्वरुः, आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ )[३]।

( तु० Gr. suril, Lat. susurrus, G. schwirren, Eng. Swarm )

**स्वसराणि**< (क)—स्व + √सृ + अच्, स्वः सरो येषां तानि स्वसराणि अह्नानि, बहुव्रीहि में 'स्व' आद्युदात्त ( बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्, पा० ६. २. १ )।

(ख)—सु + √ऋ ( गतौ ), सुष्ठु अर्यन्ते प्राप्यन्ते इति स्वसराणि[४]। यास्क – स्व + √सृ, स्वयम् + सारिन्, स्वर् + √सारय्, स्वर् + √सृ[५]। देवराज० – स्व + √सृ, स्वर् + √सृ, सु + √अस् ( क्षेपणे ) + उरच् ( माधव )[६]। सायण की प्रथम व्युत्पत्ति जो कि यास्क तथा देवराज० से भी पुष्ट है, उपयुक्त प्रतीत होती है।

**स्वानः**<√स्वन् ( शब्दे ) + घञ् बाहुलक, अन्तोदात्त (कर्षात्वतः, पा० ६. १. १५९)[७]।

( तु० Lat. sonus, sound )

**स्वेदुहव्यैः** < (क)—स्व + √इद् ( परमैश्वर्ये ) + उ प्रत्यय (उन्देरिच्चादेः, उ० सू० १. १२ ), नुम् का अभाव (अनित्यमागमशासनम्), स्व + इदु + हव्य = स्वेदुहव्य, इदूनि प्रभूतानि च तानि हव्यानि स्वभूतानि च हव्यानि येषाम्, तैः।

---

१. सा० ऋ० १. ६. ४, ३. ७. ८, १७. ५, द्र० सा० अ० २. २९. ७।
२. त० बो० उ० सू० ४. १८१, द्र० वृ० श० शे० वहीं ( पृ० २१११ )।
३. सा० ऋ० स्वरवः ३. ८. ६, द्र० सा० अ० ३. ८. ६, १८. ३. १२।
४. ,, ,, १. ३. ८, ३. ४. ७।
५. निरु० ५. ४।
६. देव० नि० १. ९. ५।
७. सा० ऋ० १. १०४. १, द्र० वोबू० १६३७।

(ख)—स्व + √इन्ध् ( दीप्तौ ), स्वायत्तानि इन्दूनि इत्तानि हव्यानि येषाम् ।

(ग)—स्व + इदम् + हव्य, पृषोदरादि, स्वभूतमिदं पुरोवर्ति हव्यं हविः येषां ते तथोक्ताः[१] । स्कन्द ने स्वेन्दुहव्यै < स्वेदुहव्यैः, छान्दस नकारलोप माना है[२] ।

## ह

**हंस** < √हन् ( हिंसागत्योः ) + स प्रत्यय ( वृतॄवदिहनिकमिकषिभ्यः सः, उ० सू० ३. ६१ ) । हन्तीति हंसः[३] । इस व्युत्पत्ति की पुष्टि यास्क तथा देवराज० से भी होती है[४] ।

( तु० IE. ǧhans – 'goose', OHG. gans )

**हत्नवे**< √हन् ( हिंसागत्योः ) + क्नु प्रत्यय ( कृहनिभ्यां क्नुः, उ० सू० ३. ३० ), धातु के नकार को तकार[५] । महादेव वेदान्ती "कृहनिभ्यां क्त्नुः" (उ० सू० ३. ३०) पाठ स्वीकार कर √हन + क्त्नु > हत्नु व्युत्पन्न करते हैं[६] । हत्नवे < हत्नु + ङे, च० ए० ।

**हत्वी**< √हन् + त्वी प्रत्यय क्त्वा के अर्थ में निपातित ( स्नात्व्यादयश्च, पा० ७. १. ४६ ), प्रत्ययस्वर[७] ।

**हन्तवे**< √हन् + तवेन् प्रत्यय तुमर्थ में ( तुमर्थे सेसेन्०, पा० ३. ४. ६ ), नित्स्वर[८] ।

**हन्तवै**< √हन् + तवै प्रत्यय ( पा० ३. ४. ६ ), आद्यन्त को युगपत् उदात्त (अन्तश्च तवै युगपत्, पा० ६. १. २००)[९] ।

**हन्त्वासः**< √हन् ( हिंसागत्योः ) + त्वन् प्रत्यय ( कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः, पा०

---

१. सा० ऋ० १. १२१. ६ ।
२. स्क० ऋ० वहीं ।
३. सा० ऋ० ४. ४०. ५, द्र० शा० भा० काठकोपनिषद् २. २. २ ।
४. निरु० ४. १३ – हंसा हन्तेर्घ्नन्ति अध्वानम् । द्र० देव० नि० १. १४. २५ ।
५. सा० ऋ० १. २५. २ ।
६. उ० को० पृ० ५४ ।
७. सा० ऋ० २. ३०. १०, ३. ३४. ६ ।
८. " " ३. ३७. ५, ६ ।
९. " " १०. १२५. ६, १८२. ६ ।

३. ४. १४ ), आद्युदात्त ( पा० ६. १. १६७ )। हन्त्व + जस्, प्र० ब०, असुक् का आगम ( आज्जसेरसुक्, पा० ७. १. ५० )[१]।

**हरसा** < सायण ने यास्क को उद्धृत किया है[२]। यास्क ने √हृ से निर्वचन किया है[३]। देवराज० - √हृ ( हरणे ) + असुन्[४]।

( तु० IE. gūher, 'hot', Gr. théros 'summer heat' )

**हरि** < √हृ ( हृञ् हरणे ) + इन् प्रत्यय ( हृपिशिरुहिवृतिविदिकीर्तिभ्यश्च, उ० सू० ४. १२८ ), हरतीति हरः, आद्युदात्त ( पा० ६. १. १६७ )[५]। ब्राह्मणों में यह शब्द सूर्य, प्राण तथा अश्व अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका निर्वचन √हृ से मिलता है[६]। देवराज० - √हृञ् हरणे - भ्वा०, तथा √हृ ( प्रसह्यकरणे, जु० ) + इन्[७]।

( तु० IE. ghêl, 'greem or yellow', Lat. helvus 'yellow' Gr. kheir )

**हरित्**<√हृ ( हृञ् हरणे ) + 'इति' प्रत्यय ( हृत्सृरुहियुषिभ्यः इतिः, उ० सू० १. ६५ ) प्रत्ययस्वर से इकार उदात्त[८]।

**हरित**<√हृ + इतन् प्रत्यय ( हृश्याभ्यामीतन्, उ० सू० ३. ८८ ), आद्युदात्त[९]। देवराज० - ( १. ६. ८ ) √हृ ( हरणे तथा प्रसह्यकरणे ) + इतन्।

**हरिमन्** < (क)— √हृ ( हरणे ) + इमनिन् प्रत्यय ( जनिहृभ्यामिमनिन्, उ० सू० ४. १६० ), व्यत्यय से अन्तोदात्त।

(ख)—हरित् + इमनिन् ( वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च, पा० ५. १. १२३ ), टिलोप[१०]। वस्तुतः यहाँ इमनिच् प्रत्यय होकर अन्तोदात्त ( चित्तः, पा० ६. १. १६३ ) होता है[११]।

---

१. सा० ऋ० ३. ३०. १५, द्र० ऋ० ग्ला० २११।
२. ,, ,, १०. ८७. २५।
३. निरु० ४. १९ – हरो हरतेः।
४. देव नि० १. १७. ६।
५. सा० ऋ० १. ५. ४, ६. २, ७. २, १६. १ – २, ६५. १।
६. कौ० ब्रा० १७. २ – प्राणो वै हरिः। स हि हरति। जै० उ० ब्रा० १. ४४. ५ युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः, तेऽस्य युक्तास्तैरिदं सर्वं हरति तद् यदेतैरिदं सर्वं हरति तस्माद् हरयः।
७. देव नि० २. ३. १०।
८. सा० ऋ० हरितः १. १४. १२. हरितोः ३. ४४. ३।
९. " " हरितम् – ३. ४४. १, द्र० निरु० ४. ११ हरणान् आदित्यरश्मीन्।
१०. ,, ,, ०माणम् – १. ५०. ११।
११. उ० वृ० श्वे० ४. १६० पर दूसरी वृत्ति।

**हर्यत**< √हर्य (गतिकान्त्योः) + अतच् प्रत्यय (भृमृदृशियजिपर्विपच्यमिनमिहर्योऽतच्, उ० सू० ३. १०३), हर्यतीति हर्यतः, अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[1]।

**हव** < (क)—ह्वे (स्पर्धायां शब्दे च) > √हु (सम्प्रसारण – बहुलम् छन्दसि, पा० ६. १. ३४), √हु + अप् प्रत्यय (ऋदोरप्, पा० ३. ३. ५७)। पित् होने से अनुदात्त, धातुस्वर शेष रहता है[2]।

(ख)—√ह्वे + अप् (भावेऽनुपसर्गस्य, पा० ३. ३. ७५), सम्प्रसारण[3]।

(ग)—√हु + अप् प्रत्यय अधिकरण में[4]। यास्क ने √ह्वे (शब्दे) से निर्वचन किया है[5]। ग्रासमान – √हु, (वोबू० १६५३)।

(तु० IE. ghau, 'to call', Av. zavaite 'he calls')

**हवस्**< √ह्वे + असि प्रत्यय, सम्प्रसारण[6]। स्कन्द √ह्वे को अर्चतिकर्मा मानते हैं[7]।

**हविस्**<√हु (दानादनयोः) + इसि प्रत्यय (अर्चिशुचिहुसृपिच्छदिछादिभ्य इसिः, उ० सू० २. १०८)। हूयते क्षिप्यते अग्नाविति हविः, आज्यादिकम् – प्रत्यय-स्वर[8]। इस व्युत्पत्ति की पुष्टि गो० ब्रा० से भी होती है[9]।

**हवीमन्** < √ह्वे (ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च) + मनिन् (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ३. २. ७५), छान्दस ईडागम, धातु को सम्प्रसारण (बहुलं छन्दसि, पा० ६. १. ३४), गुण (सार्वधातुकार्धधातुकयोः, पा० ७. ३. ८४), अवादेश

---

१. सा० ऋ० १. ५७. २, ६३. ७, १३०. २, २. २१. १, ३. ४४. १, ६. ८६. २६, ६६. १७, १०. ९६. १, द्र० सा० अ० १. ७. ३, वोबू० १६५२।
२. „ „ १. २. १, १०. ९, १७. २।
३. „ „ १. २३. ८, ३०. ८, ४७. २, ४८. १०, ८६. २, ६३. १, ११४. ११, ३. ६२. २, १०. १०६. ४, द्र० सा० अ० २. ५. ४, ४. २४. १।
४. „ „ १०. १२८. ८।
५. नि० ९. १, तु० १०. २, ११. १८, १२. ४४।
६. सा० ऋ० हवसा १. ६४. १२।
७. स्क० ऋ० १. ६४. १२।
८. सा० ऋ० १. १३. ११, द्र० देव० नि० १. १२. ६५, ऋ० ग्ला० २१२, वोबू० १६५५।
९. गो० ब्रा० १. २. २२, – "ते देवा ब्राह्म्यं हविर्यत् शान्तयेऽग्नावजुहवुः, एतद् वै ब्राह्म्यं हविर्यत् शान्तपन्तेऽग्नौ हूयते"।

( एचोऽयवायावः, पा० ६. १. ७८ ), आद्युदात्त ( ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा० ६. १. १९७ )[१] । ग्रासमान – √हु, ( वोबू० १६५६ ) ।

**हव्य**< (क)— √ह्वे, धातु को सम्प्रसारण ( 'ह्वः' की अनुवृत्ति कर 'बहुलं छन्दसि', पा० ६. १. ३४ ) > √हु + यत् प्रत्यय ( अचो यत् पा० ३. १. ९७ ), अवादेश ( धातोस्तन्निमित्तस्यैव, पा० ६. १. ८० ), आद्युदात्त (यतोऽनावः, पा० ६. १. २१३ )[२] ।

(ख)— √हु + यत् प्रत्यय ( अचो यत्, पा० ३. १. ९७ )[३] ।

(ग)— √ह्वे + य प्रत्यय (छन्दसि च, पा० ५. १. ६७ ) ।

(घ)—हव + य ( पा० ५. १. ६७ ), 'भ' संज्ञा, अकारलोप ( यस्येति च, पा० ६. ४. १४८ ), हवमर्हतीति हव्यः, प्रत्ययस्वर[४] ।

**हस्कार** < √हस् ( हसने, यहाँ प्रकाश अर्थ ) + क्विप् ( संपदादिलक्षण ), > हस् + √कृ ( करणे ) + 'अण्' प्रत्यय ( कर्मण्यण्, पा० ३. २. १ ) > हस्कार, विसर्जनीय को सकार ( अतः कृकमि०, पा० ८. ३. ४६ ), कृदुत्तरपद-प्रकृतिस्वर ( गतिकारकोपपदा०, पा० ६. २. १३९ )[५] ।

**हस्त**< (क)— √हस् + ( हसने ) + तन् प्रत्यय ( हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधुर्विस्तन्, उ० सू० ३. ८२ ) । हसति उपादत्तेऽनेन, नित्स्वर[६] ।

(ख)— √हन् (गतिकर्मा)[७] । सायण की दूसरी व्युत्पत्ति यास्क से प्रभावित है[८] ।

( तु० IE. ĝhasto 'hand' Av. zasta 'hand' )

**हस्तिन्** < हस्त + इनि प्रत्यय ( हस्ताज्जातौ, पा० ५. २. १३३ ) > हस्तिन् । हस्तिभिः, तृ० ब० = हस्तवद्भिः[९] ।

**हित** < √धा ( धारणपोषणयोः ) + 'क्त' प्रत्यय, धातु को हि आदेश ( दधातेर्हिः, पा० ७. ४. ४२ )[१०] ।

---

१. सा० ऋ० हवीमभिः – १. १२. २, द्र० स्क० ऋ० ६. ६३. ४ ।
२. ,, ,, १. ३३. २, १०१. ६, ११६. ६, तु० सा० अ० ३. ३. ४, ६. ९८. ३ ।
३. ,, ,, ३. ४९. ३ ।
४. ,, ,, हव्यम् – ३. १८. ३, द्र० हव्या – ५. ९. १ ।
५. ,, ,, १. २३. १२ ।
६. ,, ,, ३. ३५. १० ।
७. ,, ,, हस्तिभिः ५. ६४. ७ ।
८. निरु० १७ – 'हस्तो हन्तेराशुर्हनने' ।
९. सा० ऋ० ५. ६४. ७, द्र० सा० अ० हस्ती ६. ७०. २ ।
१०. ,, ,, हितम् १. २३. १४, हिते १. ४०. २ ।

**हित्वी**< √हा ( ओहाक् त्यागे ) + क्त्वा प्रत्यय, धातु को 'हि' आदेश ( जहातेश्च क्त्वि, पा० ७. ४. ४३ ), आकार को इकार निपातित ( स्नात्व्यादयश्च, पा० ७. १. ४९ )[१] ।

**हिम्या इव** <हिमा + टा, तृ० ए०, विभक्ति को ड्यादेश ( सुपां सुलुक्०, पा० ७. १. ३९ ), टिलोप, उदात्तनिवृत्तिस्वर से उदात्त । हिमा < √हन् ( हिंसागत्योः ) + मक् प्रत्यय तथा धातु को 'हि' आदेश ( हन्तेर्हि च, उ० सू० १. १३३ ) = हिम, हन्ति पद्मानीति हिमम् । हिम + अच् मत्वर्थीय ( अर्श आदिभ्यो अच्, पा० ५. २. १२७ ) > हिमा[२] । यास्क ने √हन् तथा √हि ( गति – वृद्धि ) से निर्वचन किया है[३] । भोज तथा दुर्ग ने √हि ( गतिवृद्ध्योः ) से व्युत्पन्न माना है[४] । पाणिनि तंत्र में √हन् से व्युत्पन्न है[५] ।

**हिरण्य** < √हर्य (गतिकान्त्योः) + कन्यन् प्रत्यय ( हर्यतेः कन्यन् हिरश्च, उ० सू० ५. ४९ ) तथा धातु को हिर आदेश, कित् होने से गुण का अभाव, ( हर्यति गच्छति इति हिरण्यम् – श्वे० ) आद्युदात्त ( पा० ६. १. १९७ ) । यद्यपि सायण यास्क के निर्वचन से सहमत हैं, पर उन्हें हर्य से व्युत्पन्न करना अभीष्ट है[६] । श० ब्रा० में हि + √ रम् से निर्वचन उपलब्ध होता है[७] । यास्क – √ हर्य, हित + √ रम्, हृदय + √ रम् तथा √ हृ[८] ।

**हिरण्यय**< हिरण्य + मयट् प्रत्यय विकार अर्थ में (मयड्वैतयोः०, पा० ४. ३. १४३) >हिरण्यमय>हिरण्यय, छान्दस मकारलोप निपातित ( ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानिच्छन्दसि, पा० ६. ४. १७५ ) अकारलोप ( यस्येति च, पा० ६. ४. १४८), प्रत्ययस्वर[९] ।

---

१. सा० ऋ० ९. ६६. ९ ।
२. " " १. ३४. १ ।
३. निरू० ४. २७ – 'हिमं पुनर्हन्तेर्वा हिनोतेर्वा' ।
४. सरस्व० २. २. २४३, उ० वृ० दुर्ग० १. ५५ ।
५. उ० वृ० श्वे० १. १३३, दश० ७. ३४, देव० नि० १. ७. २२ ।
६. सा० ऋ० शम्यम्—१. ३५. ४, ०पाणिः—३. ५४. ११, द्र० सा० अ० १. ३५. १ ।
७. श० ब्रा० ७. ४. १. १६—तद् यदस्य (प्रजापतेः) एतस्यां रम्यायां तन्वं देवा अरमन्त तस्माद् हिरम्यं, हिरम्यं ह वै तद्धिहरण्यमित्याचक्षते परोक्षम् ।
८. निरु० २. १०—हिरण्यं कस्माद् ? ह्रियते आयम्यमानमिति वा ह्रियते जनाज्जनमिति वा हितरमणं हृदयरमणं भवतीति वा हर्यतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणः । द्र० देव० नि० १. २. ५ ।
९. सा० ऋ० १. ७. २, २५. १३, ३५. २, ५६. १, ८५. ९, ३. ३४. ९, ८. १. २४, ५. २९, द्र० सा० अ० ६. ८२. ३. वोबू० पृ० १६६७ ।

**हुरः** < ✓ हृ ( प्रसह्यकरणे ) + क्विप्, उत्व ( बहुलं छन्दसि, पा० ७. १. १०३ )। हुर् + ङस्, ष० ए०, विभक्ति को उदात्त ( सावेकाचः०, ६. १. १६८ )[१]। ग्रासमान ✓ ह्वृ > हुर, ( वोबू० १६७१ )।

**हुरश्चित्** < हुरस् + चित् < ✓ चि ( चयने ) + क्विप्, तुक् का आगम। हुरस् < ✓ हूर्च्छा ( कौटिल्ये ) + क्विप् ( संपदादिलक्षण ), वकारलोप (राल्लोपः, पा० ६. ४. २१)>हुर् + अस् (शस्) > हुरस् + चित्, विभक्ति का अलुक् ( तत्पुरुषे कृति बहुलम्, पा० ६. ३. १४ ) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर [२]। देवराज०—

१— ✓ हुर्च्छा + क्विप् > हुर् + ✓ चिती ( संज्ञाने )।
२— ✓ हृ ( हरणे ) + विच्।
३ ✓ हृ + ✓ चि ( चयने )[३]।

**हृत्स्वसः** < हृत्सु + असः < ✓ अस् ( गतिदीप्त्यादानेषु ) + क्विप् (क्विप् च, पा० ३. २. ७६) अस् + शस्, द्वि० ब०। हृत्सु<हृदय +सु, स० ब०, हृदय को 'हृत्' आदेश (पद्दन्नोमास०, पा० ६. १. ६३), > हृत्सु + असः, विभक्ति का अलुक् ( तत्पुरुषे कृति बहुलम्, पा० ६. ३. १४ ), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर[४]। हृदय – द्र० हृदयाविधः।

**हृदयाविध्** < हृदय + विध्, हृदय < ✓ हृ ( हरणे ) + कयन् प्रत्यय तथा धातु को दुक् का आगम ( वृह्लोष्षुग्दुकौ च, उ० सू० ४. १०६), हरति सर्वमात्मगतं करोतीति हृदयं मनः – श्वे०। हृदय + ✓व्यध् (ताडने) + क्विप् प्रत्यय, पूर्वपद को दीर्घ – ( नहिवृति०, पा० ६. ३. ११६ ), कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर। हृदयाविधः—ष० ए०[५]।

**हेळ्** < ✓ हेड् ( अनादरे ) + क्विप्, हेड्। हेळः > हेड् + शस्, द्वि० ब०, सुप् के अनुदात्त होने से धातुस्वर। दो स्वरों के बीच में आने वाला डकार ळकार हो जाता है ( ऋ० प्रा० १. ५२ )[६]। ग्रासमान – ✓ हीड्, ( वोबू० १६८० )।

**हेळस्** < ✓ हेड् ( अनादरे ) + असुन् प्रत्यय भाव में, आद्युदात्त (पा० ६. १. १९७ )[७]।

---

१. सा० ऋ० ४. ३. १३।
२. „ „ १. ४२, ३।
३. देव० नि० ३. २४. १०।
४. सा० ऋ० १. ८४. १६, द्र० सा० आ १८, १. ६।
५. सा० ऋ० १. २४. ८।
६. „ „ ४. १. ४।
७. „ „ १. २४. १४, द्र० स्क० ऋ० ६. २८. ८, १६. ३. ४, देव० नि० २. १३. १।

**हेति** < √ हन् ( हिंसागत्योः ) + क्तिन् प्रत्यय कर्ता अर्थ में बाहुलक ( कृत्यल्युटो बहुलम्, पा० ३. ३. ११३), निपातन से एत्व (ऊतियूति०, पा० ३. ३. ९७), तथा अन्तोदात्त[१]। देवराज० – √ हन्, √ हि ( गतौ वृद्धौ च )[२]। गेल्डनर तथा ग्रासमान – √ हि[३]।

( तु० IE. ĝhei; to move in a lively manner, Av. zaya – 'weapon' )

**होतृ** < (क)— √ ह्वे (स्पर्धायां शब्दे च ) + तृन् ( ताच्छीलिक ), सम्प्रसारण (बहुलं छन्दसि, पा० ६. १. ३४ ), परपूर्वत्व> हुतृ, गुण = होतृ[४]।

(ख) — √ हु ( दानादनयोः ) + तृन् > होतृ, आद्युदात्त[५]। ऐतरेय ब्राह्मण में √ ह्वे ( शब्दे ) से निर्वचन किया गया है[६]। यास्क ने √ ह्वे से निर्वचन किया है, जब कि दूसरे नैरुक्त और्णवाभ ने √ हु (दानादनयोः) से किया है[७]। उज्ज्वलदत्त तथा पेरुसूरि √ हु + तृन् या तृच् से व्युत्पन्न मानते हैं[८]। होता – होतृ + सु, प्र० ए०, विभक्ति को आनङ् आदेश ( ऋदुशन०, पा० ७. १. ९४ ), उपधादीर्घ ( अप्तृन्०, पा० ६ ४. ११), हल्ङ्यादिलोप, नलोप, आद्युदात्त[९]।

( तु० होतर् – Av. zaotar )

**होतृवूर्य** < होतृ + √ वृ ( वरणे ) + क्यप् बाहुलक ( औणादिक ), उत्व ( उदोष्ठ्यपूर्वस्य०, पा० ७. १. १०२ ), दीर्घ ( हलि च, पा० ८. ३. ७७ ), होत्रा व्रियते इति होतृवूर्यो यज्ञः। अथवा – होतृ + √ वृ + क्यप् ( एतिस्तुशास्वृ०, पा० ३. १. १०९ ), तुक् का अभाव ( अनित्यमागमशासनम् ), दीर्घ, शेष पूर्ववत्। प्रत्यय के पित् होने से अनुदात्त, धातुस्वर, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर से धातुस्वर शेष रहता है[१०]।

---

१. सा० ऋ० १, १२१. १०, ३. ३०. ७, १०. १४२. ३, द्र० सा० अ० १. २६. १, ३. २६. १, ६. ५९, ३, निरु० ६. ३।

२. देव० नि० २, २० ३।

३. ऋ० ग्ला० २१५, वोबू० १६८०।

४. सा० ऋ० होतारम् – १. १. १, १२. १, होता – १. १२. ३, १३. ४, होतः ३. ७. ९, द्र० उद्० ऋ० १०. २९. १।

५. ,, ,, होतारा – १. १३. ८, होतु : ३. ३५. १०।

६. ऐ० ब्रा० १. २ – यद् वा स तत्र यथाभाजनं देवता अमुमावहामुमावहेत्या वाह्यति तदेव होतुर्होतृत्वम्।

७. निरु० ७. १५ – होतारं ह्वातारम् जुहोतेर्होता इति और्णवाभः।

८. उ० वृ० २. ९६, ओं० प० २. ३४१. द्र० ऋ० ग्ला० २१५ वोबू० १६८१।

९. सा० ऋ० १. १२. ३, १३. ४।

१०. सा० ऋ० १. ३१. ३।

**होत्रम्** < √ हु ( दानादनयोः ) + त्रन् प्रत्यय (हुयामाश्रुमसिभ्यस्त्रन्, उ० सू० ४. १७०), हूयत इति होत्रम् आहुतिः – श्वे०। प्रत्यय से अन्तोदात्त[1]। होत्रा < होत्र + टाप्, स्त्री०[2]।

**होमन्** < (क)— √ ह्वे ( शब्दे ) > ह्वा + मनिन् प्रत्यय ( आतो मनिन्०, पा० ३. २. ७४ ), 'ह्वः' की अनुवृत्ति कर सम्प्रसारण (बहुलं छन्दसि, पा० ६. १. ३४ )।

(ख)— √ हु + मनिन् प्रत्यय निपातित ( नामन्सामन्०, उ० सू० ४. १६२ ) तथा निपातन से ही अन्तोदात्त[3]। श्वेतवनवासी ने इमनिच् प्रत्यय किया है। यहाँ चित् होने से अनुदात्त होता है[4]। ग्रासमान – √हु, (वोबू० १६८३ )।

**ह्वरस्** < √ ह्वृ ( कौटिल्ये ) + असुन् प्रत्यय भाव में, ह्वरति कुटिलो भवत्यनेन[5]।

**ह्वारः** < √ ह्वृ ( कौटिल्ये ) + णिच् + अच् (नन्दिग्रहि०, पा० ३. १. १३४), णिलोप ( णेरनिटि, पा० ६. ४. ५१), ह्वारयतीति ह्वारः, अन्तोदात्त (चितः, पा० ६. १. १६३)[6]। अन्यत्र सायण ने उपर्युक्त व्युत्पत्ति के साथ √ह्वृ + घञ् कर्म में = ह्वर्यते कौटिल्येन प्राप्यत इति ह्वारः – व्युत्पति दी है। इस पक्ष में अन्तोदात्त ( कर्षात्वतः ०, पा० ६. १. १५९ ) से होता है[7]।

**ह्वार्य** < √ ह्वृ ( कौटिल्ये ) + ण्यत् ( ऋहलोर्ण्यत्, पा० ३. १. १२४ ), आदि-वृद्धि, तित्स्वरित[8]। देवराज – √ ह्वृ ( कौटिल्य – अत्तिकर्मा )[9]।

* * *

---

१. सा० ऋ० ३. १७. २, द्र० ऋ० ग्ला० २१५, वोबू० १६८२।

२. ,, ,, १. १८. ८, ०म० १. २२. १०, ०या० १. १२९. ७, १५१. ३, होत्रा ३. ६२. ३, द्र० देव० नि० ३. ११. ३५, वोबू० १६८२।

३. ,, ,, १. ८४. १८।

४. उ० वृ० श्वे० ४. १६२ की दूसरी वृत्ति।

५. सा० ऋ० २. २३. ६, द्र० देव० नि० २. १३. ७, ऋ० ग्ला० २१६, वोबू० १६८४।

६. ,, ,, १. १४१. ७, द्र० वोबू० १६८४।

७. सा० अ० ४. १. २।

८. सा० ऋ० ह्वार्याणाम् – ५. ९. ४, द्र० वोबू० १६८४।

९. देव० नि० १. १४. २४।

परिशिष्ट--१

# अनुक्रमणिका

अंश ७, १०७, ११२
अकर्मक १३६
अकारान्त १०७
अकृच्छ्रार्थ ३१४
अक्षर ६, ७, १५, १६, ८६, २१८
अक्षरद्वय ११८
अखण्ड प्रातिपदिक १७
अग्नि १७, १८, १६, २१, ५३, २१६, २६२
अग्निहोत्र इष्टि १७
अङ्ग २१, १६५
अङ्गविशेष १६५
अङ्गुलिवाचक २४
अज्ञात १७७
अतिदिष्ट ८७
अतिपरोक्षवृत्ति ४, ६, ७
अतिरिक्त २६१
अस्तिकर्मा १०१, २५०, ३२७
अथर्ववेद ३
अदादि ४१
अदिति ७७
अद्रव्यप्रकर्ष २४०
अद्वितीय ६
अद्विहल् ७८
अधिकरण २३, ६३, ७३, ८७, ६६, १०१, १३१, १३७, १४४, १७१, १७४, १६७, २४७, ३०५, ३०७, ३११, ३२२
अधिकार ३८
अधिदेवता ५३
अध्याय ५
अनवगत ६, २८, ३१
अनवगम ५

अनवच्छिन्नता ७
अनवधारण ३३, ८०, २९६
अनवधारणता ३०७
अनादर २२१
अनादेश २३५, २७३
अनित्य ६८, १४६
अनुकर्षण ३१८
अनुक्त २८१
अनुदात्त २४, ३१, ३२, ३९, ५२, ६२, ७९, ८४, ९३, ९४, ९५, ९७, १०८, १११, १२४, १३४, १३९, १४१, १६२, १९२, १९७, २२१, २७९, २८४, २८६, २८७, २९३, ३०६, ३१४, ३१६, ३२२, ३२५, ३२६, ३२७
अनुदात्तेत् ८८
अनुधावन ४
अनुनासिक ४४, ५९, ७४, ८९, ९९, ११२, ११६, १२८, १८१, २२०, २४२
अनुनासिकलोप १२८, १६४, १८१, २०४, २१७, २२०, २४२, २६४, २९१
अनुमान ३
अनुमान-गम्य ३
अनुवृत्ति ३५, ५६, ८१, ९२, १०८, १२९, १४६, १४९, २४१, २४४, २५१, २५२, २६८, २७७, २८९, २९७, ३१२, ३१७, ३१८, ३२३, ३२७
अनुसरण १९४
अनुशीलन ५
अनुस्वार २१, ६०, २९५
अनेकशः २९३
अनैमित्तिक ८२
अन्त ९, ३१३
अन्त अक्षर २१८
अन्तरंग ३१८
अन्तरिक्ष ४५, २०९
अन्तरिक्ष नाम ४३
अन्तरिक्षवचन २०६
अन्तर्विरोध ७
अन्तःसाक्ष्य १७०
अन्तस् १, ९
अन्तस्वरित २९

अन्तादेश ६५, ७३, १०७, ११६, १३३, १४७, १५१, १६५, १७३, २१३, २१५, २१८, २२६, २३६, २४०, २५६, २६५, २६८, २७४, २८६, २९९, ३०४, ३०६, ३१२

अन्तिम ५३, ६९, २८९

अन्तोदात्त १३, १७, १९, २०, २४, २८, ३०, ३१, ३२, ३६, ४६, ४७, ५२, ५४, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ७०, ७१, ७२, ७३, ७७, ७८, ८०, ८१, ८३, ८४, ९०, ९१, ९२, ९३, ९५, ९६, ९७, १०६, ११०, ११२, ११४, ११७, १२०, १२४, १२७, १२८, १३३, १३४, १३५, १३७, १३८, १३९, १४०, १४२, १४३, १४५, १४७, १५१, १५८, १६०, १६१, १६५, १६६, १६८, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७७, १८२, १८३, १८४, १८५, १९७, १९८, २००, २०२, २०४, २०५, २०६, २०८, २०९, २१०, २१२, २१३, २३३, २३४, २३५, २३६, २३७, २४०, २४१, २४२, २४४, २४६, २४७, २५१, २५३, २५४, २५५, २५६, २५८, २५९, २६३, २६५, २७१, २७३, २७६, २७८, २८२, २९०, २९१, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०४, ३०५, ३०६, ३०८, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१४, ३१८, ३१९, ३२१, ३२२, ३२६, ३२७

अन्त्य ३३, ९६, ९९, १०५, १०७, १३०, १८५, १९८, २५९, ३११

अन्त्यलोप १९८, २३६, २४०, २६८, ३००, ३०८

अन्त्यविकार १८५

अन्न ५८

अन्ननाम १६२

अन्नवाचक ३९

अपपाठ २३२

अपर्याप्त ६

अपादान २४९, २६७

अपारशक्ति ११८

अपूर्व ७

अपृक्तलोप १४०

अपेक्षा २

अपेक्षित ७

अप्रतिषेध २७७

अप्रतिहत १४१

अभाव १८, २२, २३, २७, ४०, ४१, ४४, ४८, ५२, ५३, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७६, ८०, ८६, ८८, ९०, ९२, ९४, ९६,

१००, १०१, १०२, ०४, १०५, १०७, ११०, ११४, ११५, ११६, १२७, १३१, १३४, १३५, १३६, १३८, १४१, १४६, १४७, १५३, १५७, १५८, १६६, १६७, १७०, १७२, १७३, १७४, १७६, १८१, १८ , १८६, १८६, १९०, १९२, १९५, १९६, १९७, २००, २०३, २०९, २१०, २११, २१२, २१५, २१७, २१९, २२१, २२२, २२७, २३४, २३५, २३६, २३८, २३९, २४३, २४४, २४८, २५०, २५२, २६४, २६६, २७४, २७९, २८०, २८३, २८४, २८६, २८७, २८९, २९० २९१, २९४, २९८, २९९, ३००, ३०२, ३०४, ३०७, ३१२, ३१५, ३१६, ३१७, ३१९, ३२४, ३२६

अभिप्राय ५

अभिप्रेत १३६

अभिभवार्थ १३९

अभिमत २५७, ३०९

अभिव्यक्ति १५७

अभिहित ७

अभीष्ट ७२, ९८, १०५, ११७, १४८, १९९, २१६, २२२, २२८, २४०, २४८, २५२, २५७, २६७, २६९, ३१२, ३१३, ३२४

अभीष्टि ३०२

अभूततद्भाव १०८

अभेद २४४, २४५

अभ्यस्त १६९, १७६, २२८

अभ्यस्तसंज्ञा ३६

अभ्यस्तस्वर ७५

अभ्यास ३७, ४४, ५५, ८०, ८२, ९४, १२६, १५७, १६२, १६४, १७२, १९८, १९९, २३४, २८३, २९९

अभ्यासकार्य १५७, १८१, १९४

अभ्यास-दीर्घ ७८, १९९, २८३, २९३

अरणी ५३

अरण्य ५३, ८३

अर्क ३

अर्थ २, ४, ५, ६, ८, ९, ५८, १०७, १०८, १०९, ११५, ११८, ११९, १२०, १२८, १३०, १३६, १३९, १४०, १४३, १४४, १४८, १५२, १६२, १६८, १६९, १७०, १७१, १७२, १७६, १७७, १८१, १८२, १८४, १८५, १९२, २०६, २१९, २२८, २२९, २३५, २३६, २३८, २३९, २४०, २४३, २४४, २४५, २४९, २६८, २८८, २९२, २९६, ३१४, ३१७, ३२०, ३२१, ३२३, ३२४, ३२६

अर्थज्ञान २
अर्थनिर्वचन १३६, २८४
अर्थसंकोच ३१६
अर्थस्फीति २
अर्थान्तर ६
अर्थासम्भव २३६
अर्थोन्मीलन १
अर्ध २२३
अर्ह् अर्थ २२९, ३०४
अर्हार्थ १०८, ११९
अलुक् ४४, ९८, ११३, १५२, १९९, २०३, २११, २३५, २४७, २५७, २८५, २९३, ३२५
अवगृहीत ८०, २८८, २९३
अवग्रह ४, ५, ३३, ७२, ११४, २७२, २९६, ३०७
अवग्रहाभाव ११४, २४२
अवयव-संस्थान १९५
अवान्तरभूत ४
अविदित १०७, ३०२
अविद्वान् १
अविभक्त २६६
अव्यय २८८
अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर १४, १६, १७, २०, २३, २४, २५, २७, ३०, ३३, ३६, ३८, ४१, ४३, ४४, ४८, ४९, ५१, ५२, ५४, ५५, ५६, ६५, ६६, ६८, ६९, ७०, ७३, २१५, २१६, २१७, २२९
अव्ययसंज्ञा २८, ७९, २४१,
अव्ययीभाव-समास ४५
अव्यवस्थित ६
अव्युत्पन्न ७, २४०, २५५
अश्मा ६७
अश्वताडनी १२८
अश्वनाम २५
अश्वबन्धन १२३
अश्वमेध १४०
अश्वाजनी १६५

अष्टक ८
अष्टाध्यायी ७
असंज्ञा २८८
असम्भव ५, ११५
असुरवाचक ७२
अस्तित्व १६०
अस्पष्ट २८८
अहर्नाम १५४
अहर्वाची २०५
आकलन ७
आकाश ५२
आकृतिगण ४३, ६७, १३५, १३६, १७५, २६७
आख्यात ३, १३३, १५२
आख्यातरूप ६६, १४८, १५२, २७०
आगम ८, १३, १८, २०, २१, २४, २७ ३७, ३८, ३९, ४१, ४२, ४३, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५८, ६०, ६१, ६४, ६८, ७३, ७४, ७७, ७८, ७९, ८२, ८६, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९९, १००, ११६, ११८, १२३, १२४, १२६, १२९, १३१, १३४, १४०, १४२, १४७, १५३, १५४, १५८, १६०, १६१, १६७, १६८, १६९, १७४, १७६, १८३, १८४, १८५, १९८, २००, २०१, २०३, २०६, २०७, २०८, २०९, २११, २१२, २१५, २२३, २३०, २३२, २३३, २३५, २३७, २३८, २४२, २४६, २४८, २४९, २५१, २५२, २५४, २५५, २५८, २६४, २६९, २७२, २७३, २७५, २७७, २७८, २८२, २८५, २८९, २९३, २९८, ३०४, ३०६, ३१०, ३११, ३१४, ३१६, ३२१, ३२२, ३२५
आगमानुशासन ६८
आचार अर्थ १७२
आचार्य ५, ८
आतिशायनिक ९७, ११९, २०७, २३६, २६९, २७९
आत्मनेपद ८८, १०८
आत्रेय ५
आदि ८९, ११२, १२०, १६१, १६४, २१२
आदि उदात्त २२, ८९, ९४, १२६, १३३, १६६, १६८, १६९, १७६, १९९, २२८, २४४, २४८, २५०, २७४, २७६, २८३, ३०५, ३१४, ३१५
आदिलोप २१२
आदिवृद्धि १२०, १४६, ३२७

आदेश १३, १७, २६, ४२, ४५, ५२, ५३, ६४, ७१, ७२, ७३, ७८, ८०, ८२, ८४, ८५, ८६, ८८, ८६, ६१, ६५, ६७, ६८, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०६, १०६, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११६, १२४, १२५, १२६, १२८, १३०, १३१, १३३, १३५ १३६, १३७, १४१, १४२, १४४, १५७, १५८, १५६, १६१, १६४, १६५, १७२, १७३, १७५, १८५, १८६, १८७, १८८, १६०, १६१, १६२, २००, २०२, २०४, २०६, २०७, २०६, २११, २१२, २१३, २१५, २१७, २१८, २२१, २२२, २२७ २२८, २२६, २३१, २३३, २३४, २३५, २३७, २३८, २३६, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४६, २५१, २५६, २५८, २६४, २६६, २७०, २७४, २७८, २७६, २८४, २८५, २८६, २८८, २६१, २६३, २६४, २६७, २६८, ३००, ३०२, ३०५, ३०६, ३११, ३१४, ३१५, ३१७, ३१८, ३१६, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६

आद्यन्त ४०, २३०, २६४, ३२०

आद्यन्त-विपर्यय २३०, ३१२

आद्युदात्त १३, १४, १६, १६, २३, २४, २५, २६, ३५, ३६, ३७, ३८, ३६, ४०, ४१, ४२, ४३, ४६, ५०, ५२, ५३, ५४, ५७, ५८, ५६, ६०, ६२, ६३, ६४, ६७, ६८, ६६, ७०, ७२, ७४, ७६, ७६, ८०, ८१, ८२, ८३, ८६, ८८, ६१, ६२, ६३, ६४, ६७, ६८, १०१, १०२, १०६, १११, ११२, ११५, ११७, ११८, ११६, १२०, १२४, १२८, १२६, १३५, १३६, १३७, १३६, १४१, १४२, १४३, १४४, १४६, १४७, १५०, १५१, १५३, १५४, १५७, १५८, १६०, १६१, १६२, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १७०, १७२, १७४, १७५, १७६, १७७, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८८, १८६, १६०, १६१, १६३, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १६६, २०१, २०३, २०५, २०६, २०७, २१३, २१४, २१६, २१७, २१८, २२२, २२८, २२६, २३२, २३५, २३८, २४४, २४५, २४६, २४७, २५०, २५२, २५३, २५५, २५७, २५८, २५६, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६६, २७१, २७३, २७४, २७६, २७७, २७८, २८०, २८१, २८२, २८६, २८६, २६०, २६२, २६५, २६६, २६७, २६८, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१६, ३१७, ३१८, ३१६, ३२१, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६

आधार ७, २६१, ३०४

आधुनिक ३१६

आधृत ३०८, ३११

आनुषङ्गिकरूप ५

आन्तरिक ७

आपत्ति ३८, २८५

आमंत्रित १६, ७४, ११०, १२४, १४६, १५०, १६२, १६६, २८६
आमंत्रित निघात ११०, २२८, २५६
आम्रेडित १४१
आरण्यक ४, ७, ८
आरोप ६
आर्थीधारणा २
आर्धधातुक १५८, १६६, २८२
आर्धधातुक-लक्षण ११७, ११८
आर्धधातुक-लक्षण-गुण १३५
आशय २
आश्रित १२३
आहवनीय १८
आह्लादित ११५
इगुपधलक्षण १८६
इंगित ५
इच्छा १८४
इच्छाशक्ति १३६
इतिहास १, ६
इतिहासकार २८
इष्टवद्भाव ६२
उच्चरित ६४, २६२
उच्चारण ७३, ३०३
उणादिवृत्तिकार १६, २०, २१, ५०, ५७, १३६, १३७, १४०, १४३, २३०, २४७, २४६
उणादिसूत्र ६
उत्तर १७२
उत्तरपद १६, २२, ६४, २०८, ३०५, ३१४, ३१५
उत्तरपदप्रकृतिस्वर ४२, ६६
उत्तरपदादि २०१, २०२
उत्तरपदाद्युदात्त ५०, ५१, ५२, ६५, ६६, १०२, १६६, २३६, २६१, ३०३
उत्तरपदान्तोदात्त २३, ३०, ३१, ३३, ३४, ३५, ३७, ३८, ४०, ४४, ४७, ४६, ५७, ६२, ६४, ६५, ७०, ७१, ७२, ७४, ७६, ७७, ८२, ८७, ६८, १००, १३२, १७४, १६०, २४०, २४३, ३०३, ३०७, ३१३, ३१४
उत्पन्न २६१, २६२

उदात्त १७, २०, २२, २४, २७, ३१, ३७, ४०, ४२, ५०, ५५, ५६, ६३, ६४, ७२, ७५, ७६, ७७, ८०, ८६, ९३, ९७, १०३, १०४, १०५, १०६, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११५, ११७, ११८, १२४, १३१, १३२, १३५, १३८, १३९, १४०, १४५, १४६, १५०, १५२, १६२, १६३, १६५, १६६, १७२, १७६, १८७, १९१, १९२, १९४, १९७, २००, २०२, २०४, २१२, २१७, २२१, २३६, २३७, २३८, २४१, २४३, २४५, २५५, २५६, २६०, २६४, २६५, २७१, २७४, २७५, २८४, २८५, २८७, ३०१, ३०४, ३१०, ३१६, ३२०, ३२१, ३२४, ३२५
उदात्त (=वदान्य) ३१६
उदात्तनिवृत्तिस्वर १३७, १४०, १५०, २५६, ३०१, ३२४
उद्घोष ५
उद्देश्य ३, ९
उद्धरण ६, ८
उद्धृत ८, १७, १२५, २३०, २८४, २९३, ३२१
उन्मीलित २
उपचारवश १५४
उपजन १९, ५४, ५६, ६७, ८०, ८८, ८९, १००, १०९, ११६, १२६, १३८, १८८, १९९, २०६, २०७, २२७, २८२, २८५, २९८, ३१३
उपधा ८४, १११, १४०, १४६, १६६, १८५, २२९, २३३, २४२, २७०, २७१, २९३
उपधादीर्घ ३४, ९६, १०३, ११२, १४१, १९०, २१२, २५९, २८८, ३२६
उपधालोप १४, २०, ३५, १३९, १४९, १५४, १६५, ३०८, ३१३
उपधावृद्धि ७५, ७७, ८५, ९०, १२९, १४६, १६१, १६६, २८१, ३११
उपधाह्रस्व १४०
उपनिषद् ४, ८, ५३, ७६, २७२
उपपद २४९, २७५
उपपद समास ९४, ११२, ३०४
उपपदह्रस्व २१२
उपमान १६८
उपयुक्त ७०, ८९, १२७, १३२, १६१, १८१, १९१, २३८, २६३, २७५, २८८, २९१, २९८, ३१२, ३१९
उपयोग ६, ७, ८, ९, १४०
उपलक्षण २९४, ३०५
उपलब्ध ९, १६०, २१४, ३२४
उपसंख्यान ७, ८८

उपसर्ग ३, ३६, ४७, ४८, ५६, ६७, ११६, २०२, २१६, २४३, २८६, ३१५
उपसर्गस्वर ६७
उपसर्गान्तलोप ६६
उपसर्जनह्रस्व ३१
उभयत्र १३०
उभयपदप्रकृतिस्वर १६, ६०, ६१, १८२, २०६, २४६
उल्लेख २, ६, १५
ऋगर्थ ४
ऋग्वेद १, ३, ७, ८, १५, ७२, १०४, १०५, १०७, ११३
ऋग्वेद संहिता २३१, २३६, २४०
ऋग्वेदी ५
ऋग्वेदीय २५२
ऋषि १, ३, ४, २१, ७४, ११५, १२४, २१३
एकवचन २५८, २७८
एकशेष २३४
एकादेश ३२, ४७, १०८, १३६, १६२, २०२, २१७
एकादेश उदात्त १३६, १६२, २८७
एकादेश स्वर ४१, ५६, ६४, १६२, २३८
एकादेश स्वरित ४७
एकाह यज्ञ ८१
ओजस् ६६
ओजिष्ठ ६६
ओजीयस् ६६
ऐश्वर्यकर्मा ६१, ११४, २०४
औचित्य ११५
औणादिक २३, २४, २५, २७, २६, ३०, ४७, ४८, ५०, ५१, ५४, ५६, ६२, ६४, ६६, ७३, ७४, ७६, ८०, ८२, ८६, ६२, ६३, ६४, १०८, ११६, ११७, ११८, ११६, १२५, १२६, १३५, १३८, १३६, १४१, १४२, १५०, १५३, १५४, १५६, १६०, १६६, १६७, १६८, १७४, १७६, १८१, १८३, १८७, १८८, १६०, १६१, १६२, १६५, १६७, २००, २०१, २०८, २११, २१३, २१६, २१७, २२२, २२८, २२६, २३२, २३३, २३६, २३८, २४३, २४४, २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५८, २५६, २६५, २६७, २७२, २७४, २७५, २७६, २७८, २७६, २८३, २८५, २८७, २८६, २६६, २६६, ३०२, ३०४, ३०६, ३०७, ३१०, ३१२, ३१३, ३१६, ३१८, ३२६

औपसंख्यानिक १४५, १६५, २१०
कक्षीवान् १५४
कक्ष्या १२३
कच्छप १४
कथन २, ४, ५, ८
कनीन १२५
कनीनका १२५
कनीना १२५
कन्यका १२५
कन्या १२५
कपिष्ठल कठ संहिता १५२
कम्पन १०६
करण १४, ४१, ४५, ४७, ५८, ७८, ८०, ८६, १००, १३४, १३६, १४५, १५०, १६७, १६६, १७५, १८२, १६३, १६७, २४२, २४७, २४६, २५३, २६७, २७४, ३१३, ३१४
कर्त्ता ७५, १०२, १०५, १३६, १३८, १३६, १४३, १४४, १६८, १८१, १६७, २०६, २१०, २४४, २४६, २५०, २८३, २८४, ३२६
कर्म १४, १६, २७, ३४, ३५, ४१, ४३, ६२, ६६, ७६, ७६, ८४, ८६, ६१, ६५, ६६, १०१, १०२, ११०, १११, ११६, ११७, १२०, १३५, १३८, १३६, १४१, १४५, १६६, १६७, २००, २११, २२०, २२६, २३७, २४०, २४१, २६८, २७४, २७७, २८२, २८६, २६८, ३००, ३०२, ३२७
कल्पना ३, १५, २४
कवक ३१७
कवि ८५
कशा १२८
काठिन्य १५१,
काण्ड ६, ८
कातंत्र ८, २६४
कान्तिकर्मा १५७, १५८, २६२
कान्तिवचन १६३
काम १२३
कारक ६, २६२
कारिका ५
कार्य २६२
काल १४८, १५२

कालान्तर १
काल्पनिक २१६, २८५
काव्य ११५
काशिका २७८
काशिकाकार २४, २३२, २७८
काष्ठदाह १८
कित् १४, ३७, १८१, १८९, २१२, २३५, २५०, २५१, २६६, २८४, २८९, २९१, २९९, ३००, ३०७, ३०८, ३१२, ३१५, ३१६, ३१७, ३२४
कित्करणसामर्थ्य २२८
किद्भाव १४
कीटविशेष १२०
कीर्तिवचन २३६
कुत्व १४, ११८, १४९, १५१, १५४, १७२, २००, २४८, २७३, २७४, २८८
कुत्वाभाव १३५, १७४, २८१, २९४
कुत्सा अर्थ १७६
कूटस्थ १५
कृत्य अर्थ २१९
कृत्यार्थ ८४
कृत्स्वर १८, ३७, ९२, ९८, २८३, ३१४
कृदन्त रूप ३
कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर ३०, ३३, ३८, ४२, ४५, ५०, ५१, ६२, ६५, ७४, ७५, ७६; ७८, ८०, ८१, ८३, ८४, ८६, ९४, ९८, १००, १०१, १०२, १०४, १०८, १०९, ११२, ११३, १२४, १२८, १३८, १४०; १४४, १४९, १५३, १५९, १७३, १८२, १९०, १९१, १९४, १९८, २०२, २०५, २०७, २०९, २२२, २२८, २२९, २३३, २३७, २४१, २४२, २४३, २४५, २५४, २६३, २६५, २७१, २८१, २८२, २८५, २८६, २८८, २९१, २९४, २९५, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३१९, ३२३, ३२५, ३२६
कृदुत्तरपदस्वर ५०, ७३
कृदुत्तरस्वर ३१३, ३१४
कृष्णयजुर्वेद ३
कोटि २, २८
कौटिल्य ३२७
कौटिल्यार्थ १२३
क्यजन्त १३२

क्रादिनियम १७२
क्रिया ६५, १३६, १८१, २०७
क्रियाविशेषण २८८
क्रिया शब्द १५४, ३०७
क्रुध्यतिकर्मा १७३
क्रोध १०६, २४६
क्रोधकर्मा २०१
क्लासिकल संस्कृत १२५
क्षमता ६
क्षीरवाची ३०६
क्षीर विकृति ८४
क्षेत्र २
खम्भा १४०
गति १८, ४०, ४१, ४६, ७६, ८७, ९९, १००, १०१, ११५, १८१, २१९, २२०, २२३, २४२, २८६, २९३
गतिकर्मा ४६, ६८, १७१, १७६, १७७, १८६, २४६, २५९, २६६, ३२३
गतिसंज्ञा १५८
गतिसमास ७८, १००
गतिस्वर ४१, ४२, ४५, ४६, ४७, ६३, ७९, ८०, ८४, ८७, ९९, ११७, १५१, २०१, २४१, २९३
गत्यर्थ १२७
गत्यर्थक ७५, ९२, ११०, १२८, १४८, १७३, १८१
गन्तृवचन २४२
गमन ७५
गम्य ३, ७
गार्हपत्य १८
गीता १५
गुण २२, ३७, ३८, ४०, ४३, ५४, ५५, ५७, ५८, ६१, ६२, ७४, ८०, ८८, ९२, १०१, ११४, ११७, ११८, ११९, १२६, १३५, १३६, १३९, १४१, १४७, १५१, १६३, १६४, १६८, १७०, १७२, १७३, १७६, १८१, १८३, १८४, १८८, १८९, २००, २०६, २०९, २१२, २१३, २१७, २२२, २२३, २२७, २२८, २३५, २३९, २५०, २६६, २७८, २८४, २८६, २८९, २९०, २९१, २९३, २९५, २९६, २९७, २९९, ३००, ३०७, ३१२, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३२२, ३२४, ३२६
गुणाभाव ३७, ६२, ८३, ९२, १३३, १५७, १७०, १७२, १९९, २०१, २५०, २५१, २६६

गुहा १०६
गृहनाम २८
गोत्र अर्थ १३३
ग्रन्थ ७, १५
ग्रहण १४४, १५०, १६६
ग्रामादि १४७
घोषा १५४
घोषित ६
चतुर्थी ४५, १७६
चरम ८
चर्चा ५
चाबुक १२८
चित् १३, २५१, ३२७
चित्र १५
चित्स्वर ८५, ६२, १०१, १३६, १५७, १६५, २०१, २०५, २०८, २०६, २४२, २६८, २७४; २८२
चिन्तन १
चिन्त्य १०६
चुरादि २४५
छन्द ८१
छन्दस् १
छन्दोगत २८८
छान्दस १४, १८, २३, २७, ३०, ३४. ३६, ४०, ४५, ५०, ५१, ५३, ५६, ६०, ६२, ६३, ६४, ६६, ६७, ६८, ७१, ७२, ७३, ७४, ७८, ७६. ८०, ८१, ८२, ८५, ८८, ८६, ६१, ६६, ६६, १००, १०१, १०२, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, ११०, १११, ११६, १२०, १२३, १२४. १२५, १२६, १२६, १३०, १३१, १३२, १३५, १३८, १४०, १४१, १४२, १४६, १५१, १५२, १५७, १५८, १५६, १६१, १६५, १७०, १७१, १७३, १७४, १७६, १८३, १८४, १८५, १८६, १८८, १८६, १६२, १६५, १६६, १६७, १६८, १६६, २००, २०४, २०६, २०७, २१०, २११, २१५, २१७, २१६, २२०, २२१, २२७. २२८, २३३, २३४, २३५, २३६, २३६, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४७, २४८, २४६, २५०, २५३, २५५, २५६, २५८, २६४, २६८, २६६, २७०, २७५, २७७, २७६, २८०, २८३, २८५, २८६, २८७, २८८, २६४, २६५, २६८, २६६, ३००, ३०२. ३०३, ३०७, ३०८, ३१३, ३१५, ३२०, ३२२, ३२४
छान्दसणत्व ११६

छान्दस दीर्घ १३, १४, ३४, ७८, ६५, १३०, १६०, १६३, २१७, २२१, २५८, २५६, २७७
छान्दस रूप १५८, १७४, २८३, २६६, ३०६
छान्दस वर्णविकार ३०७
छान्दस स्वर २४७
छान्दस ह्रस्व १४, २७, ८८, ६१, २२२, २८३
छान्दोग्य ५
जननी १, २८
जिज्ञासा ७
ज्ञान ५, ७५
ज्ञानकर्मा १५८
ज्येष्ठ २०५
त्रिस्वर १६७, २६४
टीका ६
टीकाकार ७
टिलोप १६, ५७, ७७, ६२, ६७, ११४, ११६, ११६, १२७, १३६, १४८, १५०, १६६, २१६, २२७, २३४, २४१, २५६, २५७, २७५, २७६, २८६, ३०४, ३२१, ३२४
णिलुक् २७२
णिलोप ६४, १६६, १६७, १६५, २०८, २१५, २५६, २६४, २६७, २६५, ३२७
तत्पुरुष ३०, ३६, ४६, १५२, २८७
तद्धित २, ६
तन्तु ३
ताच्छीलिक २२, ८६, ६१, १०६, १३१, १४१, २४४, ३२६
ताच्छील्य १६२, १७०, १७२
ताडन १६६
तादर्थ्य ४५
तित्स्वर ३७
तित्स्वरित २७, ३१, ४२, ७०, ११८, १२७, १२६, १३७, २०३, २३८, २३६, ३२७
तुमर्थ २५, ८२, ६१, ६४, १०१, १५६, १७४, १७६, २०३, २१०, २४१, २८३, २६२, ३२०
तृणवाचक ५८
तृतीया १०६
तृतीयान्तरूप २६७
तृतीया समास १०६, १५३

ञिचक्रादिगण १९०
त्वरा ६
थाथादिस्वर १७४
दण्डी ६
दशपादी उणादिवृत्तिकार १५३, २८६, २९४
दशपादी वृत्तिकार २३६, २९४
दहन १८
दानकर्मा २६०, २९८, ३१०
दानार्थक १६३
दासीभारादि १२०
दासीभारादित्वात् ४७, १४४, १५९, २३५, २८१, २९३
दिवोदासादि १०९, २४४
दीर्घ १४, १८, १९, २९, ३२, ३७, ४०, ४१, ४७, ४८, ५०, ५७, ६६, ६७, ६८, ८२, ८८, ९४, १०२, ११०, १११, ११२, ११६, १२८, १३२, १४६, १४७, १५९, १६३, १६६, १६९, १७२, १७४, १७५, १७६, १८४, १८६, १८८, १९०, १९२, १९९, २०२, २०३, २०७, २०८, २१२, २१३, २१६, २१७, २१८, २२१, २२२, २२९, २३०, २३६, २३८, २४२, २४३, २५०, २५८, २६६, २७१, २८०, २८२, २८७, २८९, २९२, ३१५, ३१६, ३२५, ३२६
दीर्घरूप २८८
दीर्घभाव १४६, १५७
दुरूह १, ५
दुरूहता २७२
दृशिग्रहण १०८
दृष्टि ५, ६, ११५, १३६, २३८, २९१, २९३
दृष्टिगत ६
दृष्टिगोचर २४०
देव ५८
देवता ६८
देवमाता २८
देवलोक २९२
देवसेना १७
द्यावापृथिवी २७३
द्योतित १९९
द्वन्द्व १९०
द्वन्द्व समास १९, ९०, १०४, २०५

द्वार ५
द्वितीया २५३, २७८, २८५, २९३
द्वितीया तत्पुरुष १५२
द्वितीया विभक्ति २११
द्विर्भाव ३७, ४४, ७८, ७९, ८२, १६१, १६२, १६४, १७२, १७३, १७४, १९४, ३१५
द्विर्वचन ९३, १६१, १६४, १६५, १८४, १९४, १९८, १९९, २०९, २३४, २७९, २८३, ३१५
द्विवचन १७५
द्विवचनान्त ८१
द्विविकरणता ८५
धन १९७
धनवाची ३०७
धरातल ७
धातु ६, १८, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४८, ५०, ५१, ५२, ५७, ६३, ७४, ७५, ७७, ७८, ८०, ८३, ८४, ८५, ९१, ९४, ९९, १०१, १०६, १०९, ११२, ११६, ११७, १३०, १३५, १३७, १३८, १३९, १४१, १४२, १४३, १४७, १५१, १५७, १५८, १६१, १६४, १६५, १६८, १६९, १७३, १७४, १७५, १७७, १८९, १९१, २०२, २०३, २०८, २०९, २११, २१२, २१६, २१८, २२२, २२३, २२९, २३०, २३१, २३४, २३७, २३८, २४४, २४५, २४६, २४९, २५४, २६४, २६७, २७०, २७५, २८३, २८८, २९०, २९१, २९५, ३०१, ३०२, ३०६, ३१०, ३१८, ३२०, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५
धातुगत ४३, १३६, २५१
धातुज ६
धातुपाठ ७८
धातुलोप २४९
धातुस्वर ५२, ६१, ६२, ८८, ९५, १०४, ११२, ११९, १२८, १३८, १४६, १४७, १५३, १५४, १६०, १६३, १९७, १९८, २२१, २८३, २८७, ३१४, ३१६, ३२२, ३२५, ३२६
धान्य २११
धारणा २
ध्वनि ३, १५२
ध्वनिपरिवर्तन ८
ध्वानिकपरिवर्तन २
नञ्तत्पुरुष ७०

नञ्बहुव्रीहि २५
नञ्समास २३, २७, ३८, ४३, ४४, ४५, ४६, ५१, ५२, ५३, ५५, ५६, ६६, ७०, ७३, २१७
नञ्स्वर २२, २७, ३०, ३५, ४३, ४५, ४६, ५३, ५४, ६६, १८२
नदी १७७
नदीवाचक ७२
नयन २६२
नर्तक १०६
नर्तन १०६
नहुष ५७
नाम ३, १४, २१, ६०, ८१, ९९, ११५, १२४, १३३, १३७, १५२, १६६, १८३, १८८, २१३, ३१६
नामकरण २३०
नामपद ९६, १५२, २८०
नामरूप १
निगूढ ९
निघण्टु ५, ६, २४, २५, ५२, १५७
निघात ११८
नित् १६, ३५, १८३, २७८, २८६, ३१२, ३१७, ३१८
नित्स्वर १६, २१, ५२, ८६, ८९, ११६, १२६, १२७, १३७, १४५, १५१, १५७, १५८, १६७, १७६, १८६, १९३, १९६, २०६, २०९, २१०, २१२, २१९, २२१, २३३, २३४, २३५, २४६, २४८, २४९, २६४, २६५, २६७, २६८, २७१, ३०१, ३२०, ३२३
निपात ३, २८५
निपातन ७, २०, २१, २२, ३५, ४०, ४२, ७४, ७९, ८७, ९१, ९५, ९६, १०५, ११५, ११६, १२४, १३७, १४०, १५८, १६४, १७५, १८२, १८३, २०१, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २२९, २३०, २३१, २३४, २३५, २३६, २३७, २३९, २४७, २५०, २५७, २६४, २६६, २८१, २८७, २९४, २९९, ३०४, ३०५, ३१०, ३११, ३२६, ३२७
निपातित ३३, ५०, ५१, ६०, ६१, ६३, ६६, ७१, ७४, ७७, ९४, ९६, ९७, ११४, ११६, १२६, १३४, १३७, १४२, १४९, १५१, १६६, १६७, १७१, १७२, १७३, १७५, १९१, १९७, १९८, २०६, २१०, २१२, २२३, २३०, २३१, २४९, २५१, २५६, २५८, २५९, २६६, २७७, २८६, २९८, २९९, ३१६, ३२०, ३२४, ३२७
निम्न ५
नियम ६, १५७, १७२

निरुक्त १, २, ३, ४, ५, ६, १२५, १४३, १६६, २३७, २३६, २५७, २७७, ३१०,
निरुक्तपद्धति ४
निरुक्तभाष्य २५७
निरुक्तशैली ५
निरुक्ति १३
निर्देश ८, १३२
निर्दोष ३१४
निर्मित १४०
निर्वचन २, ३, ४, ५, ६, १३, १५, १६, १७, १८, १६, २०, २५, २६, २८, ३१, ३२, ३७, ३८, ३६, ४०, ४४, ४६, ४६, ५०, ५६, ५८, ५६, ६०, ६७, ६८, ६६, ७२, ७४, ७५, ७६, ७७, ८१, ८२, ८३, ८७, ८६, ६५, ६६, ६८, ६६, १०२, १०५, १०६, १०७, १०८, ११०, ११३, ११४, ११५, १२०, १२३, १२५, १२७, १२६, १३३, १३४, १३६, १३७, १३६, १४०, १४२, १४५, १४६, १४८, १४६, १५०, १५१, १५८, १६३, १६४, १६६, १७०, १७५, १८१, १८२, १८३, १८८, १६३, १६४, २०५, २०७, २१०, २१३, २१४, २१५, २१८, २२७, २३०, २३३, २३५, २३७, २३८, २३६, २४२, २४४, २४६, २४७, २४८, २५२, २५३, २५४, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६६, २७०, २७१, २७२, २७६, २७७, २८१, २८२, २८४, २८७, २६०, २६२, २६३, २६६, २६६, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०८, ३१०, ३११, ३१४, ३१७, ३२१, ३२२, ३२४, ३२६
निर्वचनीय ३
निर्वृत्तार्थक १३४
निवारण ३५
निवासकर्मा १३७
निशान १३६
निषेध ६७, १११, २५३
निष्कर्ष ११४
निष्कर्षतः ३
निष्ठा ३५, ६३, ६८, ७६, १७५, १८१, १८५
निष्ठानत्व २८७
निष्ठान्त २११
निष्ठावद्भाव २५०
निष्पत्ति १८७
निष्पन्न १५, ६६, ६७, १०७, १४८, १५२, १५४, १६१, १६४, १७३, १७७, १८३, १८६, १८७, २०२, २२७, २२८, २५४; २७०, ३१८
निहित ३

नुम् १९६
नुमागम २५, २९, १३८, २५४, २६८, २७५, २८८
नैघण्टुक काण्ड ६
नैरन्तर्य २२
नैरुक्त २८, ५३, ७७, १६२, २८९, ३२६
न्यग्भाव १२३
न्यासकार २०२
पक्ष ९७, १०९, २०५, २८८, ३२७
पक्षी १४०
पचादि १३७, १८६, २०८, २३६, २४२, २५९, २६०, २८८, २९१, ३०५, ३०७
पण्डित ९
पतन अर्थ २१९
पति २०५
पत्नी ५३, ९०
पद ३, ४, ५, ११२, २९५
पदकार ५, ७२
पदपाठ ४, ९, ५५, ७२, ११४, २४२, २८८, २९३, २९६
पदपाठकार ५
पदविधि २
पदविभाग ५
पदसंज्ञा १०७, २९४
पद्धति ४
परनिपात ४८
परपूर्वत्व १४८, १७२, २३९, २८४, २९५, ३१७, ३२६
परमात्मवाची २९३
परम्परा २, ५, ६, ७, ८
पररूप ४६, ४७, २३०
परसवर्ण २९५
परस्पर ५, १६७, १९६, १९९, २७०, २७९
परिचायक ९
परिच्छेदन २४५
परिचित ७४
परिणत ७०
परिमाण १३०
परिमित ३

परिलक्षित ८
परिवर्तन ८८, १७१, २९८
परिवर्तित १७३
परिष्कार १
परीक्षा २, ६
परोक्ष १
परोक्ष कथन ४
परोक्ष प्रिय १, ९
परोक्ष वृत्ति ४, ६, ७
पर्यवसान २
पर्यवसित ३१४
पर्याप्त ६, १४३, २३०
पर्याय १२८, १५२, १६७
पर्यायान्तर ३१०
पर्व-पर्व २३१
पवित्र स्तुति ३१४
पशु १६५
पाचक ६
पाठ १६, ५७, १३४, १३६, १९०, २०२, २१४, २३२, २३८, २७१, ३१४, ३२०
पाठभेद २९६
पाठान्तर २२१
पाणिनि ८
पाणिनि तंत्र ९, १३६, ३२४
पाणिनि परम्परा ८
पाणिनि व्याकरण ६, ८
पाणिनीय तंत्र २४५, २६९
पाणिनीय व्याकरण ६, १५
पानार्थक १६७
पाश्चात्य १८, ३००
पाश्चात्य विद्वान् ३००
पितृलोक २९२
पित्स्वर ५२, ३१६
पिप्पलादिगण ३१५
पुंवद्भाव ३०४
पुत्र १५४
पुत्री १५४

पुनरुक्ति ८
पुनर्वचन १८६
पुराकाल २४०
पुरुष १६
पुरोहित १७
पुल्लिग १०७, २५८
पुष्ट १६७, २८२, ३०६, ३१०, ३१६
पुष्टि ७, १०२, १८१, २१७, २३७, २५७, २६०, २६२, ३२०, ३२२
पूजा ११३
पूरणार्थक २४३
पूर्णतः २५२
पूर्णता २
पूर्ण विराम २६१
पूर्व ७५, ८०, ८२, १६२, २००, २०२, २०३, २०४, २३७, २५६, २६०, २६४, २६१, ३१६
पूर्वनिपात ६०, २११, २४६
पूर्वपद ४२, ४७, ५०, ७२, ६१, १०४, १०५, १०६, ११२, ११४, ११६, १२४, १३० १३२, १४५, १४६, १६६, १६६, २०७, २०६, २११, २२६, २३०, २३५, २३६, २४४, २४८, २५८, २७१, २७४, २६२, ३००, ३१५, ३१६, ३२५
पूर्वपदप्रकृतिस्वर १६, २०, २६, ३३, ३४, ४६, ४७, ५३, ५६, ५६, ७२, ६७, १०६, १११, ११६, ११८, १२०, १२६, १२६, १३२, १४१, १४४, १४५, १४६, १४७, १५८, १५६, १६६, १७०, १७१, १८१, १८५, १८६, १६२, १६३, १६५, १६६, २००, २०४, २०५, २११, २१७, २२०, २२१, २२३, २३०, २३५, २३७, २४६, २४८, २४६, २५६, २६४, २८१, २८५, २८६, २६०, २६३, २६४, ३०३
पूर्वपदस्वर ५७, ६१, १५२, २०३
पूर्वपदात् १५६
पूर्वपदान्तोदात्त १००, १३५ १४५, १५३, २८८, ३०४
पूर्वरूप ४५
पूर्ववत् १४, ५६, ६२, ६६, १३८, १४३, १५६, १६६, २३६, २७५, २८०, २८३, ३२६
पूर्वसवर्णदीर्घ २५, ४१, ५७, ७५, ८२, ८३, १०३, ११२, १२०, १७४, १६४, २०६, २५३, २५४
पूर्वोत्तरपद २१६,
पृथक्करण ४
पृथिवी २८, १३७

पृषोदरादि ६, ३१, ३३, ४७, ४८, ५२, ५४, ६२, १००, १०३, १०६, ११०, ११३, ११४, ११७, १२३, १२७, १२९, १३०, १३२, १३६, १५४, १८७, १९४, २००, २३२, २३५, २४०, २५३, २५६, २७६, २९८, ३००, ३०२, ३०६, ३१२, ३२०
पोषक ५, ६
पौत्र १८२
प्रकट १३६, १८५
प्रकरण २०८
प्रकाश अर्थ ३२३
प्रकाशनार्थ १९६
प्रकाश वचन ८४
प्रकृति २, ६, ३०, १५२
प्रकृतिभाव ७७, १२७, १८२, २१६, २१७, २१९
प्रकृति स्वर ४०, ४१, ४६, ७६, ७९, ८७, ९९, १००, १०१, १५८, २१६, २१९, २२०, २२३, २४२, २८६, २९३
प्रकृत्यन्तर १८६
प्रक्रिया २, ८, ६, २८८
प्रचलित १, १४८, २७०
प्रचुर १३६
प्रज्ञा १
प्रज्ञान १३६
प्रज्वलित ५३
प्रतिज्ञा ७
प्रतिनिधि ५
प्रतिषेध २७, ३७, ४७, ७०, ७६, ९३, १०२, १२८, १७४, १७५, १८१, २२०, २२३, २४०, २५१, २६५, २६६, २८१, २८२, २८७, २९०, २९३, २९४, २९७, ३००, ३१०, ३१४
प्रतीत ७५, ९५, ९८, १०६, १०७, ११२, ११३, १३१, १३२, १४५, १४९, १५१, १५२, १६१, १६७, १७२, १७७, १८५, १९९, २०६, २१४, २१५, २२८, २३१, २४०, २५२, २७८, २८४, २८५, २८८, २८९, ३०२, ३१२, ३१३, ३१८, ३१९
प्रतीति २
प्रत्यक्षवृत्ति ४, ६, ७
प्रत्यय (कान्सेप्ट) १, ५
प्रत्यय २, ९, १३, १४, १५, १६, १७, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२,

४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०; ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३० १३१, १३२, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२, १५३, १५४, १५८, १५९, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १६९, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७६, १७७, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९४, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२७, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २३७, २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७८, २७९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७

**प्रत्ययलक्षण** ३७, ८२

**प्रत्ययस्वर** १४, १६, १९, २०, २२, २८, ३२, ४६, ५२, ५३, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६४, ६६, ७१, ७५, ७६, ७७, ८५, ८६, ८८, ८९, ९०, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, १०१, १०४, १०५, १०७, ११०, ११३, ११६, १२०, १२७, १२९, १३०, १३१, १३३, १३४, १३६, १४२, १४४, १४५, १४६, १४८, १४९, १५१, १५२, १५४, १५८, १५९, १६०, १६१, १६२, १६४, १६५, १७०, १७२, १७४, १७५, १८३, १८५, १८७, १९२, १९४, १९७, १९८, २०३, २०४, २१०, २११, २१२, २१३, २२३, २२७, २३१, २३२, २३३, २३४, २३६, २३७, २३९, २४०, २४४, २४५, २४६, २४८, २४९, २५१, २५२, २५४, २५५, २५६, २५७, २६३, २६४, २६६, २६७, २७०, २७२, २७४, २७५, २७८, २७९, २८१, २८२, २८४, २८५, २८६, २८७, २९०, २९१, २९४, २९५, २९६, २९९, ३००, ३०३, ३०९, ३१२, ३१३, ३१७, ३१८, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३

**प्रत्ययान्त** १३४, १९७, १९८, २७८, ३१६

प्रथम ४, ५, ८, २२२, २७६, २८९, २९१, ३१८, ३१९
प्रथमाष्टक ८
प्रबल ९
प्रभाव २७२
प्रभावित ११२, २१४, २५६, ३०७, ३२३
प्रमाणित १७०
प्रमादवश २०२
प्रमुख २, ५, १७१
प्रयुक्त ५३, ७०, ८४, ९७, १३६, १५२, १६८, २११, २३२, २७८
प्रयोग २, ३, ४, ७, १५, ६७, ७२, ८५, ९५, ९६, ९७, १०५, १०७, ११५, १२५, १३१, १३६, १४८, १५२, १६०, १६८, १७२, १७७, १८१, १८३, १८५, १८७, १९९, २०५, २०८, २४९, २७०, ३०२, ३१८
प्रयोजन २
प्रलम्ब ९
प्रवर्तित ३१६
प्रवात ३
प्रवृत्तिनिमित्त १३६
प्रश्न ३
प्रसंग १६५
प्रसाधनकर्मा ११०
प्रसिद्ध ६
प्रसूति ३१६
प्रस्तुत २, ५, ११३, १३६
प्राकृतीकरण २७२
प्राचीन १
प्राचीनकाल १५२
प्राचीनतर १६७
प्रातिपदिक २०
प्रातिपदिकस्वर १३५, १४६, १६१, २५३, २५५, २५८
प्रातिशाख्य ८
प्रादिसमास ३५, ४३, ७४, ८६, १०१, २२९, २४१, २९३
प्रापण १८
प्राप्त २९७
प्राप्तविद्य ७५
प्राप्ति ७५
प्रामाणिकता ८

प्रायिकवचन ८८
प्रारम्भ २, ५
प्रेरणा अर्थ २२८
प्रेरणार्थक १३६
फलप्रद १
फ़ारसी १३६
फिट्सूत्र ८
बन्दरिया १४०
बलवान् ७०
बलि १४०
बहुज्ञता ७
बहुधा १०५
बहुल ७
बहुलवचन १८३
बहुवचन ८७, २५८
बहुव्रीहि २०, २२, ३०, ३४, ३५, ४३, ४४, ५६, ६५, ७१, ९७, ११६, ११८, १२६, १४४, १४७, १५८, १६९, १७१, १८१, १८५, १८९, १९६, २००, २०३, २०५, २११, २१७, २२१, २३०, २४७, २४९, २५६, २६४, २८१, २८८, २९०, २९४, ३०३, ३१३, ३१४, ३१५, ३१९
बहुव्रीहि समास १६, २३, ३१, ३३, ३४, ३५, ४९, ५०, ५१, ५७, ५९, ७२, १३२, २२०, २२१
बह्वृचसम्प्रदाय २३७
बाधन ६१
बाध्य ७
बाध्यता ९
बाहुलक १६, १९, २३, २४, ३५, ३६, ४४, ५१, ५२, ५७, ६५, ७१, ७६, ८१, ८२, ८३, ९७, १००, १०५, १०८, ११४, ११६, ११८, १२३, १२६, १२७, १३१, १३३, १३४, १३८, १४४, १५०, १५७, १७१, १७६, १७७, १८२, १८३, २००, २०१, २०२, २०७, २११, २१७, २३३, २३४, २३९, २४०, २४४, २४५, २४७, २५२, २५४, २५९, २६०, २६५, २६६, २६८, २७४, २८५, २८८, २९४, २९७, ३०३, ३०६, ३१८, ३१९, ३२६
ब्रह्मवादी १५४
ब्रह्मा २९२
ब्राह्मण ३, ४, ५, ७, ८, १५, १८, २१, ३१, ५३, ६७, ७७, ८८, ९०, ९२, ९५, ९९, १२३, १३९, १४३, १४५, १४८, १५०, १५९, १६३, १६६, १७५, १८२,

१८८, १९०, १९३, १९४, २०७, २१०, २१३, २१४, २१८, २३७, २३९, २५२, २६३, २६४, २६७, २७२, २७७, २९२, ३०८, ३१०, ३२१
ब्राह्मणकाल १४०
ब्राह्मणवाचक ११७
भरूजा ५
भव अर्थ ९१
भष्भाव ३९, ४५, ७१, १०४
भाजन १०९
भारतीय २, ७
भाव २, १३, २५, ३१, ३३, ३८, ४३, ४६, ५४, ५९, ६४, ६५, ६६, ७१, ७२, ८१, ९३, ९७, ९८, १०५, १०८, ११६, ११७, १२०, १२४, १२६, १३०, १३४, १३८, १६६, १६८, १६९, १७६, २०७, २२०, २२१, २२३, २२८, २३८, २४१, २४९, २५८, २६३, २६४, २६५, २६८, २९४, २९५, ३०६, ३१४, ३२५, ३२७
भावलक्षण २८०
भावार्थक ३१६
भाषा १, ६, ७, ९, ६७, ८५
भाषा चिन्तन २
भाषिक १
भाषिक विश्लेषण २
भाष्य २४७, २९१
भाष्यकार ७, ९, १४०
भीषणार्थक १०९
भूत २९३
भूतार्थ ५२
भेद ६, २९२
भेद व्यवस्था १
भौतिक १
भ्रष्ट ३१४
भ्राता २०५
भ्रामक १३१
मत २९८, ३०६
मतभेद ५, १४३, २३०
मतान्तर ९
मतुप् २७९, २८०, ३१५
मतुबर्थ २४३

मत्वर्थीय १३, २६, ४३, ५१, ५५, ५७, ५६, ६६, ६७, ६८, ६६; १०८, ११०, १२७, १३५, १३६, २०८, २२७, २३१, २४४, २४५, २५१, २५६, २५६, २६६, २७२, २७४, २७६, २८१, २६४, २६६, ३१५, ३१८, ३२४
मध्य २२७
मध्योदात्त १६, ७१, ८२, ८७, १२६, १६५, २१०, २६६, २७८, ३१६
मध्योदात्तता ३१६
मनावी १७०
मनीषी ३
मनुष्य १, ८१, १६५, २६२
मनोजव १३६
मंत्र ५, ७, ८, ५८
मंत्र द्रष्टा ११५
मंत्र व्याख्यान ६
मंत्रात्मक ७
मन्दगति १८१
मयूर ६
मरुत २३१
मर्मज्ञ ६
महत्त्व २, ६
महन्नाम ५२, १२३
महर्षि १३६
महाभाष्यकार १५, १६
मात्र २६२
मात्रा ८, १३६
मार्ग ३, १६
मिथकीय २८
मिश्रण २८८
मिश्रीभावकर्मा ७४
मुँह १४०
मुख ५२
मूर्धन्य २८६
मूर्धन्यादेश १६, ६८, ७८, १०६, ११२
मूल २०५, २६८
मूल अर्थ ७४
मूलतः २८८
मूलपाठ ३१४

मूलभाव २
मूल रूप २
मेघ ६, ६६
मेहन ५
मौलिक १५
यङ्लुक् ५२, ८१, ८२, १२६, १३२, १३५, १५७, १६०, १६१, १६८, १७४, १७६, २७०, २८३
यङ्लुगन्त ३५
यजमान १२०
यज्ञ ३, १४०, २०४
यज्ञस्तम्भ १४०
यथाकथञ्चित् २१८
यथाशब्द ११५
युक्त २३६
युक्ति ७
युगपत् ११७, १७७, ३२०
युगागम २८६
युग्म देवता ६८
युद्धनाम ३०७
युवादेश २६६
योग ६
योगविभाग ४७, १३३
योग्य १२०
योजना २
योषित्कामा १४२
रचना ७
रचनात्मक ७
रज्जू ५
रपर ५४, १२६, २६५
रमण ६
रस ११५
रहस्य १, २, ४
राजर्षि १८८, १९५
राजा ६, २४०
रात्रि १४

रात्रिवाची २०५
रूढ १६५, २१८
रूप २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, २३, ३८, ७०, ७४, ७७, ८१, ८५, ९६, ११८, १२४, १३२, १३६, १४८, १५८, १६०, १६८, १७०, १७४, १८१, २०७, २१२, २१५, २१६, २२१, २२७, २२९, २४९, २७०, २७९, २९७, २९९, ३०२, ३०७, ३१७
रूपनाम २५, १५२
रूपसाधन ७
रूप सिद्धि १३१
रेफ २५९
रेफोजन ८८, २७५, २८६,
लक्षण २१९
लक्षित ३, १५७, १८१, २०४
लक्ष्य २
लघूपधगुण ५८, ७२, ११५, १५४, १६४, २०९, २३९
लाक्षणिकरूप ३१४
लिङ्गवचनव्यत्यय २१२
लिङ्वद्भाव १८४, २२८, २७९, २९३, ३१५
लित्स्वर १७, २४, ७४, ८२, ९९, १६७, १६९, २००, २०२, २०४, २४४, २७४, ३१४
लित् १३३
लिति स्वर १५७
लुक् २८, ३४, ३५, ३७, ४१, ७१, ७९, ८२, ८५, ९१, ९३, ९५, १०१, ११९, १३३, १६९, १७५, १९२, १९९, २०९, २१८, २२१, २२७, २३८, २४१, २६५, २६९, २७९, २८०, २८८, २९४
लुगभाव २८८
लुप्त १२५
लोक ८१, २७८
लोकवाणी १४०
लोप ८, १४, ३२, ३३, ३४, ३८, ३९, ४२, ४३, ४४, ४५, ५१, ५४, ५५, ५६, ५९, ६०, ६१, ६२, ६४, ६५, ६६ ७१, ७२, ७६, ७७, ७८, ७९, ८१, ८३, ८६, ८९, ९४, ९५, ९६, ९८, ९९, १०१, १०२, १०३, १०५, १०८, १०९, १११, ११४, ११६, ११८, १२३, १२४, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३२, १३३, १३६, १३७, १४०, १४१, १४३, १४६, १४९, १५३, १५८, १६२, १६३, १६४, १६६, १६७, १६९, १७१, १७४, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८९, १९०, १९१, १९४, १९५, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०६, २०७, २०८, २१२, २१३, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२,

२२७, २२८, २२९, २३०, २३६, २३७, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५५, २५६, २५७, २५९, २६०, २६५, २६७, २६८, २६९, २७०, २७४, २७९, २८०, २८१, २८२, २८५, २८७, २८८, २९२, २९४, २९५, २९८, ३०१, ३०४, ३०५, ३०७, ३०८, ३१०, ३१३, ३२०, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७
लोभ ९
लौकिक ६
लौकिक संस्कृत १५२
वचन १८९, २०८, २१०, २१२
वचनसामर्थ्य १०१, २५१
वज्र २९
वदान्य ३१६
वधकर्मा ५०, १८६, १८९, २१५, २१९, २४५
वधार्थक ९२, १०८, २०२
वन्ध्यावचन २७९
वयोहानि १६८
वरुण २१
वर्ण ६, ७, ७८, २४०, २४३
वर्णन २, ७
वर्णनाश ६
वर्णलोप ७८, ९१, २०४, २४०, २४३, २५६, ३१०, ३१३, ३१५
वर्णविकार ६, ८, ३०७
वर्णविपर्यय ५, १३, २६७
वर्णव्यत्यय ४७,४८
वर्णव्यापत्ति २९, १२४, १३८, १५९, १९६, २०१, २०७, २२०, २७९, २९९
वर्णागम ५
वर्तनि २७८
वर्तनी १४८
वसु १
वस्तुतः १३२, १४९, १८४, १८५, २०२, २७८, ३०२, ३१८, ३२१
वाक् १, ३
वाक्केन्द्रित २
वाक्य २, ७
वाक्यरचना ७
वागभिव्यक्तिवाची १५७
वाङ्मय ९६
वाचक ७२, ८१, १९७, २२३, २७३,

वार्तिक १६, २३२
विकरण ७६, ८०, ६१, ६३
विकल्प ४१, ४३, ६६, ७०, १४८
विकसित २, ५, ७४, १६०, १७७
विकार १०७, १०८, १८५, ३२४
विकास १४८, १६७
विकृति ८४
विग्रहवाक्य २
विचलन ६
विचित्र ५
विद्वान् १, ३००
विधा २
विधान ६८, १२०, ३०२
विधानसामर्थ्य १३०
विधि १४६
विधीयमान सत्त्व ३१०
विध्यन्तर १०८
विनियोग ३, ८
विपरीत २१५
विपर्यय ११६, १७२, २२१, २३०, २६६
विप्र १५
विभक्ति २०, २३, २५, २७, २८, ३२, ३६, ४०, ४२, ४४, ४८, ५५, ६२, ६३, ६४, ६८, ७१, ७६, ८५, ८८, ६०, ६३, ६७, ६८, १०१, १०२, १०३, १०६, ११०, १११, ११५, १२४, १२८, १३१, १३४, १४०, १४१, १४३, १४६, १५०, १६०, १६२, १६७, १७३, १७५, १७६, १८२, १८४, १६०, १६१, १६२, १६४, १६८, २०२, २०५, २०६, २११, २१२, २१८, २२१, २२२, २२३, २२७, २२८, २३३, २३४, २३५, २३८, २४१, २४२, २४४, २४७, २५०, २५५, २५६, २५७, २६४, २६५, २८५, २८८, २६२, २६४, २६८, ३०१, ३०७, ३१८, ३२४, ३२५, ३२६
विभक्तिलुक् २२१, २८८
विभक्तिस्वर १३३
विभक्तिस्वरित १७३, २०५
विभक्त्यन्त ७७
विभक्त्यलोप ३०६
विरुद २१६
विरुद्ध २६६

विरोध ३१७
विशयवती ६
विशसन १५७
विशिष्ट ३, १३६
विशेष ८६, १२०, १४०, १६५, १६६
विशेषतः २
विशेषता ८
विश्लेषण २, ६, ७
विश्लेषणात्मक पद्धति ४
विश्लेषित ६
विषमता ५
विषय ३, ७
विसंगति ८, २८५
विसर्ग २५५
विसर्जनीय ३०, ३२३
विस्तार २
विस्तृत ५
वृक्ष ५८
वृत्ति ६, ८, २६
वृत्तिकार १५, १६, २०, २१, २२, २३८
वृद्धि २३, ६४, ७१, ८१, ८६, ८७, ८६, १०२, १२०, १२८, १३६, १६१, १६६, १७१, १७६, १८२, २३३, २४५, २६४, ३२७
वृद्धिकर्मा ८६, १८४
वृद्ध्यभाव १६६
वृद्ध्यर्थ १८१
वृद्ध्यर्थक १८३, २८३
वृषादि ८८, ८७, १४७, १८६, २६३, ८७
वृषादित्वात् १७१
वेद ७, ८, ८, १५, ८१, ११५, १६०, २१०, २७८, ३१७
वेद रक्षा २, ४
वेदाङ्ग १
वेदार्थ ४
वैदिक ६
वैदिककाल १४८
वैदिकभाषा १, ६, ७, ८, २१६

वैदिकरूप २१६
वैदिकवाङ्मय ९
वैयाकरण १८, ५३, ६१, ७५, ८५, ८९, १०८, १२९, १४५, १५२, १६२, १६३, १६५, १७०, १७३, १८१, २०५, २१०, २१६, २२३, २३९, २४८, २५१, २५३, २५५, २५७, २६५, २६६, २७०, २८९, २९२, २९५, ३०६, ३०८, ३०९, ३११, ३१२, ३१३, ३१६, ३१९
व्यक्त ३, ६२
व्यक्ति ८, १८
व्यत्यय २३, २९, ५७, ६१, ६९, ७३, ७४, ७८, ७९, ८०, ८२, ८६, ८८, ९३, ९६, ९७, ९८, १०९, १२५, १२६, १२७, १३९, १५०, १६७, १६८, १६९, १७२, १७३, १७४, १७६, १८२, १८३, १९२, २०४, २०७, २१०, २१२, २१३, २२२, २२८, २४५ २५३, २५५, २५६, २५८, २६३, २६४, २७०, २७१, २७४, २७६, २७८, २९१, ३००, ३०४, ३०६, ३१०, ३१२, ३१४, ३२१
व्याकरण १, २, ४, ६, ७, ९, १७, १४७, २०२, २१४, २१७, २५२, २७०
व्याकरण परम्परा ७
व्याकरण सम्मत २७०, २८१, २८९, २९७, २९८, ३०८
व्याकृत २
व्याख्या २, ३, ५, ६, ७, ८, ९, १२५, २६९, २९४, २९५, ३१२
व्याख्याकार २५७
व्याख्यान ७, ८, १६
व्याख्यायित ७
व्यापत्ति २५९
व्याप्त २९३
व्याप्ति १९८
व्याप्त्यर्थ १६३, २१५, २३०
व्युत्पत्ति २, ३, ५, ७, ८, ९, १३, १४, १५, १७, १८, १९, २१, २२, २४, २५, २८, २९, ३१, ३२, ३३, ३८, ३९, ४४, ४५, ४७, ५०, ५१, ५२, ५६, ५७, ५८, ६१, ६९, ७०, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ८०, ८३, ८५, ८९, ९०, ९३, ९५, ९७, ९८, १००, १०२, १०४, १०५, १०६, १०७, १०९, ११०, १११, ११२, ११४, ११९, १२३, १२५, १२७, १२९, १३०, १३१, १३६, १३७, १४२, १४३, १४५, १४७, १४९, १५३, १५७, १५८, १५९, १६०, १६१, १६२, १६४, १६७, १६८, १६९, १७० १७१, १७३, १७४, १८३, १८५, १८९, १९० १९१, १९२, १९४, १९, १९९, २०२, २०५, २०६, २०७, २०८, २११, २१४, २१५, २१६, २१७, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, ३२८, २२९, २३०, २३३, २३४, २३७, २३८, ३३९, २४०, २४२, २५२,

२५५, २५६, २५७, २५८, २६०, २६३, २६४, २६६, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७५, २७६, २७९, २८१, २८४, २८५, २८६, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९४, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०२, ३०४, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१७, ३१९, ३२०, ३२२, ३२३, ३२७
व्युत्पत्तिगत २३२
व्युत्पत्ति चिन्तन २, ३, ४, ७, ८, ९
व्युत्पत्ति निर्धारण ४
व्युत्पत्ति पक्ष ६०
व्युत्पत्ति प्रदर्शन ९
व्युत्पत्तिलभ्य ३१७
व्युत्पत्तिसम्बन्ध १३६
व्युत्पन्न ७, ९, १३, १४, १५, १६, १८, १९, २१, २३, २४, २५, २७, २८, ३१, ३३, ३४, ३६, ३८, ४०, ४१, ४२, ४३, ४६, ४७, ४९, ५७, ५८, ६२, ६४, ६५, ६७, ७६, ७९, ८२, ८३, ८४, ८९, ९२, ९३, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०४, १०६, १०९, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११८, ११९, १२०, १२३, १२४, १२५, १२७, १३२, १३३, १३६, १३९, १४०, १४२, १४३, १४५, १४७, १५०, १५१, १६२, १६५, १७०, १७२, १७३, १७५, १८४, १८५, १८७, १९३, १९६, १९८, २०४, २०५, २०८, २१०, २११, २१३, २१५, २१६, २१८, २२०, २२३, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२, २४०, २४२, २४७, २४९, २५०, २५१, २५३, २५५, २५७, २५८, २५९, २६३, २६५, २६६, २६८, २६९, २७१, २७५, २७६, २७७, २८०, २८१, २८३, २८५, २८९, २९१, २९४, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०४, ३०६, ३०८, ३१०, ३१२, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२४, ३२६
शक्ति १, ४, ११८, १३६
शक्तिशाली ६९
शक्र ३
शतृवद्भाव १६४
शतृस्वर ३५
शब्द २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ३२, ५२, ७२, ८५, ८७, ९०, ९६, १०७, १०९, ११८, १२५, १४०, १४७, १५४, १६५, १६७, १७१, १७२, २०३, २०४, २०५, २१०, २११, २१८, २२७, २३०, २४६, २५१, २५८, २७८, २९६, ३०६, ३१३, ३१६, ३१८, ३२१
शब्दकर्मा ३११
शब्दकोटि ३
शब्दप्रयोग ३

शब्दरूप १३६
शब्दसिद्धि ६
शब्दोपजन ८०
शल्यक्रिया २
शाब्दीप्रतीति २
शास्त्रार्थ ६
शिकारी पक्षी १४०
शित् २४
शिथिल ७
शिल्पी १३४
शिष्ट ६७
शुक्र १५
शुद्ध धातु २०८
शुद्धावस्था १३६
शुभ्र १५
शेष ६, ८, १४, ५६, ६२, ६४, १०२, ११२, १३४, १४०, १४३, १५२, २१६, २२२, २४७, २४६, २६५, २७१, २७५, २८०, २८५, २८७, २८६, ३०८, ३२२, ३२६
शेषनिघात २७१
शैथिल्य ७
शैली २, ५
शैषिक अर्थ २३५
श्रुति ११५
श्लुभाव २४४
श्लुवद्भाव १७२, १७५
षडङ्गानुसारी ७
षष्ठी ८७, १२४, १६६
षष्ठी समास १२४, २६८
षाष्ठिक १५०, २०५
ष्टुत्व ६३, १७४, १६१, २०१, २०२, २२०, २६२, २६३, ३०२
संवरण १६३
संवाद १
संस्कृत १२५, १५१
संस्कृतभाषा ६
संस्थान १६५
संहिता ४, ७, ८, २८, ३४, ३६, ४५, ५०, ६५, १११, १३०, १६३, १८४, २११, २१३, २१६, २२२, २४२, २८३

सकर्मक १३६
संकल्प १३६
संकल्पना ३, ९
संकेत ३, ४, ५, ४१, ४६, ५५, ९४, १४०, १४८, १५०, १६३, १७६, २१५, २२७, २२८, २३४, २५५
संकेतित ३, १७, २७, २९, ५८, ६४, ९५, ९६, १०२, १०४, १०५, १०७, ११२, १४५, १४८, १६०, १६३, १६७, १७१, १९४, १९६, २०६, २०८, २११, २२०, २३१, २३३, २३९, २४०, २४२, २४७, २५२, २६३, २८४, २८६, २८९, २९०, ३००, ३०२, ३०९, ३१३
संक्षिप्त ८, २१२
संक्षेप ६
संगत १५, ७५, १०६, ११५, १४९, १७४, १८५, २०२, २६०, २६८, २७८, २८४, २८५, २९२, ३१८
संगति २, ७, ९, ३८, ३१८
संगमनी १
संग्रामनाम ३०७
संग्रामवाची ५१
संग्राहक १०८
संघटना २, १६५
संचलन १०९
संचालन १०९
संज्ञा ९९, १०७, १३४, १४६, १७२, २४१, २८४, ३२३
संज्ञापूर्वकविधि १४६
सजगता ७
सजातीय ५०, २०३
सत्य ११५
सत्यार्थक ३१६
सन्दर्भ ८८
सन्नन्त २
सन्नियोग २०२, २०८, २३९, २६४, २६६, २७२, २७४
सन्निहित २८८
सन्वद्भाव १८५
सप्तमी ११३, १५२, १७६, २०३, २३६, ३१०
समकक्ष १३६
समय १२५
समर्थ २, ९

समस्त ६, १७०
समाधान १६, ५७
समान २८८, ३०७
समानता ६, १६५
समानार्थक ३३, १०१
समास २, ७, १४, ३८, ४०, ४२, ५०, ५३, ५४, ८२, ८३, ८४, ८६, ९१, ९४, ९८, १०१, १०२, १०४, १०९, ११२, ११३, १२९, १३३, १५३, १७०, १९०, २०१, २०५, २१६, २२१, २२२, २३७, २४६, २७२, २८१, २८३, २९३, ३०६, ३०८, ३१४, ३१६
समास अन्तोदात्त १३८
समास रचना ७
समासस्वर ४५, ६२, ६६
समासान्त २७६
समासान्त प्रत्यय २०८
समासान्तोदात्त ९०
समाहार ५
समाहारद्वन्द्व १९०
समीकरण ५
समुच्चयार्थक २८१
समुद्र १७७
समूह अर्थ १४४, २४४
समूहार्थ ६८
संपदादि १९७, २०७, २०८, २८८, ३०८
संपदादिलक्षण २१९, २२१, ३२३, ३२५
सम्पन्नता २९२
सम्प्रदाय २३७
सम्प्रदायविद् ३०६
सम्प्रसारण १८, ३३, ४५, ४७, ५४, ६५, ७९, ८७, ८८, ९३, ९४, ९५, ९७, ९९, १०२, १०३, १०४, १११, ११२, १२०, १२४, १२५, १३१, १४८, १६४, १६५, १७२, १७३, १७४, १८५, १९३, १९७, १९८, २००, २०१, २०२, २२०, २३९, २४०, २५०, २५१, २५८, २८०, २८२, २८४, २९३, २९५, २९७, ३१२, ३१७, ३२२, ३२३, ३२६, ३२७
सम्प्रेषण १
सम्बद्ध ७५, ८८, ९७, ११५, ११८, १९६
सम्बद्धता १०७

सम्बन्ध २, ३, ६६, १३७, १६२, १६७, १८५, १६६, २३२, २७०, २७२, २७६, २८८, ३००
सम्बुद्धि १५०, २०५, २८६
सम्बुद्धिपक्ष २०५
सम्भव १६, ५७, १०२, १८६, २२१, २३८, २४०, २७७, २८८
सम्भवतः ११४, १२५, १४०, २७२, २८५, २६१, ३००, ३०७, ३१८
सम्भवतया १४८, १६५
सम्भावना ३, ६२, ११५, १८६, २३६, ३१३, ३१४
सम्मत १५, १४७, २०२, २१४, २१७, २५२
सम्मिलित २
सर्वत्र १४४, २१०, २७३
सर्वदा २८८
सर्वनाम २२३
सर्वादेश २४
सवर्णदीर्घ ३४, ६२, २०२, २७१, २८७
सविस्तर ६
सहमत १०६, १२३, १२७, १५८, २०५, २०७, २१५, २२०, २३६, २५७, २८१, २८६, २६०, २६६, ३१७, ३२४
सहयोग १६०, ३०५
सहायक १
सहायता ७
सांहितिकदीर्घ १६२
साक्षात्कृतधर्मा १
सादृश्य ३१४, ३१६
साधन १
साधु २४३
साधु अर्थ २३६, २४३, ३०४
साम ६६, १६६
सामग्री ६
सामर्थ्य २२७, २२८
सामर्थ्यवश २१६
सामविशेष १६६
सामवेदी ५
सामान्यतः ६, ११५
सारवत्ता ६

सार्वधातुक ६४, १६६, २४४
सार्वधातुकत्वात् २२२
सार्वधातुक स्वर ३२, ६२
सावित्र रूप ६
सिकता ५
सिद्ध २१, १८१, २५०, २७८, ३०७, ३१६
सिद्धान्त ५, ६
सिद्धि ७, १३६, १८६
सुतराम् २७८
सुरक्षित १४०
सुरा ७०
सुलभ १
सुषामादि १५६
सूक्ष्म ४
सूचक ७०
सूचित १६२, १६५, १६८, १८३, २०८, २२३, २३२, २७०, ३१६
सूची १४०
सूत्र ८, १५०
सूत्रबद्ध ७
सृजनात्मक शक्ति ११८
सोच १
सोपान ५
सोमयाग ८१
सौत्र २९६
सौत्रधातु २६, ४०, १२८, १६६, १७३, १७५, १८३, १८४, १८६
स्तम्भ १४०
स्तर ६
स्तुति १२०, १६८, ३१४
स्तुतिकर्मा १६७
स्तुत्य १६८, १७२
स्तुत्यर्थक १६८, २२३
स्तोत्रवाचक २७८
स्त्रीत्व १७१
स्त्रीप्रत्यय २३, २४, ४५, ५६, ५७, ६६, ६८, ६६, ७४, ८०, ८२, ८८, १०५, १०७,
१०६, ११२, ११६, १२४, १२५, १३२, १३७, १३६, १४५, १६८, १६०,
१६२, ३२७

स्त्रीरूप ३७
स्त्रीलिंग १३२, १४१, २०२, २२१
स्थान ७२, ६८, ११६, १३०, १३६, १३८, १४१, १४२, १५१, १७२, १७६, २०६, २१५, २२१, २२२, २३०, २३२, २३३, २३७, २३८, २४१, २५८, २७०, २७१, २७८, २८५, २९९, ३१८
स्थानविपर्यय १७२
स्थानिवत् ८६
स्थानिवद्भाव १३३, १६४
स्थिति २७८, २८८
स्थिर ५, ७०
स्थिरता १४०
स्पष्ट १५, १०७, ११२, १८१
स्पष्टता २३०
स्मृति २५
स्वतंत्र १०९, १३६
स्वर ७, ८, १६, ५७, ५९, ७३, ८५, ९४, ९७, १०९, ११२, १४४, १६३, १७४, १८९, १९७, २०१, २३८, २४१, २४७, २८५, २९१, २९२, ३०३, ३२५
स्वरचिन्तन ९
स्वरदृष्टि १३२
स्वरनिर्णय ९
स्वरनिर्माण ८
स्वरभक्ति १६७
स्वरविधान ८
स्वरसिद्धि १८९
स्वरित ७१, ७२, ८७, ९६, १२०, १३९, १७३, १९८, २०२, २०५, २१६, २१८, २२९, २३३, २९३, २९४
स्वसृ १७१
स्वाभाविक १
स्वार्थ १९, ६१, ११८, १२५, १४१, २२१
स्वार्थिक १३, २९, ४८, ५६, ६०, ६८, ८०, २०४, २८३, ३१६
स्वीकार्य १६
स्वीकृत २१६, २८९
हलादिशेष ३७, ८२, १७३, २२८, २३४, २४४
हविष्पाक १८
हिंसा २८३

हिंसाकर्मा ५६, २१५, २३४
हिंसार्थ १८७, १८८, २०१, २१२
हिंसार्थक ४१, १८६, १८७
हित अर्थ २४३
हितार्थ २३०
हीनार्थक ७०
ह्रस्व १६, ३६, ४०, ४१, ४२, ४४, ४८, ५३, ५६, ५७, ६६, ७२, ८०, १०१, १११, १२४, १४३, १४५, १५८, १६६, १६६, २०३, २१०, २१२, २१६, २२२, २३५, २३६, २४४, २४६, २६४, २७१, २८६
ह्रस्वरूप २८८

———

# परिशिष्ट–२

उन शब्दों की सूची, जिनके भारोपीय सजातीय ( Cognate ) शब्द दिये गये हैं :


| शब्द | पृष्ठ | शब्द | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| अंहति ( अंह ) | १३ | अर्थ | ५९ |
| अंहस् | १३ | अर्ध | ५९-६० |
| अक्षि | १६ | अर्भग | ६० |
| अग्नि | १७-१८ | अर्यमन् | ६१ |
| अग्रिय | १९ | अर्वत् | ६१ |
| अघायु ( अघ ) | २० | अवत | ६२-६३ |
| अंगिरस् | २१ | अवनि | ६३ |
| अजिर | २२-२३ | अवसाय ( अवस ) | ६३-६४ |
| अज्म | २३ | अवृक | ६५-६६ |
| अत्य ( अत् ) | २५-२६ | अश्मन् | ६७ |
| अत्रि | २६-२७ | अश्व | ६७ |
| अद्मसत् | २८ | असुर ( असु ) | ६९-७० |
| अद्य | २८-२९ | अहि | ७२ |
| अद्रोघ | ३० | आघृणि | ७४ |
| अध्रिगो ( गो ) | ३१ | आजि | ७५ |
| अध्वर | ३१-३२ | आत्मदाः ( आत्मन् ) | ७६ |
| अप्नस् ( अप्नः ) | ४२ | आनुषक् | ७८ |
| अमत्रः ( अमा ) | ४९ | आप् | ७८-७९ |
| अमृत | ५१ | आरित | ८२ |
| अरणी | ५३ | आर्त्नी | ८३ |
| अराति ( √ रा ) | ५४-५५ | आशिर | ८४ |
| अरि | ५५ | आशिष् | ८४ |
| अरिष्ट | ५६ | आशु | ८५ |
| अरुणप्सु ( अरुण ) | ५६ | आस्य | ८७ |
| अरुष | ५६-५७ | आहुति | ८७-८८ |
| अरुषी ( अरुष ) | ५७-५८ | इध्म | ८९ |
| अर्क | ५८ | इष्टि | ९३ |
| अर्जुन | ५८ | ईड्य | ९४ |
| अर्णस् | ५९ | ईर्मन् | ९४ |

| शब्द | पृष्ठ | पृष्ठ | शब्द |
|---|---|---|---|
| ईशान | ९५ | कवि | १२७-१२८ |
| उक्षन् | ९६ | कायमान | १२९ |
| उग्र | ९६-९७ | काशि | १२९ |
| उत्तम | ९७ | काष्ठा | १२९-१३० |
| उत्तराम् ( उत्तर ) | ९७-९८ | कियेधा | १३० |
| उत्स | ९८ | कुणारु | १३१ |
| उरः ( उर् ) | १०१ | कृष्ण | १३५ |
| उरु | १०१-१०२ | केतु | १३५-१३६ |
| उर्वी ( उरु ) | १०३ | केशिन् ( √काश् ) | १३६ |
| उशिक् | १०४ | क्रतु | १३६-१३७ |
| उषस् | १०४ | क्रीड | १३७ |
| उस्र | १०४-१०५ | क्षय | १३७ |
| ऊति | १०५-१०६ | क्षा | १३७-१३८ |
| ऊधनि | १०६ | क्षुम्पमिव | १३८ |
| ऊर्ज् | १०६ | क्षैत्रपत्य | १३९ |
| ऊर्मि | १०६-१०७ | गणगण ( म् ) | १४१ |
| ऋक्ष | १०८ | गध्य | १४१ |
| ऋघायमाण | १०८-१०९ | गन्धर्व | १४२ |
| ऋचीषम | १०९ | गर्भ | १४३-१४४ |
| ऋजीषिन् | ११० | गाथपति ( गाथा ) | १४५ |
| ऋजूयवः ( √ ऋञ्ज् ) | ११० | गायत्र ( √गाय् ) | १४५-१४६ |
| ऋतु | ११२ | गिरः ( गिर् ) | १४६ |
| ऋभुक्षाः ( √ क्षि ) | ११४ | गुहा | १४७ |
| ऋषि | ११५ | गूर्ति | १४७ |
| एक | ११६ | गृत्स | १४७ |
| ओजस् | ११८-११९ | गृह | १४८ |
| ओमन् | ११९ | गो | १४८ |
| ओषधीः ( √उष् ) | १२० | ग्ना | १५० |
| ककुभ् | १२३ | ग्रह | १५०-१५१ |
| कक्षीवत् ( कक्ष् ) | १२३-१२४ | ग्राम | १५१ |
| कङ्कत | १२४ | ग्रावग्राभ | १५१ |
| कनी | १२५ | घर्म | १५१-१५२ |
| कनीन | १२५ | घृत | १५२ |
| कर्मण्य | १२७ | घृतस्नु ( स्नु ) | १५३ |

| शब्द | पृष्ठ | शब्द | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| घोष | १५४ | तृण | १८६ |
| घ्रंस | १५४ | तृणज | १८६ |
| चक्षुष् | १५८ | तृष्णा | १८६ |
| चन्द्र | १५८-१५६ | तोकसाति | १८६ |
| चन्द्रमस् | १५६ | त्रिधातु | १६० |
| चरु | १६० | त्रिवृत् | १६१ |
| चर्मन् | १६० | त्वष्टृ | १६१ |
| चारु | १६१ | दंस् | १६२ |
| चिकित्वान् | १६२ | दक्ष | १६३ |
| चित्ति | १६२ | दक्षिणा | १६३ |
| चित्रश्रवस्तम | १६२ | दधिक्रा | १६४ |
| छन्दस् | १६३-१६४ | दधीच् | १६४ |
| जठर | १६५-१६६ | दभ्र | १६५ |
| जन | १६६ | दमूनस् | १६५ |
| जनि | १६६ | दशन् | १६६ |
| जरा | १६८ | दस्यु | १६६ |
| जवीयान् ( जवस् ) | १६६ | दात्र | १६७ |
| जागृवि | १७० | दावन् | १६७ |
| जामाता | १७१ | दिद्यु | १६८ |
| जार | १७२ | दुर्गृभिश्वनः ( गृभि ) | २००-२०१ |
| जिह्वा | १७३ | दुहितृ | २०१ |
| जुहू | १७५ | दूत | २०२-२०३ |
| ज्रयः | १७७ | देव | २०४ |
| तनयित्नु | १८२ | देवर | २०५ |
| तनूनपात् ( नपात् ) | १८२ | देवहूति ( हूति ) | २०५ |
| तन्यतु | १८२ | द्यु | २०६ |
| तपुषि | १८३ | द्रविण | २०६ |
| तविषी | १८४ | द्वर | २०८ |
| तिगित ( तिज् ) | १८५ | द्वीप | २०८ |
| तिग्म | १८५ | द्वेष | २०६ |
| तितउ | १८५-१८६ | धन्वन् | २१० |
| तितिर्वांसः | १८६ | धरुण | २१० |
| तुरीय | १८७ | धर्णसि | २१० |
| तूर्णि | १८८ | धर्मन् | २१० |

| शब्द | पृष्ठ | शब्द | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| धिषणा | २१२ | बाहुशर्धी ( बाहु ) | २४५ |
| धेनु | २१३ | बुध्न | २४५-२४६ |
| नक्षत्र | २१४ | भगभक्तस्य ( भग ) | २४६-२४७ |
| नदी | २१४-२१५ | भद्र | २४७ |
| नभस् | २१५ | भर | २४७ |
| नव | २१६ | भरत | २४८ |
| नव ( नवन् ) | २१६-२१७ | भीम | २४९ |
| नाभि | २१८ | भुरण्यु | २४९ |
| नाम | २१८-२१९ | भूरि | २५० |
| नियुत् ( √यु ) | २१९-२२० | भूमि | २५० |
| नेम | २२२-२२३ | भेषजा | २५० |
| नौ | २२३ | मधु | २५१-२५२ |
| पति | २२७ | मनुष्य | २५२-२५३ |
| पर्जन्य | २३०-२३१ | मन्दिन् ( √मन्द् ) | २५३ |
| पर्वत | २३१-२३२ | मन्यु | २५४ |
| पवित्र | २३२ | मयोभू ( मयस् ) | २५४ |
| पाक | २३२ | मर्य | २५५ |
| पाजस् | २३२ | माया | २५७ |
| पापी | २३३ | मास | २५७ |
| पितरा ( पितृ ) | २३४ | मित्र | २५८ |
| पियारु | २३४ | मूर्धा | २५९ |
| पुमांसम् ( पुंस् ) | २३४-२३५ | मूष | २५९ |
| पुरीष | २३५-२३६ | मृग | २५९ |
| पुरु | २३६ | मेष | २६० |
| पुरोहित | २३७ | यजुष् | २६३ |
| पूषण्वान् ( पूषन् ) | २३७ | यज्ञ | २६३ |
| पृतना | २३८ | यतस्रुच् ( √स्रु ) | २६४ |
| पृतनाज्यम् | २३८ | यम | २६४ |
| पृथिवी | २३९ | यह्व | २६४-२६५ |
| पृश्निगुम् ( पृश्नि ) | २३९-२४० | युवन् | २६६ |
| प्रथम | २४१ | यूथ | २६६ |
| प्रसिति ( सिति ) | २४२ | योक्त्र | २६७ |
| बन्धुता ( √ बध् ) | २४४ | योनि | २६७ |
| बर्हन् | २४४-२४५ | योषा | २६७ |

| शब्द | पृष्ठ | शब्द | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| रजस् | २६७-२६८ | शवस् | २९७ |
| रण | २६८ | शाखा | २९८ |
| रत्न | २६८ | शुक्र | २९९ |
| रथ | २६८-२६९ | शुन्ध्यु | ३०० |
| रश्मि | २७० | शूर | ३००-३०१ |
| रिशादस : (√रिश्, √दस्) | २७१-२७२ | श्रद्धा | ३०१ |
| रुद्र | २७२ | श्रवस् | ३०१ |
| रेक्णस् | २७३ | श्लोक | ३०१ |
| रोचन् | २७३ | सधस्थ ( √स्था ) | ३०५ |
| वज्र | २७५ | समद् | ३०७ |
| वर्धयन्तीम् (वधर् ) | २७५ | समुद्र | ३०८ |
| वन्धुर | २७५-२७६ | सरण्यु ( √सृ ) | ३०८-३०९ |
| वरुण | २७७ | सरस्वती | ३०९ |
| वल | २७८-२७९ | सवितृ | ३१० |
| वव्रि | २७९ | साति | ३१०-३११ |
| वसु | २७९-८० | सिंह | ३११-३१२ |
| वह्नि | २८० | सूनु | ३१५ |
| वाक् | २८०-२८१ | सूनृतावती | ३१५-३१६ |
| वाजसाति ( √सन् ) | २८१ | सूर्य | ३१६-३१७ |
| वाजी | २८१ | सृप्र | ३१७ |
| वाण | २८२ | सोम | ३१७ |
| वात | २८२ | स्तूप | ३१७-३१८ |
| वामभाज ( वाम ) | २८२ | स्वरु | ३१९ |
| वायु | २८२ | स्वान | ३१९ |
| वाघशाना | २८२-२८३ | हंस | ३२० |
| विधवा | २८४ | हरस् | ३२१ |
| विश्व | २८४ | हरि | ३२१ |
| वीरुध् | २८९-२९० | हव | ३२२ |
| व्रज | २९२ | हस्त | ३२३ |
| व्राः ( व्र ) | २९४ | हेति | ३२६ |
| शरत् | २९६-२९७ | होतृ | ३२९ |
| शरु | २९७ | | |


———

परिशिष्ट–३

# उद्धृत आचार्यों की सूची


अतुलचन्द्र बनर्जी ५५
अभयदेव ३२
अरविन्द १३६
आग्रायण ६, ९, १६, ९०, २१९
आफ्रेख्ट २१४
आत्रेय ५
आर० गार्डन वासन ३१७
इरिम्बिठि काण्व २२८
उज्ज्वलदत्त १५, २०, २१, २६, ३३, ५७, ६७, १३३, १४०, १४३, २२९, २३०,
२३१, २३९, २५१, २५५, ३१७, ३२६
उद्गीथ ९, ४९, २१२, २१७, २२३
उवट २१७
एल० एच० ग्रे ११५
ओल्डेनबर्ग ११५, २८८
औदुम्बरायण ६
औपमन्यव ६, ९०
और्णवाभ ६, ६८, १०२, १०३, २१९, ३२६
कात्थक्य ६
कात्यायन १७३, २३१
काशकृत्स्न २१६
कैयट १६
कौत्स ६
क्रौष्टुकि ६
क्षितीशचन्द्र चटर्जी ५७, १०९, २०२, २७२, २७७, ३१६
क्षीरस्वामी ६, २६, ३९, १०६, १२३, २०६, २३०, २५८
खोंदा ३२, ७४, ११८
गालव ६, २९८
गार्ग्य ५, १७

गेल्डनर १४, १९, २७, २८, ३४, ३८, ४२, ४४, ४७, ४८, ४९, ५१, ७३, ७९, ८१, ९९, १०९, ११३, ११८, १३५, १३६, १४५, १५३, १५८, १६१, १६९, १७५, १८४, १९३, १९६, १९८, २०२, २०६, २११, २२०, २२८, २३२, २३३, २३४, २३५, २४०, २४७, २५७, २६८, २७१, २७५, २८३, २८४, २८५, २९३, २९७, ३०४, ३१२, ३१४, ३२६

ग्रासमान १३, १४, १५, २३, ३८, ४५, ४७, ४८, ६२, ६४, ७३, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१ ८३, ८७, ९६, ९९, १००, १०१, १०३, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, ११३, ११४, ११५, ११६, ११८, ११९, १२०, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२, १३३, १३५, १३६, १४२, १४३, १४४, १४५, १४८, १४९, १५३, १५४, १५८, १६०, १६१, १६२, १६४, १६८, १६९, १७०, १७३, १७४, १७५, १७६, १७७, १८३, १८६, १८७, १८८, १८९, १९३, १९४, १९७, १९८, २००, २०१, २०२, २०३, २०७, २०८, २११, २१३, २१४, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२७, २२८, २२९, २३४, २३५, २३७, २३८, २४०, २४३, २४७, २५०, २५१, २५२, २५४, २५५, २५७, २५८, २५९, २६०, २६३, २६५, २६६, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७९, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९३, २९४, २९६, २९७, ३०२, ३०३, ३०४, ३०९, ३१०, ३१२, ३१४, ३२२, ३२३, ३२५, ३२६, ३२७

ग्रिफिथ ४७

चन्नवीर २१६

चर्मशिरा : ६

जयादित्यवामन ५

जिनेन्द्रबुद्धि २१८

ज्ञानेन्द्र सरस्वती १३४, १५०

टर्नर ८०, १६४, २०२

तारापुरवाला ११५

तिलक ( बालगंगाधर ) २१

तैटीकि ६, २९८

त्रिशोक काण्व १४८

दयानन्द ७५

दीर्घतमा १२७

दुर्ग सिंह १५, १६, २१, ३०, ३८, ५२, ६०, १३३, १३६, १४३, १६४, १७३, २१२, २३०, २४७

दुर्गाचार्य ५, ३१, ७६, १४३, २४५, २८९, २९६

देवराज ( यज्वा ) ६, १५, १९, २०, २२, २४, २८, ३१, ४४, ४८, ४९, ५०, ५१,

५४, ५७, ५९, ६१, ६२, ६९, ७२, ७४, ७६, ८१, ८३, ८४, ८५, ९२, ९३, १००, १०५, १०६, १०८, १०९, ११६, ११७, १२३, १२६, १२७, १२८, १३०, १३४, १३५, १३७, १३८, १४१, १४२, १४७, १५०, १५२, १६१, १६३, १६८, १६९, १७१, १७३, १८४, १८८, १८९, १९२, १९४, १९८, २०१, २०६, २०७, २०८, २१०, २११, २१२, २१३, २१५, २१७; २२०, २३३, २३८, २४०, २४७, २५१, २५४, २५५, २५९, २६५, २६८, २७०, २७१, २७२, २७४, २७५, २७६, २७८, २८०, २८१, २८५, २९०, २९४, २९६, ३०१, ३०२, ३०४, ३०६, ३०९, ३१५, ३१९, ३२०, ३२१, ३२५, ३२६, ३२७

द्याद्विवेद १०८

नागेश भट्ट १२३, २३२

नारायण ( दण्डनाथ ) २६, २१०, २३०

पतञ्जलि २, ३, ८, १५, १६, १७३, २०४, २३२, २७०, ३१६

पाणिनि ६, ७, ८, ९, १०२, १२५, १३६, ३०२, ३२४

पॉल थीमे ५५, ६१

पीटर्सबर्ग ३१२

पेद्दसूरि १५, २१, २५, २६, ३१, ४०, ६७, ८५, ११७, १३३, २२९, २३१, २३९, २५१, ३२६

बरो ( टी० ) १४

बृहस्पति आंगिरस ३

ब्लूमफील्ड ६

भट्टभास्कर ( मिश्र ) ९, १६१

भट्टोजिदीक्षित १६, २६, ११४, १३४, २३१, २७७, ३१७, ३१८

भर्तृहरि १

भवविभूति भट्टाचार्य ५१, १४५, १६६, १७१

भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी ७४

भोज १५, १६, २०, ३३, ३८, ४६, ५२, ५३, ६०, ९७, ११२, ११८, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १३०, १३३, १३६, १४०, १४२, १४३, १६४, १७३, २१२, २४७, २४९, २६५, २८६, ३१८, ३२४

मधुच्छन्दस् १३६

महादेव वेदान्ती २६, १३६, १४३, २१२, २६५, ३१८, ३२०

महीधर ५४, २७१

माधव ९, १२३, ३१९

मुकुट ३१६

मेयर हाफर २१४
मैक्डोनेल २१४
मैक्समूलर ३१४
मोनियर विलियम्स १०६
मोहम्मद अली २६६
याज्ञवल्क्य ५८
यास्क २, ५, ६, ८, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २४, २६, २८, २९, ३१, २३, ३७, ३८, ३९, ४०, ४४, ४९, ५०, ५६, ५८, ५९, ६०, ६२, ६४, ६७, ६८, ७२, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९ ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८९, ९० ९४, ९६, ९८, ९९, १०३, १०४, १०५; १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, ११३, ११४, ११५, ११८; १२०, १२३, १२५, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३९, १४१, १४३, १४५, १४६, १४७, १४८, १५०, १५१, १५२, १५३, १५४, १५८, १५९, १६०, १६१, १६३, १६४, १६५, १६८, १७०, १७१, १७२, १७३, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९१, १९३, १९४, १९५, १९६, १९८, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०९, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२२, २२३, २२७, २३० २३१, २३३, २३४, २३५, २३६, २३८, २३९, २४१, २४२, २०४, २४५, २४६, २४७, २४९, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६३, २६५, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७३, २७५, २७६, २७८, २८०, २८१, ९८२, २८३, २८४, २८६, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, ९२३, २९४, २९५, २९६, २९७ २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२४, ३२६
युधिष्ठिर मीमांसक २१०
राजवाडे १५, २२, ६२, ९८, ११५
रॉथ ६२, ९०, ३१४
रामचन्द्र जैन ७०
रामभद्र दीक्षित १३९, १४४, २२२, २२९, २३९, २७१
रावण ५
राहुरकर ( वी० जी० ) ११५
लुई रनू १७१, ३१६
वररुचि ४६, ७६, ८४, १६१, १७७, २३०, २५४, २५९, २९९, ३१८
वसिष्ठ मैत्रावरुणि २१९
वामन २४६

वार्ष्यायणि ६
विश्वबन्धु १०७, १०९
विश्वामित्र १३३, १६८
वेंकटमाधव ४, ५६, १७५, २१५, २३१, २५०, २५१, २५९
वेबर २१४
वेलणकर ( हरिपाद दामोदर ) ५८
शंकराचार्य २५७, २८०, २९३
शतवलाक्ष ६
शाकटायन ६, १५, १०२, ११२, २९८
शाकपूणि ६, १७, १८
शाकल्य ५, ६, ९, ३३, ८०, ११४, ११७, २७२, २९३, २९६
शान्तनवाचार्य ८
शौनक ६, २३०, ३१०
श्वेतवनवासी २०, २१, २६, ३३, ५७, ६०, १३३, १३६, १४०, १४२, १४३, १६७, १७३, १८१, १८६, १८९, १९१, १९५, १९७, २०६, २१२, २२७, २२९, २३०, २३१, २३९, २७८, २८४, २९४, २९८, ३०४, ३२४, ३२७
सत्यस्वरूप ५९
सायण ७, ८, ९, १३, १७, १९, २१, २२, २४, २६, २८, ३१, ३८, ३९, ४१, ४४, ४६, ५१, ५२, ५७, ६१, ६५, ६९, ७२, ७३, ७४, ७७, ८९, ९३, ९४, १००, १०२, १०६, १०९, १११, ११२, ११३, ११४, ११९, १२०, १२३, १२५, १२८, १२९, १३०, १३२, १३६, १३९, १४०, १४७, १५०, १५२, १५७, १५८, १५९, १६३, १६७, १६८, १७५, १७६, १७७, १८१, १९२, १९४, १९५, १९६, १९८, २०१, २०५, २०७, २०८, २०९, २१३, २१४, २१५, २१७, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२७, २२८, २३०, २३४, २३८, २३९, २४०, २५१, २५२, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६३, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७५, २७६, २७८, २७९, २८१, २८२, २८४, २८५, २८८, २८९, २९०, २९१, २९३, २९४, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०४, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२१, ३२३, ३२४, ३२७
सिद्धेश्वर वर्मा ७५, १०९, ११५, १३७, १६०, १८६, १८९; १९५, २१६, २७१
स्कन्द ( ऋग्वेद ) २१, २४, २९, ३६, ४१, ४३, ४४, ४६, ४९, ५७, ६५, ६८, ८०, ८२, ८४, ८८, ८९, ९८, १०१, १०८, १११, ११८, १२४, १२५, १२८, १५४, १५७, १६०, १६३, १६७, १६९, १७०, १७३, १७६, १७७, १८३, १८५, १८६, १८७, १९३, २००, २०२, २०४, २०८, २११, २१२, २१५, २१७, २२०, २२७, २२९, २३६, २४२, २४९,

२५०, २५३, २६६, २६९, २७१, २७६, २७७, २८२, २८३, २८५, २९६, २९७, २९८, ३०२, ३०४, ३०७, ३१०, ३२०, ३२२

स्कन्दमहेश्वर ६, ६९, २७१, ३०७, ३१७

स्कन्द स्वामी ५, ६, ९, ४४, १२३, १३१, १६३, १७०, १८७, २१०, २५७, २५९, २७०, २८०, २८९

स्थौलाष्ठीवि ६, १७, १८, २८२

हरदत्त ९, २३२, ३०४

हेनेस स्कोल्ड २५

---

# परिशिष्ट-४

## सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची


| | |
|---|---|
| अथर्ववेद संहिता ( ४ भागों में ) | विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १९६० |
| अहिर्बुध्न्य संहिता ( १, २ ) | अड्यार लाइब्रेरी, अड्यार, मद्रास, १९१६ |
| आचार्य सायण और माधव | बलदेव उपाध्याय, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, संवत् २००३ |
| आपस्तम्ब श्रौत सूत्र ( धूर्तस्वामि भाष्य सहित ) | सम्पादक—चिन्नस्वामी शास्त्री, ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९५५ |
| ईशावास्योपनिषत् ( शाङ्करभाष्य ) | प्रकाशक—ज्योतिर्मयानन्द, श्रीदक्षिणा· मूर्ति सं० म० वि०, मिश्रपोखरा, वाराणसी |
| ईशादिदशोपनिषदः ( १ भाग ) | मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७८ |
| उणादिकोष | महादेव वेदान्ती, डॉ० के० कुन्जुनिराजा, मद्रास यूनिवर्सिटी, १९५६ |
| उणादिमणि दीपिका | रामभद्र दीक्षित, सम्पादक—डॉ० के० कुन्जुनिराजा, यूनिवर्सिटी ऑफ़ मद्रास, १९७२ |
| उणादिसूत्रवृत्तिः ( उज्ज्वलदत्त ) | सम्पादक—जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता, १८७३ |
| उणादिसूत्रवृत्ति ( सरस्वतीकण्ठाभरण, दण्डनाथ नारायण-वृत्ति तथा दुर्गवृत्ति सहित ) | सम्पादक—टी० आर० चिन्तामणि मद्रास-विश्वविद्यालय, १९३२ |
| उणादिवृत्ति ( नारायण ) | मद्रास-यूनिवर्सिटी |
| उणादिवृत्ति ( श्वेतवनवासी ) | सम्पादक—टी० आर० चिन्तामणि मद्रास-विश्वविद्यालय, १९३३ |
| ऋक् संहिता ( भट्टोजिदीक्षित प्रणीत वेदभाष्यसार समन्विता ) | सम्पादक—प० आर० एन० पटनकर ( भारतीय विद्या, अगस्त-सितम्बर-अक्टूबर, १९४७ ) |
| ऋक्सूक्त वैजयन्ती | एच० डी० वेलणकर, पूना, १९६५ |

| | |
|---|---|
| ऋगर्थसार | सम्पादक—डॉ० आर्येन्द्र शर्मा, के० सीता-रमैया संस्कृत एकेडमी, उस्मानिया यूनिवर्सिटी, हैदराबाद, १९५९ |
| ऋग्वेद ( सातवाँ मण्डल ) | एच० डी० वेलणकर, भारतीय विद्याभवन चौपाटी, बम्बई–७, १९६३ |
| ऋग्वेद प्रातिशाख्य | सम्पादक—डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९७० |
| ऋग्वेद संहिता ( सायणभाष्य सहित ) पाँच भागों में | वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९३३, ३६, ४१, ४६, ५१ |
| ऋग्वेद संहिता ( स्कन्द, वेङ्कटमाधव, उद्गीथ भाष्य ) | सम्पादक—विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, वि० २०२० |
| ऐतरेय आरण्यक ( सायणभाष्य समेत ) | आनन्दाश्रम, १९५९ |
| ऐतरेय ब्राह्मण ( " " " | आनन्दाश्रम, १९३० |
| औणादिक पदार्णव | सम्पादक—टी० आर० चिन्तामणि मद्रास विश्वविद्यालय, १९३९ |
| कपिष्ठल कठ संहिता | रघुवीर, मेहरचन्द लछमनदास, दिल्ली-६, १९६८ |
| काठकोपनिषत् ( शाङ्करभाष्य ) | अध्यात्म प्रकाश कार्यालय, होडेनरसीपुर, मैसूर स्टेट |
| काठक संहिता ( यजुर्वेदीय ) | सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९४३ |
| कादम्बरी | निर्णयसागर, बम्बई, शक १८३८ |
| काशकृत्स्नधातुव्याख्यान ( चन्नवीरकृत टीका सहित ) | संचालक, भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान ३१/१४४ अलवर गेट, अजमेर, विक्रम संवत् २०२२ |
| काशिकावृत्ति ( न्यास, पदमंजरी सहित ) | सम्पादक—द्वारिकादास शास्त्री, पं० कालिका प्रसाद शुक्ल, तारा पब्लि-केशन्स बाराणसी, १९६५, ६६, ६७ |
| कौषीतकी ब्राह्मण | लिण्डर सम्पादित |
| क्षीरतरङ्गिणी ( क्षीरस्वामी ) | सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूरट्रस्ट, अमृतसर, संवत्-२०१४ |
| गीता | गीताप्रेस, गोरखपुर |
| गोपथ ब्राह्मण | प्रकाशक—सावित्री देवी बागड़िया ट्रस्ट, २ नं० चौरङ्गी एप्रोच, कलकत्ता—७०००१३ |

| | |
|---|---|
| छान्दोग्योपनिषद् ( शाङ्करभाष्य ) | आनन्दाश्रम, पूना, १९१३ |
| जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण | लाहौर, १९२१ |
| जैमिनीय ब्राह्मण ( सामवेद ) | प्रो० रघुवीर तथा लोकेशचन्द्र, नागपुर, १९५४ |
| ताण्ड्य महाब्राह्मण ( १, २ सायणभाष्य ) | चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, १९३५, १९३६ |
| तैत्तिरीय आरण्यक ( १, २ ) | आनन्दाश्रम, १९६७, १९६९ |
| तैत्तिरीयोपनिषद् ( शाङ्करभाष्य ) | आनन्दाश्रम, १९२९ |
| तैत्तिरीय ब्राह्मण ( सायणभाष्य ) | आनन्दाश्रम, १९३४ |
| तैत्तिरीय संहिता ( भट्टभास्कर, सायणाचार्यभाष्य समन्वित ) | सम्पादक—एन० एस० सोनटके, टी० एन० धर्माधिकारी, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९७० |
| दशपादी उणादिवृत्ति | सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक, राजकीय संस्कृत कॉलेज, बनारस, १९४३ |
| देवताध्याय-संहितोपनिषद्वंशब्राह्मण | सम्पादक—बे० रामचन्द्र शर्मा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६५ |
| धातुप्रदीप ( मैत्रेय ) | सम्पादक—श्री श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती सविताराय स्मृति संरक्षण ग्रन्थमाला सं० २ वारेन्द्र रिसर्च इंस्टीट्यूट, राजशाही, १९१९ |
| निरुक्तम् ( निघण्टु ) भाग १ | देवराजयज्वा भाष्य, मनसुखराय मोर, ५, क्लाइब रो, कलकत्ता, १९५२ |
| निरुक्तम् ( दुर्गवृत्ति सहित ) २, ३, ४ भाग | मनसुखराय मोर, ५, क्लाइब रो, कलकत्ता, १९५२, १९५३ |
| निरुक्त | राजवाडे, भ० ओ० रि० इं०, १९४० |
| निरुक्त ( फ्रागमेन्ट्स् आफ़ द कमेन्ट्रीज़ आफ़ स्कन्दस्वामिन् एण्ड महेश्वर ऑन दि निरुक्त ) | सम्पादित—लक्ष्मणसरूप, यूनिवर्सिटी आफ़ पंजाब, लाहौर, १९२८ |
| निरुक्त (स्कन्दस्वामी तथा महेश्वर, २-६) | सम्पादित—लक्ष्मणसरूप, यूनिवर्सिटी आफ़ पंजाब, लाहौर, १९३१ |
| निरुक्त | हेनेस स्कोल्ड, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२६ |
| निरुक्त समुच्चय ( वररुचि ) | सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान, अजमेर, संवत् २०२२ |
| नीति मंजरी ( द्याद्विवेद ) | सम्पादक—पं० सीताराम जयराम जोशी, वाराणसी, विक्रम संवत् १९९० |

| | |
|---|---|
| परिभाषेन्दुशेखर ( हैमवती ) | सम्पादक—पं० कालिका प्रसाद शुक्ल सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७५ |
| परिभाषेन्दुशेखर ( सर्वमङ्गला ) | सम्पादक—डॉ० गिरिजेश कुमार दीक्षित सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८७ |
| पाणिनीय धातुपाठ समीक्षा | डॉ० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६५ |
| पातञ्जलमहाभाष्य ( १, २, ३ भाग ) | मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६७ |
| प्रौढमनोरमा ( उत्तरार्ध ) | वाराणसी, १९४७ |
| बृहद्देवता ( १, २ भाग ) | मैक्डोनेल, मोतीलाल बनारसीदास, १९६५ |
| बृहच्छब्देन्दुशेखर ( १, २, ३ भाग ) | सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, वा० सं० वि० वि०, वाराणसी, १९६० |
| ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य | मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६४ |
| भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन | सम्पादक—डॉ० विद्यानिवास मिश्र, राजस्थान—हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७६ |
| भाषा ( ब्लूमफ़ील्ड ) | अनुवादक—डॉ० विश्वनाथ प्रसाद मोतीलाल बनारसीदास, १९६८ |
| महाभारत | गीता प्रेस, गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण, संवत् २०३० |
| माण्डूक्योपनिषद् ( शाङ्करभाष्य ) | आनन्दाश्रम, पूना, १९२८ |
| माधवीया धातुवृत्तिः | प्राच्य भारती प्रकाशन, वाराणसी, १९६४ |
| मैत्रायणी संहिता | सातवलेकर, औध, सतारा, १९४२ |
| वाक्यपदीयम् | सम्पादक—अभयङ्कर, लिमये, पूना यूनिवर्सिटी, १९६५ |
| वायुपुराणम् | आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली ४९, पूना, १९०५ |
| बृहदारण्यकोपनिषद् ( शाङ्करभाष्य ) | जीवानन्द, कलकत्ता, १८७५ |
| वेदचयनम् | डॉ० विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९८० |

| | |
|---|---|
| वैदिक कोश | डॉ० सूर्यकान्त, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय, १९६३ |
| वैदिक देवता : उद्भव और विकास | डॉ० गयाचरण त्रिपाठी, भारतीय विद्या-प्रकाशन, दिल्ली, १९८१ |
| वैदिक वाङ्मय में भाषाचिन्तन | पं० शिवनारायण शास्त्री, इण्डोलॉजिकल-बुक हाउस, वाराणसी – दिल्ली, १९७२ |
| शतपथ ब्राह्मण | खेमराज श्रीकृष्णदास, संवत् १९८३ |
| शांखायन ब्राह्मण | आनन्दाश्रम, १९११ |
| शुक्लयजुर्वेद संहिता ( उवट, महीधरभाष्य ) | मोतीलाल बनारसीदास, १९७१ |
| श्वेताश्वतरोपनिषद् ( शाङ्करभाष्य ) | आनन्दाश्रम, १९२७ |
| षड्विंश ब्राह्मण ( सायणभाष्य ) | डॉ० बे० रामचन्द्र शर्मा, केन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठ, तिरुपति, १९६७ |
| सामवेद संहिता ( पूर्वार्चिक ) | सम्पादक – भवविभूति भट्टाचार्य, मेट्रोपोलिटन प्रिंटिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, कलकत्ता, १९३६ |
| सामवेद ( सायणभाष्य ) | सम्पादक – सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, १८७४ |
| सिद्धान्त कौमुदी ( तत्त्वबोधिनी सहित ) | निर्णयसागर प्रेस, बाम्बे, १९४२ |
| सिद्धान्त कौमुदी ( बालमनोरमा, तत्त्वबोधिनी ) | मोतीलाल, बनारसीदास, वाराणसी, १९६५ |
| सुनीति कुमार चटर्जी स्मृति ग्रन्थ | १९५५ |
| सूर्यसिद्धान्त | वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् २०१२ |
| स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका | श्रीनिवास यज्वा, सम्पादक—के० ए० – शिवराम कृष्णशास्त्री, अण्णमलै विश्व-विद्यालय, १९३६ |
| A Comparative Dictionary of the Indo Aryan Languages | By R. L. Turnar, London ( OUP ) 1966. |
| A Concise Etymological Dictionary, Vol. II. | By Mayrhofer, Heidelberg, 1963. |
| A critical Study of Ṛgveda (1. 137-163 ) | By D. P. Patanjal, Patanjal publications, New Delhi, 1963. |
| A dictionary of Selected Synonyms in the Principal Indo-European Languages | By Carl Darling Buck, The University of Chicago press, Chicago, 1949. |

A Vedic grammer for Students — By A. A. Macdonell, Oxford, 1916.

A Vedic Reader for Students — By Arthur Anthony Macdonell, Oxford University Press, 1951.

Epithets in the Ṛgveda — By Gonda, Mouton & Co. S' Gravenhage, 1959.

Études Surle Vocabulaire Du Ṛgveda — By Louis Renou Institut Français D' Indologie. Pondichèry 1958.

Etymologies in the Brahmanas ( Unpublished thesis, A. M. U. ) — By Mohammed Ali, 1969.

Elymologies of yask — By Siddheshwar Varma Vishveshvarananda Indological Series 5, Hoshiarpur 1953.

Hymns from the Rigveda I — By P. Peterson Bombay Sanskrit Series, 1937.

Hymns from the Rigveda II — By P. Peterson Bombay Sanskrit Series, 1959

Hymns of the Rigveda ( 2 Vols ) — By Griffith, E. J. Lazarus and Co. Benares, 1920-26.

Indices and Appendices to the Nirukta — By Lakshman Sarup, The University of Panjab, Lahore, 1929.

Mitra and Aryaman — By P. Thieme, New Haven 1957.

Ṛgveda Glossar — By Geldner, Stuttgart, 1907

The Sanskrit Language — By T. Burrow, London, 1985

Sanskrit Wörterbuch Von Bohtlingk — Und R. Roth, St. Petersberg, 1852-1875.

Studies in the Brahmanas — By A. C. Banerjea, Motilal Banarasi Das, 1963.

The Arctic Home in the Vedas — Published by M/S Tilak Bros. Poona, 1925.

The Seers of the Ṛgveda — By V. G. Rahurkar. University of Poona, 1964.

Bibliographie Vèdique — Louis Renou, Adrien Maisonneuve Paris 1931

Vedic Bibliography **I, II, III** — By R. N. Dandekar, Karnataka Publishing House, Bombay, 1946. University of Poona 1961, B. O. R. I. Poona, 1973.

Vedic Grammar — By A. A. Macdonell, Indological Book House, varanasi, Delhi-6, 1968.

Vedic Hymns — By Max Müler, Motilal Banarasi Das, Delhi, 1962.

Words in Ṛgveda — By V. K. Rajvade, 1932.

Wörterbuch zum Rigveda — By Hermann Grassmann, Ottoharrassowitz WIESBA DEN 1955.

## पत्र-पत्रिका सूची

गुरुकुल पत्रिका — २१.१-२, १९६८, हरिद्वार

धर्मयुग — ९ फरवरी, १९७५, बम्बई

भारतीय विद्या — अगस्त-सितम्बर-अक्टूबर १९४७, बम्बई

मञ्जूषा — सितम्बर १९५०, नवम्बर, दिसम्बर १९५९, जनवरी १९६०, कलकत्ता।

विमर्श — १ (१), १९७२ E ३७-४४, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली।

शब्द पत्रिका — २१ (४) १९७०, १-२६

Bulletin of the Philological Society — (7, 1966) Calcutta

Indo Iranian Journal — (4, 64-65)

Journal of the Oriental Institute — Baroda (19 (4) June 70)

Journal of Royal Asiatic Society, — London ( 27 )

Language—25

Vishveshvarananda Indological Journal — 3 (2) September 65, Hoshiarpur.

## परिशिष्ट—५

# संशोधन एवं शुद्धि-पत्र

| पृष्ठ संख्या | पंक्ति/पादटिप्पणी | अशुद्ध शब्द | शुद्ध शब्द |
|---|---|---|---|
| ४ | पा० टि० ५ | इत्युगर्थपरास्त्रयः | इत्युगर्थपरास्त्रयः |
| ५ | २२ | भरुजा | भरूजा |
| १३ | ५ | IE angh | IE angh |
| १३ | ७ | उ० सु० | उ० सु० |
| १३ | ११ | औ | औ० |
| १४ | ६ | सम्बन्ध | सम्बद्ध |
| १५ | १८ | पेरूसूरि | पेरुसूरि |
| २० | १४ | आसुराः | असुराः |
| २२ | १४ | नञ | नञ् |
| २६ | १० | गर्भ० | गर्भं |
| २७ | ६ | तित्स्वररित | तित्स्वरित |
| २७ | १६ | अदाभ्य | अदाभ्यः |
| २६ | ११ | ञ्नत्यादि० | ञ्नित्यादि० |
| २६ | पा० टि० ७ | ददृवांसौ | ददृवांसो |
| ३० | १ | मनुवसो | मतुवसो |
| ३५ | २२ | स्तुति | स्तुतिं |
| ३६ | २३ | सहिता | संहिता |
| ४० | २२ | ह्रभाव | ह्रभाव |
| ४० | पा० टि० १ | रुपस्य | रूपस्य |
| ४५ | ७ | प्रकाशानार्थ | प्रकाशनार्थ |
| ४७ | ५ | स्ताः सुपूर्वस्य, पा० ३-१-२३ | स्त्यः प्रपूर्वस्य, पा० ६-१-२३ |
| ४७ | ६ | योग विभागकर | योगविभाग कर |
| ४८ | १ | कारि० | काशिका |
| ४६ | पा० टि० १ | द्र० ऋग्वेद में मति | द्र० बी० आर० शर्मा का लेख "ऋग्वेद में मति" विमर्श १(१)··· |
| ४६ | ६ | oma | omə |

| पृष्ठ | पंक्ति/पादटिप्पणी | अशुद्ध शब्द | शुद्ध शब्द |
|---|---|---|---|
| ५१ | पा० टि० ४ | सा० मा० पृ० १०७ | मा० धा० तु० १०७ |
| ५४ | ४ | अलमतिम् | अलं मतिम् |
| ६५ | २४ | अवृक् | अवृक |
| ६६ | पा० टि० २ | द्र० जु० ऋग्वेद···· | द्र० HIERCNE, Rolfzu. Rveda 7-88-6c und 5 b ( अवृक ) IIJ 8 (3), 1965, 165-70 |
| ६८ | १२ | स्वर्थिक | स्वार्थिक |
| ६८ | १५ | झषस्तधोर्धोऽधः | झषस्तथोर्धोऽधः |
| ७४ | १६ | आन्तोदात्त | अन्तोदात्त |
| ७५ | पा० टि० ४ | ए. आई, ओ० सी० १६६ | ए० आई० ओ० सी० १९६६ |
| ७७ | पा० टि० ५ | पा० मा० | पा० म० |
| ८० | १४ | आन्तोदात्त | अन्तोदात्त |
| ८४ | १३ | √श्रथ | √श्रप् |
| ८४ | पा० टि० १० | ८० | १० |
| ८५ | पा० टि० ५ | सनोतीति वा, आ— | —सनोतीति वा, शुक शोचतेः पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा तथा हि वाक्य-संयोग आ — |
| ८८ | १ | chsc. | chse. |
| ९१ | ११ | छान्दस् | छान्दस |
| ९६ | पा० टि० १० | वै० वा० भा० | वै० वा० भा० चि० |
| ९७ | ९ | समावये | समवाये |
| ९७ | ११ | ओचथ्य | औचथ्य |
| १०१ | ११ | ईड० | ईड् |
| १०५ | पा० टि० ३ | मोगा | भोगाः |
| १०६ | २ | ऊधस् + ङि, | ऊधस् + ङि० |
| १०६ | ३ | + सुनन् | + असुन् |
| ११० | १६ | I direct-s 62 | I direct |
| ११० | पा० टि० ६ | प्रासाधनकर्मा | प्रसाधनकर्मा |
| १११ | ५ | वनिप | वनिप् |
| ११२ | १७ | IE are | ar |
| ११४ | १५ | अभु | ऋभु |

| पृष्ठ | पंक्ति/पादटिप्पणी | अशुद्ध शब्द | शुद्ध शब्द |
|---|---|---|---|
| ११५ | ११ | doieg | doing |
| ११५ | २० | स० व० | ष० ब० |
| ११५ | पा० टि० ५ | ईत्यौपमन्यवः | इत्यौपमन्यवः |
| ११५ | पा० टि० ६ | लैंगवेज-२५, ३७५-७८ | लैंगवेज-२५, ३७५-७६ |
| ११८ | ४ | जस | जस् |
| १२४ | ११ | अशिपुषि० | अशिप्रुषि० |
| १२५ | ८ | कनीन् | कनीन |
| १२५ | पा० टि० ७ | क्येयं | क्वेयं |
| १२८ | १ | to Payhed to | To Pay heed to |
| १२८ | १७ | उरकानि | उदकानि |
| १२८ | पा० टि० ७ | सा० ऋ० ११२.१४ | सा० ऋ० १.११२.१४ |
| १२९ | पा० टि० ८ | नाम् | ० नाम् |
| १३२ | २० | कुङ्गः | कुरङ्गः |
| १३३ | ३ | / अङ्गग | अङ्ग |
| १३३ | ४ | अनृष्यानन्तये | अनृष्यानन्तर्ये |
| १३५ | ७ | O Prus. | O Pers. |
| १३६ | २ | मधुच्छन्दस | मधुच्छन्दस् |
| १४० | पा० टि० ८ | उ० भ० दी० | उ० म० दी० |
| १४१ | ३ | स्थार्थिक | स्वार्थिक |
| १४२ | ५ | तै० | तै० सं० |
| १४२ | पा० टि० ५ | देव० निव | देव० नि० |
| १४३ | १२ | ब्रह्मण | ब्राह्मण |
| १४७ | ७ | अद्युदात्त | आद्युदात्त |
| १४८ | पा० टि० ६ | त्रि० शोकाय | त्रिशोकाय |
| १४९ | ४ | विभक्त | विभक्ति |
| १४९ | पा० टि० ८ | उ० भ० दी० | उ० म० दी० |
| १५० | पा० टि० ४ | गौरीः | गौरी |
| १५० | पा० टि० ११ | पकाराद्दिवश्च | पराकाद् दिवश्च |
| १५२ | १५ | Grish | Irish |
| १५४ | पा० टि० ७ | ग्रस्यन्तेऽस्म्न् रसाः | ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः |
| १५८ | ४ | यारक ने | यास्क |
| १५८ | १३ | < चन | √ चन् |
| १५८ | १७ | स्फायिताञ्चि० | स्फायितञ्चि० |

| पृष्ठ | पंक्ति/पाद टिप्पणी | अशुद्ध शब्द | शुद्ध शब्द |
|---|---|---|---|
| १५६ | १० | सुषमादि | सुषामादि |
| १६३ | ६ | सुषमादित्वात् | सुषामादिस्वात् |
| १६७ | १२ | तत | तत् |
| १६८ | ११ | आगम् | आगम |
| १६८ | पा० टि० १ | सवनाऽवगच्छय: | सवनाऽवगच्छथ: |
| १७० | ५ | जागरुक | जागरूक |
| १७१ | १० | Cr | Gr. |
| १७२ | १ | जार् | जार |
| १७३ | ६ | जिह्वा: | जिह्वा |
| १७३ | पा० टि० ११ | पा० मा० | पा० म० |
| १७४ | ८ | जगुर्वणी | जुगुर्वणी |
| १७४ | ९ | छन्दसि वन् सन्० | छन्दसि वन सन० |
| १८१ | पा० टि० ७ | ह्येसषा | ह्येषा |
| १८३ | २० | वृद्धयर्वक | वृद्धयर्थक |
| १८४ | ७ | ङीप | ङीप् |
| १८४ | ८ | Gr. taüs | Gr. ta üs |
| १८८ | पा० टि० ६ | लक्ष्मण सरुप | लक्ष्मण सरूप |
| १८६ | पा० टि० २ | तृन्वात् | तृन्द्यात् |
| १९४ | पा० टि० ७ | धिनोति—दधि: | धिनोति दधि |
| २०१ | १७ | मृगय्खादयश्च | मृगय्वादयश्च |
| २०१ | २० | दुट् | दूर |
| २०२ | पा० टि० ३ | "दरो ० | "पुरो ० |
| २०२ | पा० टि० ३ | दूलभ: | दूळभ: |
| २०७ | १५ | उपक्षपयतीत्थर्थ: | उपक्षपयतीत्यर्थ: |
| २०७ | १७ | द्राधिष्ठ | द्राघिष्ठ |
| २०७ | १७ | द्राध् | द्राघ् |
| २०६ | ६ | संज्ञायांमृतृ० | संज्ञायां भृतृ० |
| २०६ | पा० टि० ८ | निरु० ६.५ | निरु० ५.६ |
| २०६ | पा० टि० ८ | ० दाय: | ० दाप: |
| २१२ | १५ | तु० को० ४.१०७ | उ० को० ४.१०७ |
| २१२ | पा० टि० ११ | केतुभ् | केतुम् |
| २१५ | पा० टि० १ | षङ ब्रा० | ष० ब्रा० |
| २१७ | १५ | न वैतीति | न वेत्तीति |
| २१६ | २० | मैत्रा० वरुणि | मैत्रावरुणि |

| पृष्ठ | पंक्ति/पाद टिप्पणी | अशुद्ध शब्द | शुद्ध शब्द |
|---|---|---|---|
| २२० | ३ | उत्पत्ति | व्युत्पत्ति |
| २२० | ११ | निर्ऋतिभ् | निर्ऋतिम् |
| २२२ | ६ | ( निरु०.११ ) | ( नि० ३.११ ) |
| २२२ | २४ | रामचंद्र | रामभद्र |
| २२८ | १३ | शिरिम्बाठ | इरिम्बिठि |
| २३१ | पा० टि० ११ | बा० पा० | वा० पा० |
| २३३ | १ | उ० सु० | उ० सू० |
| २३४ | १६ | गेल्डार ✓ पी | ग्रासमान ✓ पी० |
| २३५ | पा० टि० ५ | तस्माद् रूपाणा | तस्माद्रूपिणो |
| २३८ | १६ | अघ्न्यादित्वात् | अघ्न्यादित्वात् |
| २४१ | पा० टि० १ | सा० २०.३४.१ | सा० अ० २०.३४.१ |
| २४५ | पा० टि० ८ | घृताः प्राणाः | धृताः प्राणाः |
| २४६ | १ | G . bodam | G. bodam |
| २४८ | १६ | भातृ जीकम् | भाऋजीकम् |
| २४६ | १ | भातृ — | भाऋ — |
| २५४ | १६ | Māyā Māyā | Maya Māyā |
| २५५ | पा० टि० २ | महद् द्रन्तीति वा | महद् द्रवन्तीति वा |
| २५६ | २० | प्रागतीति | प्राणितीति |
| २५६ | पा० टि० १० | शिवसिति | श्वसिति |
| २५८ | १२ | heeead | head |
| २६० | १३ | चापनीयं | चायनीयं |
| २६३ | १० | Yaznu | Yazna |
| २६३ | पा० टि० ५ | मनुर्हवा | मनुर्ह वा |
| २६५ | पा० टि० २ | नामधेयप | नामधेयम् |
| २६६ | १५ | ajaint | a joint |
| २६६ | पा० टि० ५ | यूशा इव | यूथा इव |
| २६६ | पा० टि० ७ | तस्माथू ो नाम | तस्माद्यूपो नाम |
| २६७ | ८ | ग्रामादीत्वात् | ग्रामादित्वात् |
| २७० | १६ | Aug. Sax. | Ang. Sax. |
| २७१ | ५ | रिशादशः | रिशादसः |
| २७७ | १ | अद्युदात्त | आद्युदात्त |
| २७७ | पा० टि० ४ | क्षीर०, ६ | क्षीर० ६.१५ |
| २७७ | पा० टि० ५ | आर० ए० एम्० | जे० आर० ए० एम् |
| २७८ | पा० टि० ३ | जितेन्द्रबुद्धि | जिनेन्द्रबुद्धि |

| पृष्ठ | पंक्ति/पाद टिप्पणी | अशुद्ध शब्द | शुद्ध शब्द |
|---|---|---|---|
| २८१ | १४ | षोऽन्तकर्नणि | षोऽन्तकर्मणि |
| २८८ | १४ | सेन | सेन् |
| २८८ | १४ | अथवा था | अथवा था से |
| २८९ | १४ | व्युत्पति | व्युत्पत्ति |
| २८९ | १८ | व्युपत्ति | व्युत्पत्ति |
| २८९ | पा० टि० ५ | निरू० | निरु० |
| २९० | १३ | ऋ० म० | ऋ० सं० |
| २९२ | ११ | विस्वानराः | विश्वानराः |
| २९२ | २३ | रुपे | रूपे |
| २९६ | १० | आन्तोदात्त | अन्तोदात्त |
| २९६ | पा० टि० ४ | निरु० ५.२.४ | निरु० ५.२४ |
| २९७ | २ | व्युपत्ति | व्युत्पत्ति |
| ३०० | ११ | स्फायितञ्जि० | स्फायितञ्चि० |
| ३०० | पा० टि० १० | एडि०यास्क | एटि० यास्क |
| ३०२ | ५ | व्युपत्ति | व्युत्पत्ति |
| ३०४ | ४ | श्वतनवासी | श्वेतवनवासी |
| ३१२ | १७ | वैयाकरणों का | वैयाकरणों को |
| ३१३ | पा० टि० ८ | दिहीहि | दिदीहि |
| ३१४ | १ | अकृच्छार्थ | अकृच्छ्रार्थ |
| ३१८ | पा० टि० ७ | सि० को० | सि० कौ० |
| ३१८ | पा० टि० ७ | तशा | तथा |
| ३२१ | ११ | Graem | Green |
| ३२१ | २० | चित्तः | चितः |
| ३२७ | १ | हुया माश्रु मसि० | हुयामाश्रुभसि० |
| ३२७ | १६ | व्युत्पति | व्युत्पत्ति |

——

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

श्रुतम् मे गोपाय